

# देवगढ़ की जैन कला

एक सांस्कृतिक अध्ययन



डॉ. भागचन्द्र जैन 'भागेन्दु'

## देवगढ़ की जैन कला

‘देवगढ़ की जैन कला’ ख्यातिप्राप्त पुरातत्त्वविद् प्रोफेसर कृष्णदत्त वाजपेयी के निर्देशन में डॉ. भागचन्द्र जैन ‘भागेन्दु’ द्वारा लिखा गया शोध-प्रबन्ध है। इसमें देवगढ़ में उपलब्ध सम्पूर्ण जैन सामग्री का अखिल भारतीय कला, स्थापत्य और संस्कृति के व्यापक परिप्रेक्ष्य में न केवल अध्ययन हुआ है, प्रत्युत पुरातात्त्विक और साहित्यिक साक्ष्यों एवं अनुश्रुतियों के सन्दर्भ में समीक्षात्मक पद्धति से परीक्षण भी किया गया है।

देवगढ़ के सम्बन्ध में भारतीय एवं पाश्चात्य अनेक अन्वेषकों तथा पुरातत्त्वविदों ने बहुत कुछ लिखा है किन्तु डॉ. ‘भागेन्दु’ ने जिन मौलिक मान्यताओं को प्रतिष्ठापित किया है, वे सर्वथा नवीन हैं। विस्तृत ऐतिहासिक पृष्ठभूमि, सांस्कृतिक महत्त्व, वास्तु एवं मूर्ति-शिल्प के सांगोपांग विवेचन से संवलित यह ग्रन्थ अध्येताओं, अनुसन्धित्सुओं तथा कलाप्रेमियों के लिए अत्यन्त उपयोगी है। कहना न होगा कि जैनधर्म, दर्शन एवं कला के ज्ञान के साथ ही यह तत्कालीन संस्कृति का प्रामाणिक दस्तावेज़ भी है।

ग्रन्थ के अन्त में सन्निविष्ट परिशिष्टों, 123 चित्रों तथा विशिष्ट जैन अभिलेखों के मूलपाठ से इसकी उपयोगिता और भी बढ़ गयी है।

प्रस्तुत है कृति का यह नया संस्करण नये रूपाकार में।

# देवगढ़ की जैन कला

एक सांस्कृतिक अध्ययन





# देवगढ़ की जैन कला

## एक सांस्कृतिक अध्ययन

डॉ. भागचन्द्र जैन 'भागेन्दु'



भारतीय ज्ञानपीठ

**ISBN 81 - 261 - 518 - 5**

मूर्तिदेवी ग्रन्थमाला : हिन्दी ग्रन्थांक 29

प्रकाशक :

भारतीय ज्ञानपीठ

18, इन्स्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड

नयी दिल्ली-110 003

मुद्रक :

नागरी प्रिंटर्स

दिल्ली-110 032

दूसरा संस्करण : 2000

मूल्य : 200 रुपये

© भारतीय ज्ञानपीठ

**DEOGARH KI JAIN KALA : EK SANSKRITIK ADHYAYAN**

(A cultural study of the Jaina art of Deogarh)

Dr. Bhag Chandra Jain 'Bhagendu'

Published by

Bharatiya Jnanpith

18, Institutional Area, Lodi Road

New Delhi-110 003

Second Edition : 2000

Price : Rs. 200

## भूमिका

सन् 1954 ई. में मैं प्रथम बार देवगढ़ गया था और तभी लगा था कि यहाँ की जैन कला और स्थापत्य भी इतना विपुल, विविध और कलात्मक है कि इसका अध्ययन भारतीय कला और सांस्कृतिक इतिहास के लिए अनिवार्य है। सन् 1958 में सागर विश्वविद्यालय के संस्कृत विभागीय अध्ययन दल (एजुकेशनल टूर) में अपने गुरुजनों के साथ पुनः देवगढ़ गया तो मेरी यह धारणा और अधिक पुष्ट हुई। तब इसके अध्ययन की बात चली। इस दिशा में आशिक प्रयत्न तो हुए किन्तु विशेषतः जैन कला और स्थापत्य अछूता ही रहा। इसीलिए सागर विश्वविद्यालय में प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग के अध्यक्ष प्रो. कृष्णदत्त वाजपेयी के निर्देशन में यह 'देवगढ़ की जैन कला का सांस्कृतिक अध्ययन' सन् 1962 में आरम्भ किया।

यातायात के साधनों से रहित, डाकुओं से आतंकित और वन्य पशुओं से आक्रान्त देवगढ़ तथा समीपवर्ती अन्य कला-केन्द्रों के सर्वेक्षण और अध्ययन के लिए बार-बार वहाँ जाने और महीनों रहने आदि में जो अनुभूतियाँ हुईं उनसे कई बार तो लगा कि यह अध्ययन बीच में ही बन्द करना पड़ेगा। एक-दो बार तो ऐसे संकट की स्थिति से गुजरना पड़ा कि आज उसकी कल्पना करके भी रोम खड़े हो जाते हैं।

तुलनात्मक और समीक्षात्मक अध्ययन के लिए मैंने दूधई, चाँदपुर, जहाजपुर, सेरोन, अहार, पपौरा, क्षेत्रपाल (ललितपुर), बजरंगगढ़ (गुना), बड़गाँव, बिलहरी, बहुरीबन्द, तिगवाँ, रूपनाथ, भेड़ाघाट, सारनाथ, खजुराहो, साँची, उदयगिरि, वेशनगर, विदिशा, आदि प्राचीन कला-केन्द्रों तथा दिल्ली, लखनऊ, वाराणसी, सारनाथ, मथुरा, विदिशा, साँची, देवगढ़, सागर, रामवन एवं खजुराहो के पुरातत्त्व संग्रहालयों का भी अवलोकन-अनुशीलन किया।

प्रस्तुत प्रबन्ध में मैंने देवगढ़ में उपलब्ध सम्पूर्ण जैन सामग्री का भारतीय कला, स्थापत्य और संस्कृति के व्यापक परिप्रेक्ष्य में अध्ययन किया है तथा पुरातात्विक और साहित्यिक साक्ष्यों एवं अनुश्रुतियों के सन्दर्भ में समीक्षात्मक पद्धति से परीक्षण भी किया है।

विषय-वस्तु के अनुसार प्रबन्ध नौ अध्यायों एवं पाँच परिशिष्टों में विभक्त किया गया है। विषय-सूची ऐसी बनायी गयी है जिससे समूची सामग्री का बोध हो जाए।

देवगढ़ की जैन कला का यह अध्ययन भारतीय इतिहास, पुरातत्त्व, स्थापत्य, शिल्पकला एवं संस्कृति के अध्ययन के क्षेत्र में एक सर्वथा अछूता प्रयत्न तो है ही, इससे कला, स्थापत्य और संस्कृति विषयक अनेक नवीन मान्यताओं पर नया प्रकाश भी पड़ता है। जैनधर्म में देवपूजा का मूलतः अभाव, मूर्तिपूजा की पूर्णरूपेण प्रतीकात्मकता, मन्दिर की कल्पना में मेरु का आदर्श, भट्टारक संस्था का उद्भव और विकास, भट्टारकों की भौतिकवादान्मुख अध्यात्मवादी रीति-नीति, पञ्चावती की अशास्त्रीय मूर्तियों की पहचान आदि कतिपय ऐसे तथ्य हैं जिन पर इस प्रबन्ध में कदाचित् सर्वप्रथम मौलिक मान्यताएँ प्रस्तुत की गयी हैं। अपने इस अध्ययन में मैंने पूर्व विद्वानों द्वारा प्रस्तुत विवरणों और मान्यताओं को तथ्यों के आधार पर जाँचा-परखा है और कहीं-कहीं उन्हें त्रुटिपूर्ण भी पाया है। पुरातात्विक, साहित्यिक तथा अनुश्रुतियों के आधार पर मैंने कतिपय नवीन स्थापनाएँ भी की हैं।

देवगढ़ वास्तव में भारत का एक प्रमुख सांस्कृतिक केन्द्र है। यह सिद्धक्षेत्र न होकर भी सम्मेल शिखर, ऊर्जयन्त (गिरनार) और शत्रुंजय (पालीताना) जैसे उत्कृष्ट मन्दिर-नगरों की कोटि में आता है। यहाँ लगभग सोलह सौ वर्ष से कला और संस्कृति का विकास होता रहा है। प्रस्तुत प्रबन्ध इस महत्त्वपूर्ण कला-केन्द्र के सर्वांगीण अध्ययन का एक विनम्र प्रयत्न है।

प्रस्तुत शोध-प्रबन्ध के निर्देशन के लिए सागर विश्वविद्यालय में प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति तथा पुरातत्त्व विभाग के अध्यक्ष और टैगोर प्रोफेसर श्रद्धेय पं. कृष्णदत्त वाजपेयी का हृदय से आभारी हूँ, जिनके सुयोग्य मार्गदर्शन, सतत प्रेरणा और सुलभ-सहायता के अभाव में इस शोधकार्य का पूर्ण होना सम्भव नहीं था। उन्होंने और उनके परिवार ने भी जिस आत्मीयता के साथ मेरे शोधकार्य में अमूल्य सहयोग प्रदान किया है, उसके लिए मैं उनका अनुग्रह और आभार मानता हूँ। यह मेरा परम सौभाग्य है कि उन-जैसे ख्यातिप्राप्त पुराविद् और इतिहासज्ञ के निर्देशन में मुझे शोधकार्य का अवसर प्राप्त हुआ।

सम्मान्य भाई पं. गोपीलाल अमर एवं डॉ. गोकुलचन्द्र जैन से मुझे निरन्तर बहुमूल्य सहयोग और सुझाव प्राप्त हुए हैं, जिसके लिए मैं उनका हृदय से कृतज्ञ हूँ।

देवगढ़-जैसे समृद्ध और महत्त्वपूर्ण कला-केन्द्र का सर्वांगीण अध्ययन सामान्य रूप से किसी एक व्यक्ति के वश का कार्य नहीं था, वह तो अनेक विद्वानों, महानुभावों और तीर्थसेवियों के सहयोग से ही सम्भव हुआ है। इस सन्दर्भ में सर्वश्री स्व. परमानन्द बरया, स्व. डॉ. हीरालाल जैन, डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन, स्व. डॉ.

कामताप्रसाद जैन, डॉ. एच. डी. साँकलिया, डॉ. उमाकान्त प्रेमानन्द शाह, श्री मधुसूदन टाकी, डॉ. रामजी उपाध्याय, प्रो. श्रीधर मिश्र, डॉ. वीरेन्द्रकुमार जैन, प्रो. जयकुमार जलज, पं. परमानन्द शास्त्री, पं. परमेश्वरीदास न्यायतीर्थ, श्री नीरज जैन, प्रो. एच. सी. पाराशर, मा. राजधर जैन, प्रो. ब्रह्मदत्त तिवारी, प्रो. प्रेमचन्द्र जैन, श्रीमती सरोज सान्धेलीय, श्री विशनचन्द्र ओवरसियर, मास्टर हरिश्चन्द्र जैन आदि सज्जनों का सहयोग भी स्मरणीय है। मैं इन सभी का आभारी हूँ।

देवगढ़ मैनेजिंग दिगम्बर जैन कमेटी के तत्कालीन मन्त्री श्री शिखरचन्द्र सिंघई ने अनेक प्रकार की सुविधाएँ और सूचनाएँ प्रदान कीं तथा विदिशा के फोटोग्राफर श्री हरिश्चन्द्र जैन ने मेरी आवश्यकता के अनुसार अनेक बार देवगढ़ पहुँचकर चित्र तैयार किये। सागर विश्वविद्यालय के पुरातत्त्व विभाग के आर्टिस्ट और फोटोग्राफरों का सहयोग भी उल्लेखनीय है।

इटारसी महाविद्यालय के मेरे प्रिय छात्र श्री सदनलाल यादव का पाण्डुलिपि तैयार करने में सहयोग और टंकित प्रतियों के संशोधन में श्री सन्मतकुमार जैन (शोधछात्र, हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी) आदि का सहयोग भी सधन्यवाद स्वीकार करता हूँ।

प्रस्तुत प्रबन्ध की सामग्री संकलित करने में मैंने सागर विश्वविद्यालय, गणेश जैन महाविद्यालय, सागर, गौराबाई जैन मन्दिर, सागर, पार्श्वनाथ जैन मन्दिर, इटारसी, जैन मन्दिर, रीठी, महात्मा गाँधी स्मारक महाविद्यालय, इटारसी, शासकीय महाविद्यालय, सीहोर, नेशनल लायब्रेरी, कलकत्ता तथा इण्डिया ऑफिस लायब्रेरी, लन्दन आदि के पुस्तकालयों का प्रत्यक्ष-परोक्ष उपयोग किया है। अतः उक्त सभी पुस्तकालयों के अध्यक्षों के प्रति विनम्र भाव व्यक्त करता हूँ।

महात्मा गाँधी स्मारक महाविद्यालय इटारसी के भूतपूर्व प्राचार्यों, श्री शिवविहारी त्रिवेदी एवं डॉ. रामखिलावन तिवारी ने इस कठिन कार्य में मुझे जो सहयोग और बहुविध सुविधाएँ प्रदान कीं, उनका विस्मरण करना कृतघ्नता होगी। इसी सन्दर्भ में शासकीय स्नातकोत्तर महाविद्यालय, सीहोर के प्राचार्य डॉ. के.एल. श्रीवास्तव (तत्कालीन अधिष्ठाता, कला संकाय, विक्रम विश्वविद्यालय) की सहज आत्मीयता भी उल्लेखनीय है।

जून 1969 ई. में सागर (म. प्र.) में आयोजित 'स्नातक-शिविर' में शोध-प्रबन्ध के प्रस्तुतीकरण के लिए एक विशेष दृष्टि प्राप्त हुई, जिससे प्रबन्ध को इस रूप में प्रस्तुत करने में बड़ा बल मिला।

सागर विश्वविद्यालय द्वारा 1970 ई. में पी-एच. डी. उपाधि के लिए स्वीकृत इस प्रबन्ध के प्रकाशनार्थ भेजे जा चुकने के बाद देवगढ़ की जिन-प्रतिमाओं पर जर्मन विद्वान् डॉ. क्लॉज़ ब्रून की एक सचित्र पुस्तक प्रकाशित हुई है। इसकी उपयोगिता अपनी है। इससे प्रस्तुत प्रबन्ध की तुलना नहीं की जा सकती, तथापि उसे सूक्ष्मता

से देखा गया और जहाँ कहीं कोई विशेष तथ्य हमारे मत से भिन्न किन्तु उल्लेखनीय लगा, उसका यथोचित समावेश इस प्रबन्ध में कर लिया गया है। यह संकेत अप्रासंगिक न होगा कि डॉ. ब्रून ने देवगढ़ की जिन-प्रतिमाओं, सभी नहीं, का अध्ययन एक ऐसी शैली में किया है जो बहुत प्रचलित नहीं है, साथ ही अनेक स्थानों पर उनके निष्कर्ष यथाशास्त्र और निर्विवाद भी नहीं बन सके हैं। पर इन सबका सन्दर्भ हमने अपने प्रबन्ध में न देना ही ठीक समझा। इतना अवश्य है कि इस प्रबन्ध के लिखे जाते समय तक डॉ. ब्रून के जो लेख देवगढ़ आदि पर प्रकाशित हुए उनका यथास्थान सन्दर्भ दिया गया है।

भारतीय ज्ञानपीठ-जैसी प्रतिष्ठित संस्था से इस ग्रन्थ का प्रकाशन हो रहा है। इस संस्था के संस्थापक मान्य साहू शान्तिप्रसाद जैन और अध्यक्ष श्रीमती रमा जैन की दृष्टि इस ओर गयी और उन्होंने इसका प्रकाशन स्वीकार किया। वास्तव में साहू-दम्पती ने अन्य क्षेत्रों की भाँति पुरातत्त्व के क्षेत्र में भी स्थायी महत्त्व के कार्य किये हैं। अनेक स्थानों पर संग्रहालयों का निर्माण, प्राचीन मन्दिरों का विधिवत् जीर्णोद्धार और उनके लिए सम्पर्क-मार्ग आदि का निर्माण-जैसे कार्यों के अतिरिक्त, इस उपेक्षित विषय पर शोध-कार्य को प्रोत्साहन और उसके प्रकाशन में इस दम्पती का सक्रिय सहयोग ऐसा है जिसका उल्लेख भारतीय संस्कृति के इतिहास में अवश्य होगा। भारतीय ज्ञानपीठ के मन्त्री श्री लक्ष्मीचन्द्रजी जैन की तत्परता और प्रेरणा से ही यह ग्रन्थ इतने सुन्दर रूप में प्रकाशित हो रहा है। इस सबके लिए मान्य साहू-दम्पती और श्री लक्ष्मीचन्द्रजी जैन के प्रति हार्दिक धन्यवाद व्यक्त करता हूँ।

यदि विद्वानों की दृष्टि में इस प्रबन्ध की सामग्री भारतीय कला, स्थापत्य और संस्कृति के अध्ययन के क्षेत्र में उपयोगी और महत्त्वपूर्ण समझी गयी तो मैं अपने प्रयत्नों को सार्थक समझूँगा।

महावीर जयन्ती  
24 अप्रैल, 1975

भागचन्द्र जैन



# विषयानुक्रम

## 1. पृष्ठभूमि

21-37

### 1. विषय-प्रवेश

21

(अ) कला का सांस्कृतिक महत्त्व। (ब) देवगढ़ : ऐतिहासिक पृष्ठभूमि।

(स) देवगढ़ की कला के अध्ययन के प्रयत्न :

1. शासकीय प्रयत्न : 1. अलेक्जेंडर कनिंघम, 2. डॉ. ए. फुहरर, 3. इंपीरियल गजेटियर, 4. श्री पूर्णचन्द्र मुखर्जी, 5. झाँसी डिस्ट्रिक्ट गजेटियर, 6. सर जॉन मार्शल, 7. श्री एच. हारग्रीव्ज, 8. भारतीय पुरातत्त्व विभाग तथा रायबहादुर दयाराम साहनी, 9. डॉ. डी.बी. स्पून्र।

2. सामाजिक प्रयत्न : 1. श्री विश्वम्भरदास गार्गीय, 2. ब्र. शीतलप्रसाद, 3. श्री परमानन्द बरया, 4. भा.दि. जैन तीर्थरक्षा समिति, 5. श्री देवगढ़ मैनेजिंग दि. जैन कमेटी, 6. श्री नाथूराम सिंघई, 7. पं. जुगलकिशोर मुख्तार, 8. पं. के. भुजबली शास्त्री, 9. अन्य प्रयत्न।

3. आधुनिक शोधकार्य : 1. पं. माधवस्वरूप वत्स, 2. श्रीमती माधुरी देसाई, 3. डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन, 4. डॉ. उमाकान्त प्रेमानन्द शाह, 5. डॉ. कामताप्रसाद जैन, 6. डॉ. हीरालाल जैन, 7. डॉ. क्लाज़ ब्रून, 8. पं. परमानन्द शास्त्री, 9. प्रो. कृष्णदत्त वाजपेयी।

### 2. स्थिति

27

### 3. नाम

28

1. लुअच्छगिरि, 2. कीर्तिगिरि, 3. देवगढ़-सम्भावनाएँ, किंवदन्तियाँ, शोधकर्ता का मत।

### 4. इतिहास

32

1. प्रागितिहास काल से मौर्ययुग तक, 2. शुंग-सातवाहन काल, 3. गुप्तयुग, 4. वर्धन साम्राज्य से आयुध वंश तक, 5. गुर्जर-प्रतिहार शासन, 6. चन्देल शासन, 7. मुगल, मराठा और अँगरेजी शासन, 8. वर्तमान रूप।

नौ

## 2. स्मारक

40-92

### 1. प्रास्ताविक

40

(अ) मन्दिर संख्या एक से इकतीस तक, (ब) लघु मन्दिर, (स) स्तम्भ, (द) प्रकीर्ण सामग्री।

### 2. द्वार

(अ) कुंज द्वार, (ब) हाथी दरवाजा।

### 3. जैनेतर स्मारक

(अ) घाटियाँ : 1. नाहरघाटी, 2. राजघाटी, (ब) सिद्ध की गुफा, (स) वराह मन्दिर, (द) दशावतार मन्दिर, (इ) सती स्तम्भ।

### 4. उपसंहार

92

## 3. स्थापत्य

93-121

### 1. मन्दिर-वास्तु का उद्भव

93

(अ) सुमेरु : मन्दिर-स्थापत्य का आधार स्रोत, (ब) कैलास : शिखर संरचना का प्रेरक, (स) मुद्राओं पर अंकित मन्दिर-आकृतियाँ, (द) वेदिकाओं पर अंकित मन्दिर-आकृतियाँ, (इ) प्राचीन मन्दिर-स्थापत्य की दो विशेषताएँ।

### 2. मन्दिर-स्थापत्य का विकास : ऐतिहासिक दृष्टि

95

(अ) मौर्य-शुंग काल, (ब) शक-सातवाहन काल, (स) कुषाण काल, (द) गुप्त काल, (इ) गुप्तोत्तर काल और उसकी चार शैलियाँ, 1. गुर्जर-प्रतिहार शैली, 2. कलचुरि शैली, 3. चन्देल शैली, 4. कच्छपघात शैली।

### 3. देवगढ़ की मन्दिर-वास्तु : स्वरूप और प्रमुख विशेषताएँ

100

1. भूमि तथा उपकरण, 2. निर्माता और निर्माणकाल, 3. शैलीगत विशेषताएँ और अलंकरण।

### 4. देवगढ़ के जैन मन्दिर

54

1. मन्दिर संख्या 12: महामण्डप, गर्भगृह, प्रदक्षिणापथ, अन्तराल, अर्धमण्डप, प्रदक्षिणापथ का प्रवेश-द्वार, गर्भगृह का प्रवेश-द्वार, 2. मन्दिर संख्या 30, 3. मन्दिर संख्या 15, 4. मन्दिर संख्या 31, 5. मन्दिर संख्या 4, 6. मन्दिर संख्या 18, 7. मन्दिर संख्या 28, 8. मन्दिर संख्या 5, 9. मन्दिर संख्या 11, 10. शेष मन्दिर।

### 5. मानस्तम्भ

119

दस

## 4. मूर्तिकला (तीर्थकर तथा देव-देवियाँ)

120-166

### 1. प्रास्ताविक

122

मूर्ति-निर्माण-केन्द्र, उपादान, कलाकार, विभिन्न कला-शैलियों का प्रभाव, स्वतन्त्र मूर्तिकला, परिकर और अलंकरण, च्युतियाँ, वर्गीकरण।

### 2. देवगढ़ की तीर्थकर-मूर्तिकला का सामान्य अनुशीलन

127

(अ) गुप्तकाल, (ब) गुप्तोत्तरकाल।

### 3. तीर्थकर मूर्तियाँ

131

प्राचीनतम मूर्ति, एक अद्वितीय पद्मासन तीर्थकर, विशालतम मूर्ति, मं.सं. 6 के मूलनायक, मं.सं. 15 के मूलनायक, अभिनन्दननाथ, ऋषभनाथ, मं. सं. 2 में कायोत्सर्ग तीर्थकर, पद्मासन तीर्थकर, मं.सं. 28 के मूलनायक नमिनाथ, आदिनाथ, आदिनाथ, वृषभनाथ, चतुर्विंशति पट्ट।

### 4. कतिपय विशिष्ट तीर्थकर मूर्तियाँ

140

(अ) जटाओं की दृष्टि से उल्लेखनीय : 1. मं.सं. 13 के कायोत्सर्ग तीर्थकर,

2. नेमिनाथ, 3. अन्य उल्लेखनीय मूर्तियाँ।

140

(ब) फणावलि तथा सर्पकुण्डली की दृष्टि से उल्लेखनीय मूर्तियाँ :

141

1. पार्श्वनाथ, 2. सुमतिनाथ, 3. पार्श्वनाथ : पादपीठ के ऊपर सर्प।

142

(स) द्विमूर्तिकाएँ, त्रिमूर्तिकाएँ और सर्वतोभद्रिकाएँ : 1. मं.सं. 13 की द्विमूर्तिकाएँ, 2. द्विमूर्तिकाएँ और त्रिमूर्तिकाएँ, 3. सर्वतोभद्रिकाएँ।

(द) चतुर्विंशति पट्ट

143

(इ) 176-मूर्ति अंकित स्तम्भ

144

(ई) सहस्रकूट

144

### 5. देव-देवियाँ

144

सामान्य लक्षण, महत्त्व का आरोपण, अंकन में शास्त्र-विधि की उपेक्षा, वर्गीकरण।

(अ) यक्ष (शासन देव) गोमुख, पार्श्व, धरणेन्द्र।

150

(ब) यक्षी (शासनदेवी) चक्रेश्वरी, चक्रेश्वरी की अनुपम मूर्ति, चक्रेश्वरी की सुन्दर मूर्ति, मं.सं. 19 की दशमुखी चक्रेश्वरी, मानस्तम्भ पर चक्रेश्वरी, अम्बिका, मं.सं. 12 की अम्बिका मूर्तियाँ, अम्बिका यक्षी की अन्य मूर्तियाँ, पद्मावती, धरणेन्द्र और पद्मावती की मूर्तियाँ, मं.सं. 24 में जड़ी मूर्तियाँ : (धरणेन्द्र-पद्मावती), पद्मावती की स्वतन्त्र मूर्ति, चौबीस यक्षियों की मूर्तियाँ, इन यक्षी-मूर्तियों का महत्त्व।

152

ग्यारह

(स) विद्या-देवियों : गौरी, महाकाली, महामानसी ।	159
(द) प्रतीकात्मक देव-देवियों : (अ) सरस्वती की मूर्तियाँ : 1. मं.सं. एक के पीछे की सरस्वती मूर्ति, 2. मं.सं.12 के गर्भगृह के प्रवेश-द्वार पर सरस्वती, 3. मं.सं. 19 में स्थित सरस्वती मूर्ति, 4. सरस्वती की खड़ी मूर्ति, 5. अन्य सरस्वती मूर्तियाँ । (ब) लक्ष्मी, देवगढ़ में उपलब्ध लक्ष्मी मूर्तियाँ ।	161
(स) नवग्रह । (द) गंगा-यमुना और नाम-नागी । (इ) अन्य देव-देवियों : 1. इन्द्र-इन्द्राणी, 2. उद्घोषक, 3. परिचारक-परिचारिकाएँ, 4. कीर्तिमुख, 5. कीचक, 6. द्वारपाल, 7. क्षेत्रपाल ।	

## 5. मूर्तिकला (अन्य मूर्तियाँ) 169-212

6. विद्याधरों की मूर्तियाँ 169

7. साधु-साध्वियाँ 170

(अ) आचार्य, (ब) उपाध्याय, (स) साधु: 1. जैन धर्मशाला में प्रदर्शित बाहुबली, 2. मं.सं. 11 में स्थित बाहुबली, 3. भरत-बाहुबली, 4. भरत ।

8. आचार्य, उपाध्याय और साधुओं के मूर्त्यंकन 175

(अ) आचार्य मूर्तियाँ 175

1. मं.सं. 1 के पीछे जड़ी आचार्य मूर्ति (छत्रधारी श्रावक सहित), 2. मं. सं. एक के पीछे जड़ी आचार्य मूर्ति, 3. अशोक वृक्ष के नीचे आचार्य का अंकन, 4. आचार्य की विरल मूर्ति (क्षत्रधारिणी श्राविका सहित), 5. कुलपति के रूप में आचार्य, 6. पाठशालाओं के अन्य अंकन ।

(ब) उपाध्याय मूर्तियाँ 178

1. पद्यासनस्थ उपाध्याय मूर्ति, 2. अभिलिखित उपाध्याय मूर्ति, 3. तीर्थकर के परिकर में उपाध्याय मूर्तियाँ, 4. तोरण पर अध्यापनरत उपाध्याय, 5. अन्य उपाध्याय मूर्तियाँ ।

(स) साधु-मूर्तियाँ 180

1. साधु द्वारा आहार ग्रहण, 2. सम्बोधन, 3. शूकर को सम्बोधन, 4. साधु विहार, 5. निश्चल योगिराज, 6. संवाहन कराते हुए मुनि ।

(द) ऐलक 181

(इ) साध्वी मूर्तियाँ : 1. प्रतिक्रमण कराती हुई आर्यिका, 2. प्रवचन करती हुई आर्यिका, 3. आर्यिका-संघ । 182

9. श्रावक-श्राविकाएँ 183

1. तीर्थकर की माता, 2. तीर्थकर-माता का एक अन्य मूर्त्यंकन, 3. भक्त श्रावक-श्राविका, 4. विनयी श्रावक, 5. उदासीन श्रावक, 6. अन्य अंकन ।

वारह

<b>10. युग्म और मण्डलियाँ</b>	<b>187</b>
सामान्य अनुशीलन	187
(अ) युग्म : 1. प्रेमासक्त युग्म, 2. सम्भोगरत युग्म, 3. शुचिस्मिता ।	188
(व) मण्डलियाँ : 1. नृत्य-मण्डली, 2. वाद्य-मण्डली, 3. संगीत-मण्डली ।	190
<b>11. प्रतीक</b>	<b>191</b>
प्रतीक की स्वीकृति, प्रतीक-विकास, विभिन्न रूप, मूर्तिकल्पना, मूर्तिपूजा का जन्म, मूर्तियों के पात्र, जैनधर्म में प्रतीक ।	
समवशरण, गन्धकटी, श्रीमण्डप, सहस्रकूट, मानस्तम्भ, चैत्यवृक्ष, अष्टप्रतिहार्य, नवनिधि, धर्मचक्र, चक्र, श्रीवत्स, स्वस्तिक, सोलह मंगलस्वप्न, चरणपादुकाएँ, नवग्रह, शार्दूल, मकरमुख, कीर्तिमुख, कीचक, गंगा-यमुना, नाग-नागी, तीर्थकरों के लाठन और देव-देवियों के वाहन ।	
<b>12. पशु-पक्षी तथा अन्य जीव-जन्तु</b>	<b>205</b>
(अ) पशु : सिंह, हाथी, वृषभ, अश्व, शार्दूल, हरिण, बन्दर, कुत्ता ।	206
(ब) पक्षी : गरुड़, मयूर, हंस, चक्रवाक ।	208
(स) अन्य जीव-जन्तु : सर्प, गोह, मकर, कच्छप, मत्स्य, छिपकली, वृश्चिक ।	208
<b>13. आसन और मुद्राएँ</b>	<b>209</b>
(अ) आसन : पद्मासन, कायोत्सर्गासन, अर्ध-पद्मासन, उत्थित-पद्मासन, ललितासन, राजलीलासन, अर्ध-पर्यकासन ।	
(ब) मुद्राएँ : वितर्क, धर्मोपदेश, नासाग्र, अंजलि, त्रिभंग, कटिहस्त, आलिंगन, सम्भोग, वरद, अभय ।	
<b>14. प्रकृति-चित्रण</b>	<b>210</b>
विन्ध्य पर्वतमाला, वेत्रवती नदी, समुद्र, जलाशय, मत्स्य, गजराज, सिंह, वृषभ, सूर्य, चन्द्रमा, अशोकवृक्ष, आम्र-वृक्ष, कल्पवृक्ष, लताएँ और पुष्प, आम्रगुच्छक, पत्रावलियाँ, कमलाकृतियाँ, कमलदल, सर्प, वृश्चिक, छिपकलियाँ, सिंह और गाय तथा उनके बच्चे ।	
<b>15. उपसंहार</b>	<b>212</b>
<b>6. धार्मिक जीवन</b>	<b>213-233</b>
<b>1. धार्मिक जीवन के प्रतिनिधि</b>	<b>214</b>
साधु, समुदाय, महारक ।	

2. भट्टारक प्रथा का आविर्भाव	215
मूलसंघ और उसपर कालदोष का प्रभाव, भट्टारक, भट्टारक स्थिति ।	
3. साधु-धर्म	221
आवास-प्रबन्ध, उद्बोधन, चर्या, निर्माण और निर्माण-प्रेरणा, शास्त्र-सृजन का अभाव ।	
4. श्रावक-धर्म	225
परिष्कृत अभिरुचि, नवधा-भक्ति, द्रव्य का सदुपयोग, नैतिक पक्ष, ग्रन्थों का पठन-पाठन ।	
5. पौराणिक कथाओं का प्रचार	227
ऋषभनाथ द्वारा आहार ग्रहण, भरत-बाहुबली, चक्रेश्वरी, वात्सल्य की प्रतिमूर्ति अम्बिका, उपसर्ग-निवारक धरणेन्द्र-पद्मावती, शूकर को सम्बोधन ।	
6. धार्मिक शिक्षा	229
7. धार्मिक अनुष्ठान	230
मन्दिर प्रतिष्ठाएँ और पंच कल्याणक महोत्सव, गजरथ, मेला, चातुर्मास (वर्षावास), व्रत, दीक्षा, पूजन-विधान, सतत पाठ आदि ।	
8. धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष	232
सूक्ष्म धर्मबोध, समन्वय ।	
9. निष्कर्ष	232
<b>7. सामाजिक जीवन</b>	<b>234-252</b>
1. अध्ययन के स्रोत	234
2. समाज के विभिन्न वर्ग	234
1. उच्च और निम्नवर्ग, 2. चतुर्विध संघ : साधु, साध्वियाँ, श्रावक-श्राविकाएँ ।	
3. वंश और उपजातियाँ : कठनेरा, अग्रोतक, गर्ग, अष्टशाख, गोलापूर्व ।	
3. धर्मपरायणता	239
4. शिक्षा : शिक्षक, शिक्षार्थी, विषय, उपकरण, शिक्षालय, गुरु-शिष्य-सम्बन्ध ।	241
5. लिपि और भाषा	243
6. वेशभूषा और प्रसाधन	243
1. साधु-संस्था	244
(अ) दिगम्बर साधु : पीठी, कमण्डलु ।	245

चौदह



(ब) भट्टारक : अधोवस्त्र, उत्तरीय, माता ।	245
(स) ऐलक : कोपीन, पीछी, कमण्डलु ।	246
(ड) शुल्लक : कोपीन, खण्ड-वस्त्र (उत्तरीय), पीछी, कमण्डलु ।	246
(इ) आर्यिका : साड़ी, उपरिवस्त्र, पीछी, कमण्डलु ।	246
2. गृहस्थ-संस्था	244
(अ) पुरुष : धोती, अँगरखी, तुर्की टोपी, टोपा, फुलपैण्ट, झोली, जनेऊ, केशसज्जा, दाढ़ी, मुकुट, तिलक, कुण्डल, कर्णावतंस, कर्णिका, विभिन्न प्रकार के गलहार, केयूर, कटिसूत्र, पायल ।	246
(ब) स्त्रीवर्ग : साड़ी, अवगुण्ठन का अभाव, स्तनपट्टिका, उत्तरीय, टोपियाँ, तिलक, मुकुट, केशसज्जा, आभूषण, चोरला, ललाटिका, मुकुट, कुण्डल, कर्णपूर, हार, अर्धहार, स्तनहार, मोहनमाला, कण्ठश्री (डुसी), कटिसूत्र, मेखला, केयूर, कंकण, बधमा के चूरा, बोंहटा, हथफूल, आरसी, अँगूठियाँ, चूड़ियाँ, पाजेब, पायल, पाँवपोश, घुँघरू आदि ।	247
7. आमोद-प्रमोद	250
अनुष्ठान और समारोह, संगीत और नृत्य, वाद्ययन्त्र, अन्य साधन ।	
8. आर्थिक जीवन	251
9. निष्कर्ष	252

## 8. अभिलेख 253-268

1. प्रारम्भिक, 2. अभिलेखों के स्थान और उद्देश्य, 3. अभिलेखों के अवसर, 4. देवगढ़ के अभिलेखों का अध्ययन ।

(अ) बाह्य पक्ष	254
(1) स्थान, उद्देश्य और अवसर ।	254
(2) वर्गीकरण : 1. दानसूचक, 2. स्तुतिपरक, 3. स्मारक, 4. अन्य ।	254
(3) लिपि, भाषा और तिथि ।	257
(ब) आन्तरिक पक्ष	257
(1) भौगोलिक महत्त्व : चन्देरीगढ़, पालीगढ़ नगर, लुअच्छगिरि, गोपालगढ़, वेत्रवती, करनाटकी, श्रीमालवनागत्रात ।	257
(2) इतिहास की सामग्री : भोजदेव, विष्णुराम पचिन्द, राजपाल, उदयपालदेव, सुलतान महमूद, उदयसिंह (उदेतसिंह.) देवीसिंह (दुर्गासिंह) ।	259
(3) समाज का चित्रण : गोत्र तथा उपजातियाँ, सम्मानित पद, उदार श्रावक-श्राविकाएँ ।	261

- (4) धार्मिक जीवन : संघ, गण, गच्छ, साधु-साध्वियों द्वारा धार्मिक कृत्य, तीर्थकरों की उपासना, सिद्धात्माओं के उल्लेख, स्मारक और देव-देवियाँ। 262
- (5) शिक्षा और साहित्य। 266
- (6) आर्थिक स्थिति। 267

## 9. उपसंहार

269-273

1. प्रस्तुत शोध-कार्य की उपलब्धियाँ, 2. कतिपय शोचनीय तथ्य,
3. सुझाव।

## परिशिष्ट

274-314

1. अभिलेखों की सूची और संक्षिप्त विवरण
2. अभिलेख-पाठ
3. सहायक ग्रन्थ सूची
4. चित्रावलि-परिचय
5. चित्रावलि।

## संक्षिप्तियाँ

अध्यात्म प.	: अध्यात्म पदावली
अने.	: अनेकान्त (पत्रिका)
आ.	: आकृति
आ., आरा	: (आरा से प्रकाशित) प्रशस्ति संग्रह
ए.एस.आड.	: आर्क्योलोजिकल सर्वे ऑव इण्डिया
ए.एस.आड.आर.	: आर्क्योलोजिकल सर्वे ऑव इण्डिया रिपोर्ट
एपी.इ.	: एपीग्राफिया इण्डिका
ए.पी.आर.	: एनुअल प्रोग्रेस रिपोर्ट
एड.टि.ई.	: एन एडवांसड हिस्ट्री ऑव इण्डिया
हिस्ट्री.फा.आ.इ.सी कि.	: ए हिस्ट्री ऑव फाइन आर्ट इन इण्डिया ऐण्ड सीलोन किरण
गाइड टु लखनऊ म्यूजियम	: ए शांट गाइड बुक टु दी आर्क्योलोजिकल सेक्शन ऑव दी प्रारिंसिपल म्यूजियम, लखनऊ
जे.ए.एस.वी.	: जर्नल ऑव एशियाटिक सोसाइटी ऑव बंगाल
जे.दा.सा.सिं.	: जैन दार्शनिक साहित्य का सिंहावलोकन
जे.दि.	: जैन ग्रन्थ प्रशस्ति संग्रह, द्वितीय भाग (वीर सेवा मन्दिर)
जे.प्र.	: जैन ग्रन्थ प्रशस्ति संग्रह, प्रथम भाग (वीर सेवा मन्दिर)
जे.ध.	: जैनधर्म
जे.शि.सं.प्र.	: जैन शिलालेख संग्रह, प्र. भाग (माणिकचन्द्र दि. जैन ग्रन्थमाला)
जे.शि.सं.दि.	: जैन शिलालेख संग्रह, दि. भाग (मा. दि. जैन ग्रन्थमाला)
जे.शि.सं.तृ.	: जैन शिलालेख संग्रह, तृ. भाग (मा. दि. जैन ग्रन्थमाला)
जे.शि.सं.च.	: जैन शिलालेख संग्रह, चतुर्थ भाग (मा. दि. जैन ग्रन्थमाला)
जे. न्या.	: जैन न्याय
जे.सा.ड.	: जैन साहित्य ओर इतिहास
जे.सा.ड.वि.प्र.	: जैन साहित्य ओर इतिहास पर विशद प्रकाश
टि.सं.	: टिप्पणी संख्या

त.सू.	: तत्त्वार्थसूत्र
प.	: पद्य
पा.टि.	: पाद-टिप्पणी
प्र., प्रका.	: प्रकाशक
प्रक.	: प्रकरण
प्रा.भा.इ.	: प्राचीन भारत का इतिहास
प्र., प्रस्ता.	: प्रस्तावना
परि.	: परिशिष्ट
प्रा.सा.इ.	: प्राकृत साहित्य का इतिहास
फ.	: फलक
वी.	: वीकानेर जैन लेख संग्रह (अगरखन्द्र और भंवरनाल नाहटा)
वृ. जै. शब्दा.	: वृहद् जैन शब्दार्णव
भ.	: भट्टारक सम्प्रदाय (विद्याधर जोहरापुरकर)
भू.	: भूमिका
भा.द.	: भारतीय दर्शन
भा.वृ.इ.	: भारत का वृहत् इतिहास
भा.सं.जै.यो.	: भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान
मं.	: मन्दिर
म.पु.	: महापुराण
मा.ए.इ.	: मानुमण्टल ऐण्टीक्वटीज़ ऐण्ड इन्सक्रिप्शन्स इन द नार्थ वेस्टर्न प्रायिंसेज़ ऐण्ड अवध
व.	: वर्ष
रा.	: राजस्थान के जैन शास्त्रमण्डारों की ग्रन्थसूची, चतुर्थ भाग
रा.जै.सं.	: राजस्थान के जैन सन्त : व्यक्तिव एवं कृतित्व
ले.	: लेखक
श्लो.	: श्लोक
शो.	: शोधांक (जैन-सन्देश)
शा.	: शास्त्री
पट्खं.	: पट्टखण्डागम
स.सा.	: समयसार
स.	: सर्ग
सम्पा.	: सम्पादक
सं.सा.इ.	: संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त इतिहास
हि.	: हिस्ट्री ऑव जैन मोनाकिज्म फ्रॉम इन्सक्रिप्शन्स ऐण्ड लिटरैचर
हि.क.	: हिस्ट्री ऑव कर्नाज

देवि श्री-श्रुत-देवते भगवति त्वत्-पाद-पङ्केरुह-  
द्वन्द्वे यामि शिलीमुखत्वमपरं भक्त्या मया प्रार्थ्यते,  
मातश्च-चेतसि तिष्ठ मे जिन-मुखोद्भूते सदा त्राहि मां  
दृग्-दानेन मयि प्रसीद भवतीं सम्पूजयामोधुना ।  
देव-शास्त्र-गुरु-पूजा, श्लोक ३





# पृष्ठभूमि

## विषय-प्रवेश

### (अ) कला का सांस्कृतिक महत्त्व

भारत अध्यात्म-प्रधान देश है। यहाँ दर्शन, भाषा, साहित्य, ललित कलाएँ, लोक-जीवन सभी आध्यात्मिकता से अनुप्राणित हैं। भारत में सभ्यता के आदिकाल से धार्मिक भावनाएँ किसी-न-किसी रूप में विद्यमान रही हैं। धार्मिक भावनाओं को मूर्त रूप प्रदान करने के लिए मन्दिरों और मूर्तियों का निर्माण हुआ। ये मन्दिर केवल पूजा का स्थान और मूर्तियाँ केवल पूजनीय वस्तु ही नहीं हैं, ये ऐतिहासिक अन्वेषण में सहयोगी भी हैं। कदाचित् इसी कारण मन्दिरों और मूर्तियों को 'संस्कृति के अवशेष' के रूप में स्वीकार किया जाता है।

परम्परा और इतिवृत्त इस तथ्य के प्रबल पोषक हैं कि जैन धर्म भारत के विविध भागों में बहुत प्राचीन काल से प्रचलित रहा है, अनेक कला-केन्द्र आज भी इसके प्रमाण हैं। ऐसे स्थानों पर प्राचीन संस्कृति और कला के प्रत्यक्ष दर्शन होते हैं। उत्तर प्रदेश के ललितपुर जिले में स्थित देवगढ़ एक ऐसा ही कला-केन्द्र है।

### (ब) देवगढ़ : ऐतिहासिक पृष्ठभूमि

देवगढ़ की प्रसिद्धि महत्त्वपूर्ण राजनीतिक केन्द्र के रूप में न रही हो, परन्तु उसका इतिहास प्राचीन है। वहाँ प्रागितिहास काल के कुछ औजार मिले हैं।<sup>1</sup> वर्तमान गिरि-दुर्ग के दक्षिण में, राजघाटी<sup>2</sup> में एक आदिम-युगीन गुफा<sup>3</sup> है, जिसमें कुछ चित्र

1. देखिए: इण्डियन आर्क्योलॉजी, ए. रिव्यू, 1959-60 ई., पृ. 46 और आगे।
2. गिरिदुर्ग से दक्षिण में एक लगे सौपानमार्ग द्वारा बेलवा के जल तक पहुँचते समय 'राजघाटी' मिलती है। इसमें पहाड़ी के किनारे पर की शिलाओं पर अनेक गुफाएँ व देवकुलिकाएँ हैं।
3. एक विशालाकार शिला में काटकर बनायी गयी इस प्राचीन गुफा का अन्तर्भाग 5 फुट 10 इंच लम्बा और 3 फुट 3 इंच चौड़ा है। विस्तृत विवरण के लिए देखिए अगली टिप्पणी।

हैं। इन चित्रों को तत्कालीन मानव ने अवकाश के क्षणों में बनाया होगा। मौर्यकाल में भी वहाँ कुछ निर्माण कार्य हुआ प्रतीत होता है जो गुप्तकाल में आगे बढ़ा और देवगढ़ तभी से मूर्ति-निर्माण का केन्द्र बन गया। यहाँ इस काल के 'और इसके बाद' के भी कुछ शिखालेख प्राप्त हुए हैं। उत्तर गुप्तकाल में भी यहाँ यह क्रम चलता रहा। चन्देल-युग में इसका राजनीतिक महत्त्व बढ़ा और कदाचित् उसी समय यहाँ गिरि-दुर्ग का निर्माण हुआ। तब से मुगलकाल के पूर्व तक यहाँ राजनीतिक गन्धर्व तो रही ही, मूर्तियों और मन्दिरों का निर्माण भी निरन्तर होता रहा। 13वीं शती में यह स्थान मुसलमानों के अधिकार में आ गया। इस काल में वहाँ का राजनीतिक महत्त्व कम हो गया, किन्तु धार्मिक महत्त्व पूर्ववत् बना रहा। सन् 1811 ई. में यह स्थान महाराजा सिन्धिया के अधिकार में आ गया था, परन्तु कुछ समय बाद उन्होंने इसे चन्देरी के बदले में अँगरेज सरकार को दे दिया।

देवगढ़ में प्रचलित रहे धर्म-सहिष्णु वातावरण में ब्राह्मण तथा जैन संस्कृतियों साथ-साथ पल्लवित-पुष्पित होती रहीं। मन्दिरों की भित्तियों, द्वारों आदि पर उल्कीर्ण मूर्तियों, अभिलेखों आदि से युग-युगीन संस्कृति की अच्छी झोंकी मिलती है। खजुराहो, कोणार्क और भुवनेश्वर आदि की भाँति यहाँ का वातावरण वासना-प्रधान कभी नहीं रहा। तीर्थकरों तथा अन्य देवी-देवताओं की मूर्तियों की अधिकता उसके

1. गुफा के अन्तर्भाग में सिन्दूरी और काले रंग से कुछ चित्र बने हैं। बायीं ओर एक चलने हुए पक्षी पर अंकुशधारी महावत चित्रित है। उसके ऊपर एक 3 इंच - 5 इंच का चतुर्भुज स्तम्भवादाय रेखाओं के साथ चित्रित है, जिसके मध्य में दो रेखाकृतियों और हैं। उसकी बायीं ओर 3 इंच - 2.5 इंच का एक उद्ग-मेढ्रा चतुर्भुज है, जिसके बीच की रेखाएँ समझ में नहीं आती। उसकी भी बाजू में किसी पक्षी, कदाचित् मुर्गा, का रेखाचित्र है। उससे लगा हुआ एक 6 इंच - 3 इंच का नहरियादार रेखाओं से बना चतुर्भुज भी है। सामने की दीवार पर कुछ अस्पष्ट चित्र हैं, जिनके ऊपर गहरे सिन्दूरी रंग में 1 फुट - 1 फुट 4 इंच की एक चक्र चतुर्कोण रेखाकृति है। लगभग ऐसी ही तीन रेखाकृतियाँ दायीं दीवार पर भी हैं।
2. देवगढ़ में इस काल के अनेक मन्दिर और मूर्तियाँ उपलब्ध हैं।
3. (अ) नाहरगायी में उल्कीर्ण अभिलेख, दे.--ए. कनिंघम : ए. एस. आइ., जिल्द 10, पृ. 102। (ब) मं. सं. 12 के महामण्डप के एक अठपहलु स्तम्भ पर गुप्तकालीन विभिन्न उल्कीर्ण अभिलेख, दे.--सर जॉन मार्शल : ए. एस. आइ., ए. आर., 1914-15 ई.; खण्ड एक, पृ. 27। (स) डॉ. डी. वी. स्नूर : ए. एस. आइ., ए. आर., 1917-18 ई.; खण्ड एक, (कलकत्ता, 1920 ई.), पृ. 32।
4. दशावतार मन्दिर के अद्यतन में प्राप्त 9 फुट 1 इंच ऊँच तथा 1 फुट 8.5 इंच चतुर्कोण स्तम्भ (संख्या एक) पर उल्कीर्ण अभिलेख। (क) वाई. आर. गुप्तो : ए. प्रो. रि. डि. व. मा., ना. स. (लाहौर, 1915 ई.), पृ. 51। (ख) दयाराम साहनी : ए. प्रो. रि. डि. व. मा., ना. स. (लाहौर, 1968 ई.), पृ. 12। (ग) पं. माधवस्वरूप बत्स : मेम्बार्थर ऑफ दी ए. एस. आइ. (संख्या 70), (दिल्ली, 1952 ई.), पृ. 3 तथा 28।

22 :: देवगढ़ की जैन कला : एक सांस्कृतिक अध्ययन

धर्म-ग्रधान होने के ज्वलन्त प्रमाण हैं। शिकार आदि के दृश्यों या उल्लेखों के अभाव से यहाँ के अहिंसामय वातावरण का अनुमान होता है।

संक्षेप में, देवगढ़ राजनीतिक की अपेक्षा धार्मिक और सांस्कृतिक महत्त्व के लिए अधिक उल्लेखनीय है। इस दृष्टि से उसे साँची और भरहुत आदि की कोटि में रखा जाए तो उचित ही होगा।

### (स) देवगढ़ की कला के अध्ययन के प्रयत्न

यह विचित्र लगता है कि इस महत्त्वपूर्ण कलाकेन्द्र का उल्लेख साहित्य में नगण्य रहा और अन्य स्रोत भी इस विषय में मौन हैं। देवगढ़ में उपलब्ध अभिलेख ही इसके विषय में कुछ प्रकाश डालते हैं। फिर भी विद्वानों का ध्यान इधर इसकी कला और संस्कृति के अध्ययन की ओर गया। देवगढ़ के अध्ययन के लिए विभिन्न स्तरों पर जो प्रयत्न हुए, उनका संक्षिप्त परिचय यहाँ दिया जा रहा है।

#### (1) शासकीय प्रयत्न

1. अलेक्जेंडर कनिंघम—देवगढ़ के पुरातात्विक महत्त्व पर सर्वप्रथम श्री अलेक्जेंडर कनिंघम का ध्यान गया। उन्होंने भारत सरकार की ओर से 1874-75 और 1876-77 ई. में यहाँ का सर्वेक्षण किया। इसकी रिपोर्ट में<sup>1</sup> उन्होंने दशावतार, शान्तिनाथ तथा कुछ अन्य मन्दिरों का संक्षिप्त विवरण प्रकाशित कराया। डाकुओं, जंगली जानवरों, जंगल की सघनता के बावजूद उन्होंने यहाँ का जो प्रामाणिक अध्ययन प्रस्तुत किया, वह आज भी उपयोगी है।

2. डॉ. ए. फुहरर—उनके पश्चात् डॉ. ए. फुहरर ने 1891 में यहाँ का विवरण<sup>2</sup> प्रकाशित कराया। इन्होंने श्री कनिंघम के कार्य को आगे बढ़ाया।

3. श्री पूर्णचन्द्र मुखर्जी—1899 ई. में श्री पूर्णचन्द्र मुखर्जी ने अपनी एक पुस्तक<sup>3</sup> में देवगढ़ के स्मारकों का अच्छा परिचय दिया।

4-5. इम्पीरियल तथा डिस्ट्रिक्ट गजेटियर—सन् 1908 में 'इम्पीरियल गजेटियर'<sup>4</sup> ऑफ इण्डिया और 1909 ई. में 'झाँसी डिस्ट्रिक्ट गजेटियर' प्रकाशित हुए, जिनमें देवगढ़ का संक्षिप्त विवरण है।

1. दे.-ए. एस. आड. आर., ईर्स इन बुन्देलाखण्ड एण्ड मालवा इन 1874-75 खण्ड 1876-77 ई., जिल्द 10 (कलकत्ता, 1880 ई.), पृ. 100-110।
2. दे.-ए. एस. आड. आर., दी मानुमेण्टल गण्डिकावरीज़ एण्ड इंसक्रिप्शंस इन दी नार्थ वेस्टर्न प्राविंसेज़ एण्ड अयध (इलाहाबाद, 1891 ई.), पृ. 119-121।
3. रिपोर्ट आन दी एण्डिकावरीज़ इन दी डिस्ट्रिक्ट ऑफ ललितपुर, जिल्द पहली।
4. दे.—जिल्द प्यारहवीं, पृ. 245।

6. सर जॉन मार्शल—भारत के पुरातात्विक सर्वेक्षण की 1914-15 की वार्षिक रिपोर्ट के प्रथम भाग में सर जॉन मार्शल ने इसका कुछ पंक्तियों में उल्लेख किया।<sup>1</sup> सन् 1915 की 'वार्षिक प्रगति की रिपोर्ट' में वहाँ के साल शिलालेखों का विवरण प्रकाशित हुआ।<sup>2</sup>

7. श्री एच. हराग्रीब्ज—1916 ई. की 'वार्षिक प्रगति की रिपोर्ट' में भी श्री एच. हराग्रीब्ज ने 13 शिलालेखों का सटिप्पण विवरण प्रकाशित किया।<sup>3</sup>

8. भारतीय पुरातत्त्व विभाग तथा रायबहादुर दयाराम साहनी—इसके पश्चात् एक नवम्बर, 1917 ई. की भारत सरकार के पुरातत्त्व-विभाग ने इस क्षेत्र को अपने अधिकार में ले लिया<sup>4</sup> और रायबहादुर दयाराम साहनी को वहाँ सर्वेक्षण के लिए भेजा। दिनांक 22/11/1917 से 17/12/1917 ई. तक उन्होंने सर्वेक्षण करके स्मारकों, मूर्तियों और सैकड़ों अभिलेखों का महत्वपूर्ण विवरण तैयार किया।<sup>5</sup> इन्होंने वहाँ के स्मारकों के जीर्णोद्धार के लिए प्रान्तीय और केन्द्रीय शासनों से कुछ राशि स्वीकृत करायी, परन्तु जंगल की सफाई और स्मारकों के प्रारम्भिक जीर्णोद्धार के अतिरिक्त अधिक कुछ न हो सका, क्योंकि जैसा कि सर जॉन मार्शल ने लिखा है, "इस जिले में अकाल पड़ जाने से कार्य को उस समय तक के लिए स्थगित कर देना पड़ा, जब तक कोई अनुकूल स्थिति न आए।"<sup>6</sup>

9. डी. बी. स्पूनर—इस बीच श्री डी. बी. स्पूनर ने भी 1917-18 की वार्षिक रिपोर्ट के प्रथम भाग में इसकी चर्चा की।<sup>7</sup>

## (2) सामाजिक प्रयत्न

1. श्री विश्वम्भरदास गार्गीय—1922 ई. में ललितपुर के एक प्रधानाध्यापक

1. कलकत्ता से 1916 ई. में प्रकाशित, दे.—पृ. 27।

2. दे.—परिशिष्ट 'इ', पृ. 8-9।

3. दे.—पृ. 5 तथा परिशिष्ट 'ए'।

4. शासन ने अपने नोटिफिकेशन क्र. 958-एम.-367-47-111, दिनांक 10 सितम्बर, 1917 द्वारा देवगढ़ किले के जैन मन्दिरों को सन् 1904 के 'एशियंटिक मानुमेण्ट्स प्रिजर्वेशन ऐक्ट सात' के अनुसार संरक्षित घोषित किया और नोटिफिकेशन क्र. 1162-एम.-367-47-111, दिनांक 1 नवम्बर, 1917 द्वारा अपने उक्त आदेश की सम्पुष्टि की। दे.—दयाराम साहनी : ए. प्रो. रि., 1920 (लाहौर, 1921 ई.), परिशिष्ट 'फ', पृ. 111।

5. दे.—ए. प्रो. रि., हि. बु. मा., ना. स., द्वितीय खण्ड, 1918 (लाहौर, 1918), पृ. 5-10।

6. सर जॉन मार्शल : आर्क्योलॉजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, एन्चुरल रिपोर्ट 1919-20 (कलकत्ता, 1922 ई.), पृ. 6।

7. डॉ. डी. बी. स्पूनर : जा. स. ट., ए. रि. 1917-18, प्रथम भाग (कलकत्ता, 1922), पृ. 7 और 32।

श्री विश्वम्भरदास गार्गीय ने श्री साहनी की उक्त रिपोर्ट का हिन्दी अनुवाद किया।<sup>1</sup>

2. **ब्र. शीतलप्रसाद**—1923 ई. में ब्र. शीतलप्रसाद ने अपनी पुस्तक 'संयुक्त प्रान्त के प्राचीन जैन स्मारक'<sup>2</sup> में भी देवगढ़ का विवरण दिया।

3. **श्री परमानन्द बरया**—ललितपुर के एक तत्कालीन कर्मठ युवक स्व. श्री परमानन्द बरया ने देवगढ़ के जीर्णोद्धार आदि में गहरी दिलचस्पी लेना प्रारम्भ किया। उन्होंने शासन और समाज के सहयोग से इस क्षेत्र की दीर्घकाल तक जो सेवा की, वह तब तक नहीं भुलायी जा सकती जब तक देवगढ़ का अस्तित्व है।

4. **भा. दि. जैन तीर्थ रक्षा समिति**—श्री बरया के सतत प्रयत्न के फलस्वरूप सन् 1918 ई. में श्री भारतवर्षीय दिगम्बर जैन तीर्थ रक्षा समिति ने इस क्षेत्र का प्रबन्ध अपने निर्देशन में ले लिया।

5. **श्री देवगढ़ मैनेजिंग दि. जैन कमेटी**—सन् 1930 में जाखलौन, ललितपुर आदि के जेनों ने एक समिति गठित<sup>3</sup> करके इस क्षेत्र का प्रबन्ध उक्त समिति से अपने हाथ में लिया। इस संस्था ने जो सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कार्य किया, वह था भारत सरकार के पुरातत्व-विभाग से दिनांक 4/3/1935 को जैन<sup>4</sup> स्मारकों के तथा वन विभाग से दिनांक 11/6/1938 को जैन स्मारकों के आसपास की भूमि<sup>5</sup> की प्राप्ति।

6-7. **श्री नाथूराम सिंघई, पं. जुगलकिशोर मुख्तार**—सन् 1929 में श्री नाथूराम सिंघई ने एक लेख<sup>6</sup> इस क्षेत्र के सम्बन्ध में लिखा, जिस पर श्री जुगलकिशोर मुख्तार की महत्त्वपूर्ण सम्पादकीय टिप्पणी भी थी।<sup>7</sup>

8. **पं. के. भुजबली शास्त्री**—सन् 1941 में पं. के. भुजबली शास्त्री ने इस क्षेत्र की अपनी यात्रा का सचित्र विवरण प्रकाशित कराया।<sup>8</sup>

1. यह विवरण देवगढ़ के जैन मन्दिर शीपंक से 28 पृष्ठों में प्रकाशित हुआ है।
2. प्रकाशक—हीरालाल जैन. एम. ए., जैन होम्सट इलाहाबाद, 1923 ई., देवगढ़ के विवरण के लिए दे.—पृ. 49-53।
3. इस समिति का नाम 'श्री देवगढ़ मैनेजिंग दिगम्बर जैन कमेटी' रखा गया और इसका पंजीयन, धारा 21, सन् 1860 के अन्तर्गत रजिस्ट्रार, ज्वाइण्ट स्ट्याक कम्पनीज, लखनऊ (उ. प्र.) द्वारा पंजीयन क्रमांक 26 द्वारा किया गया।
4. श्री देवगढ़ मैने. दि. जैन कमेटी के पास इकरारनामे की जो नकल है, उस पर पत्र संख्या आदि नहीं अंकित है, किन्तु दिनांक 4 मार्च 1935 अंकित है।
5. दे. वन विभाग, नोटिफिकेशन क्र. मिसले. 702-14-395 दिनांक 21 जून 1938 इस नोटिफिकेशन के आधार पर दिनांक 4 अगस्त, 1938 को श्री देवगढ़ मैने. दि. जैन कमेटी को जैन मन्दिरों की सीमा हेतु लगभग 8.20 एकड़ भूमि वन विभाग द्वारा सौंपी गयी।
6. 'देवगढ़', अनेकालन, वर्ष 1, किरण 2 (1986 विक्रमाब्द), पृ. 98-100।
7. वही पृ. 101-103।
8. जैन सिद्धास्त मासिक, किरण 2, भाग 8 (आग, 1941), पृ. 67 और आगे।

### (3) आधुनिक-शोध-कार्य

भारत सरकार की ओर से पुरातत्त्व विभाग के अधिकारी श्री माधव स्वरूप बत्स ने यहाँ कई माह रहकर 'दशावतार-मन्दिर' का शोधपूर्ण और सचित्र विवरण लिखा<sup>1</sup> जो 1952 ई. में प्रकाशित हुआ। 1958 ई. में श्रीमती माधुगी देसाई ने भी उक्त मन्दिर के सम्बन्ध में एक सचित्र पुस्तिका लिखी।<sup>2</sup>

सर्वश्री डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन,<sup>3</sup> डॉ. उमाकान्त प्रेमानन्द शाह,<sup>4</sup> डॉ. कामता प्रसाद जैन,<sup>5</sup> डॉ. हीरालाल जैन,<sup>6</sup> डॉ. क्लार्ज वून<sup>7</sup> और पं. परमानन्द जैन शास्त्री<sup>8</sup> आदि ने विभिन्न ग्रन्थों और लेखों में देवगढ़ पर टिप्पणियाँ दीं। 1962 ई. में प्रो. कृष्णदत्त वाजपेयी का एक शोधपूर्ण सचित्र निबन्ध प्रकाशित हुआ<sup>9</sup> जिससे देवगढ़ की कला और संस्कृति को समझने में सहायता मिलती है। उनकी दो पुस्तकों 'युग-युगों में उत्तर प्रदेश' तथा 'उत्तर प्रदेश का सांस्कृतिक इतिहास'<sup>10</sup> में भी देवगढ़ के विवरण हैं, इनके अतिरिक्त विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में भी उन्होंने देवगढ़ पर

1. मेन्चायर ऑव द आ. स. इ., संख्या 70 (दिल्ली, 1952 ई.)।
2. द गुप्ता टेम्पल एट देवगढ़, प्रका. भूलाभाई मेमोरियल इंस्टीट्यूट, बम्बई।
3. (अ) जैन सिद्धान्त भास्कर, भाग 22, किरण एक (जून, 1955 ई.), पृ. 12-22 'देवगढ़ और उसका कला वैभव।' (ब) वीर (अधिवेशन विशेषांक), वर्ष 31, अंक 17-18 (मई 1956), पृ. 41-47 'प्राचीन भारत का वैभव देवगढ़।' (स) भारतीय इतिहास : एक दृष्टि (काशी, 1961 ई.), पृ. 146-47, 160-61, 174-75 देवगढ़ सम्बन्धी विवरण।
4. स्टडीज इन जैन आर्ट (वनारस, 1955 ई.), पृ. 15, 20, 21, 29, 61, 95 तथा 114 पर देवगढ़ सम्बन्धी उल्लेख एवं चित्र फलक 15 आ. 39, फ. 16 आ. 43, फ. 17 आ. 46, फ. 17 आ. 47 और फ. 22 आ. 56।
5. जैन तीर्थ और उनकी यात्रा, प्रका., मन्त्री, भा. दि. जैन परिषद् पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1962 ई., देवगढ़ का परिचय, पृ. 145-54।
6. (अ) प्रस्तावना : संयुक्त प्रान्त के प्राचीन जैन स्मारक (इलाहाबाद, 1923 ई.)। (ब) भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान, प्रका.-म. प्र. शासन साहित्य परिषद् (भोपाल, 1962 ई.) पृ. 327-28, 347-48, 353, 355, 357-58 तथा 361 एवं चित्र पृ. 391-93 और 396।
7. (क) देवगढ़ के जैन मन्दिर : वीर (अधिवेशन विशेषांक), (मई, 1956 ई.), पृ. 57-61। (ख) लेक्चर रैड एट द मेला एट देवगढ़ (1956)। (ग) 'मध्यप्रदेश के जैन तीर्थ : देवगढ़', जैनयुग, मई 1959 ई.।
8. (अ) मुनि श्री हजारीमल स्मृति ग्रन्थ (व्यावर, 1965 ई.) में 'मध्य-भारत का जैन पुरातत्त्व' (पृ. 698-712) शीर्षक निबन्ध में देवगढ़ का परिचय, पृ. 702-705। (ब) अनेकान्त, वर्ष 19, कि. 1-2 (अप्रैल-जून, 1966), पृ. 58-62 पर देवगढ़ का विवरण।
9. देवगढ़ की जैन प्रतिमाएँ; अनेकान्त, वर्ष 15, कि. 1 (अप्रैल, 1962 ई.), पृ. 27 और 30।
10. यह पुस्तक सन् 1954 ई. में इलाहाबाद से प्रकाशित हुई।

26 :: देवगढ़ की जैन कला : एक सांस्कृतिक अध्ययन



उल्लेखनीय टिप्पणियाँ की हैं।<sup>1</sup>

देवगढ़ के सम्बन्ध में अब तक का अन्तिम प्रकाशन यहाँ की प्रबन्ध समिति द्वारा प्रकाशित एक सचित्र पुस्तिका है। इसके अतिरिक्त, ब्र. प्रेमसागर की 'देवगढ़ पूजन'<sup>2</sup> श्री कल्याणकुमार 'शशि' का 'देवगढ़ काव्य'<sup>3</sup> और श्री हरिप्रसाद 'हरि' की 'देवगढ़'<sup>4</sup> नामक काव्यमय पुस्तिकाएँ भी प्रकाशित हुई हैं।

इस प्रबन्ध में 'देवगढ़ की जैन कला का सांस्कृतिक अध्ययन' किया गया है। इसमें मध्य काल तक की कला का विशेष रूप से और उसके बाद की कला का सामान्य रूप से प्रतिपादन किया गया है। स्मारकों और उनकी स्थापत्यगत विशेषताओं, मूर्तियों और अभिलेखों का विवरण देने के पश्चात् उनके आधार पर देवगढ़ की जैन संस्कृति, समाज और धर्म पर प्रकाश डाला गया है।

## स्थिति

देवगढ़ उत्तर प्रदेश में नवनिर्मित ललितपुर जिले की ललितपुर तहसील में उत्तर प्रदेश और मध्य प्रदेश की सीमा पर चेतवा के किनारे, 24° 32' उत्तरी अक्षांश और 78° 15' पूर्वी देशान्तर पर स्थित है। मध्य रेलवे के दिल्ली-बम्बई मार्ग के ललितपुर स्टेशन से यह दक्षिण-पश्चिम में 33 किलोमीटर की एक पक्की सड़क से जुड़ा है। उसी रेलवे के जाखलौन स्टेशन से इसकी दूरी 13 किलोमीटर है।

प्राचीन देवगढ़ विन्ध्याचल की पश्चिम श्रेणी पर गिरि-दुर्ग के मध्य स्थित था। आज वह उसकी पश्चिमी उपत्यका में बसा है। यहाँ की जनसंख्या लगभग 300 है। एक आधुनिक दिगम्बर जैन मन्दिर, विशाल जैन धर्मशाला, साहू जैन संग्रहालय और शासकीय वन-विश्राम-गृह भी यहाँ हैं।

ग्राम के उत्तर में प्रसिद्ध दशावतार मन्दिर तथा शासकीय संग्रहालय और पूर्व में पहाड़ी पर उसके दक्षिण-पश्चिमी कोने पर 'जैन स्मारक' हैं।

इस पहाड़ी की अधित्यका को घेरे हुए एक विशाल प्राचीर है, जिसके पश्चिम में 'कृजद्वार' और पूर्व में 'हाथी-दरवाजा' है। इसके मध्य एक और प्राचीर है, जिसे

1. शिवलाल अग्रवाल एण्ड कं. प्रा. लि., आगरा से सन् 1959 ई. में प्रकाशित। (अ) 'उत्तर प्रदेश की ऐतिहासिक विभूति' उ. प्र. शासन के शिक्षा विभाग द्वारा लखनऊ से 1957 ई. में प्रकाशित। (ब) उत्तर प्रदेश में पुरातत्वीय अनुसन्धान : शिक्षा (अक्टूबर 1955 ई.) में प्रकाशित।
2. प्रका.-सिंघई नाथूराम जैन, व्यवस्थापक-श्री देवगढ़ जीर्णोद्धार कमेटी, ललितपुर, वीर संवत् 2454।
3. प्रका. उपबृक्त, सन् 1939।
4. प्रका.- दरवारी लाल जैन, ललितपुर, सन् 1954 ई.।

‘दूसरा कोट’ कहते हैं, इसी के मध्य वर्तमान ‘जैन स्मारक’ हैं। ‘दूसरे कोट’ के मध्य में भी एक छोटा-सा प्राचीर था, जिसके अवशेष आज भी विद्यमान हैं। इस प्राचीर के भी मध्य एक प्राचीरनुमा दीवार, दोनों ओर खण्डित मूर्तियाँ जड़कर बनायी गयी है। विशाल प्राचीर के दक्षिण-पश्चिम में ‘वराह-मन्दिर’ और दक्षिण में वेतया के किनारे नाहर-घाटी और राजघाटी हैं।

## नाम

देवगढ़ में, इतिहास के अध्ययन के महत्त्वपूर्ण साधन लगभग 400 अभिलेख हैं। इनमें से अधिकांश में तिथियाँ अंकित हैं। इनमें शिल्प-साधना, प्रशस्तियाँ और स्मारकों के निर्माण की सूचनाएँ तो हैं ही, उनसे नागरी लिपि के क्रमिक विकास का ज्ञान भी होता है।<sup>1</sup> इनसे देवगढ़ के विभिन्न नामों की सूचना भी मिलती है।

### 1. लुअच्छगिरि

इस स्थान का प्राचीन नाम ‘लुअच्छगिरि’ था। इस नाम का उल्लेख विक्रम संवत् 919 (862 ई.) के गुर्जर-प्रतिहार भोजदेव के शासनकालीन शिलालेख में है।<sup>2</sup> उस समय यह स्थान उसके शासन में था।<sup>3</sup> स्पष्ट है कि 10वीं शती ईसवी तक इस स्थान की प्रसिद्धि ‘लुअच्छगिरि’ नाम से थी।

### 2. कीर्तिगिरि

ग्यारहवीं शताब्दी के अन्त में चन्देल शासक कीर्तिवर्मा के मन्त्री वत्सराज ने इस स्थान पर एक नवीन दुर्ग का निर्माण कराया तथा शत्रुकुल का दलन करनेवाले

1. दयाराम साहनी : एनुअल प्रोग्रेस रिपोर्ट ऑव द सुपरिण्टेण्डेण्ट हिन्दू एण्ड बूद्धिस्ट मानुमेंट्स, नार्दन सर्किल, 1918, भाग 2 (लाहौर, 1918 ई.), पृ. 101।
2. दे.—मन्दिर संख्या 12 के महा-मण्डप के सामने अवस्थित अर्धमण्डप के दक्षिण-पूर्व के स्तम्भ पर उत्कीर्ण अभिलेख.....महाराजाधिराजपरमेश्वरश्रीभोजदेवमही प्रवर्द्धमान-कल्याणविजय राज्ये तत्प्रदत्तपंचमहाशब्दमहासामन्तश्रीविष्णुरामपंचिन्द्रराज्यमध्ये लुअच्छगिरि श्री शान्ध्यायत(न)(स)निधे कमलदेवाचार्यशिष्येण श्रीदेवेन कारार्पित इदं स्तम्भम्। संवत् 919 अस्वयुजशुक्लपक्षचतुर्दश्याम् वृहस्पति दिनेन उत्तराभाद्रपदानक्षत्रे, इदं स्तम्भ समाप्तमिति व.....अ गोगोकंन शुक्र-भ्रातेन इदं स्तम्भ जटितमिति। शक कालाब्द सप्त सत्वानि चतुरसीत्यधिकानि 784।
3. (अ) टे.—दी एज ऑफ इम्पीरियल कन्वोज, (भारतीय विद्या भवन, जिल्द 4), (जम्बर्ट, 1961 ई.), पृ. 83। (ब) डॉ. आर. एस. त्रिपाठी : हिस्ट्री ऑफ कनाज (दिल्ली, 1959 ई.), पृ. 238।

28 :: देवगढ़ की जैन कला : एक सांस्कृतिक अध्ययन

अपने वंशस्वी और प्रतापी स्वामी' के नाम पर इस स्थान का नाम 'कीर्तिगिरि' रखा।<sup>1</sup> इसी से इस स्थान का नाम 'कीर्तिगिरि' प्रचलित हुआ।

### 3 देवगढ़

अतः यह कहा जा सकता है कि इस स्थान का नाम 'देवगढ़' बारहवीं शताब्दी के अन्त या तेरहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में किसी समय रखा गया।

श्री पूर्णचन्द्र मुखर्जी ने 'देवगढ़' नामकरण के सम्बन्ध में लिखा है कि "इस स्थान पर सन् 850 से 969 तक देववंश का शासन रहा, और इसी वंश के नाम पर यह स्थान 'देवगढ़' कहलाया।"<sup>2</sup>

किन्तु श्री मुखर्जी का उपर्युक्त मत इतिहास-सम्मत नहीं है। यह सर्वविदित तथ्य है कि श्री मुखर्जी द्वारा निर्दिष्ट समय (850-969 ई.) में देवगढ़ गुर्जर-

1. कीर्तिग्राम की प्रतापी वृत्ति का विवरण उसके समकालीन काव्य श्रीकृष्ण मिश्र के अनुसार :  
नीताः श्रयं क्षितिभुजे नृपसंविपशा, रक्षायती क्षितिभूत् प्रथितैरमात्यैः।  
साम्राज्यमस्य विहितं क्षितिपालपीलिन-मालार्चितं भूवि पयोनिधि-भेखलायाम् ॥  
-श्रीकृष्णमिश्र, प्रयोधचन्द्रोदय नाटक (वाराणसी, 1955), पृ. 6।
2. दे. - देवगढ़ दुर्ग के दक्षिण-पश्चिम में राजवादी के किनारे कीर्तिग्राम के मन्त्री बलराज द्वारा संवत् 1154 (ईसवी 1097) में राज्यमथ संस्कृत की 8 पंक्तियों में उन्नीश अभिलेख -  
1. ७२ नमः शिवाय। चान्देयवशदुर्गदेन्दु विशालकीर्तिः स्वातो बभूव नृपसंघनताग्रिपद्मः।  
2. विद्याधरं नरपतिः कमल-संनयसो, जातमनो विजयपालनृपो नृपेन्द्रः ॥ (1) तस्माद् धनं-  
परधीमाः।  
3. ॥ नृ कीर्तिग्रामं नृपोऽभवत्। यस्य कीर्तिसुशश्रुं वेलोक्य सोधत्तममात् ॥ (२) अयं नूतनं  
विष्णुर्मायभूतमयाध  
4. शम्भु। (नृपार्श्वतरसमाश्रय श्वरस्यवसमाजंयत्) (3) राजाद्मथ्यगतचन्द्रनिभस्य यस्य नूनं  
शुर्धियस्सदाशिराम च.....  
5. ...न्द्रः। एते प्रसन्नगुणरत्नोभयो निर्दिष्टा, बन्धुगुणप्रवरस्यमये शरीरि। (4) तदीयानाच-मन्त्रीन्द्रो  
रमणीपूर्वनिगं-  
6. सः। वसमाजंतेन विरुवातः श्रीमान् परीक्षयन्मजः ॥ (5) ख्यातो बभूव किल मन्त्रिपदेकमन्त्रे।  
याचस्पतिस्त  
7. ...दिष्ट वन्धुगुणेरुभाव्याम् यावत् समस्तमपि मण्डलमाशु शचोराच्छिद्य कीर्तिगिरि-दुर्गनिदं  
व्यधत्। (6)  
8. शोधस्सदाशिरादीर्यं नूनं केनापि कारितः। ब्रह्माण्डमुज्ज्वलं कीर्तिमारोहयितुमात्मनः ॥ संवत्  
1154 चैतवदि २ वृशो।  
3। अयं जान पी पूर्णचन्द्रादीच उन दी डिप्टिकर जान ललितपुर, भाग एक, डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन  
'रीत्य' विशेषांक (1956), पृ. 12 से उद्धृत।

प्रतिहारवंशी राजाओं के अधीन था।<sup>1</sup> इसी वंश के शासक श्रीभोजदेव के समय के एक अभिलेख में इस स्थान का उल्लेख 'लुअच्छगिरि' नाम से हुआ है।<sup>2</sup>

## सम्भावनाएँ

सम्भावना की जाती है कि गुप्तवंशीय शासकों के उपरान्त और गुर्जर-प्रतिहार शासकों के पूर्व जिस वंश का शासन और अधिकार इस नगर पर रहा हो तथा जिसने पर्वत पर देवायतन बनवाये हों, उसका अपना वंश 'देववंश' हो। इस शासक ने अपने वंश की प्रसिद्धि हेतु इस स्थान को 'देवगढ़' नाम से प्रसिद्ध किया हो।

दूसरी सम्भावना यह भी है कि विक्रम-संवत् 918 (862 ई.) के अभिलेख<sup>3</sup> में उस स्तम्भ के प्रतिष्ठापक आचार्य कमलदेव के शिष्य श्रीदेव हैं। कदाचित् वह देव-वंश के होंगे। उनका व्यक्तित्व प्रभावशाली था और उन्होंने इस स्थान पर भट्टारक-गढ़ी की स्थापना की थी। अतः यह सम्भावना स्वाभाविक है कि आचार्य श्रीदेव के स्वयं के नाम के कारण अथवा उनके संघ के नाम के कारण उनके भक्तों और अनुयायियों ने इस स्थान को 'देवगढ़' नाम से प्रसिद्ध किया हो।<sup>4</sup>

'देव' शब्द देवता का वाची है।<sup>5</sup> 'गढ़' का अर्थ दुर्ग होता है।<sup>6</sup> यहाँ दुर्ग के अन्दर देवमूर्तियों की प्रचुरता होने के कारण कदाचित् इस स्थान का नाम 'देवगढ़' पड़ा हो।

1. टी एन ऑफ इम्पैरियल कनाज (भारतीय विद्या भवन, जिल्द 1), (वर्ग 1), 1961 ई., पृ. 83।
2. दे.—मन्दिर संख्या 12 के अर्धमण्डप के दक्षिण-पूर्वी स्तम्भ पर उत्कीर्ण अभिलेख, तथा पृ. 353, 354-55 पर विस्तृत विवेचन।
3. दे.—मन्दिर संख्या 12 के अर्धमण्डप के दक्षिण-पूर्वी स्तम्भ पर उत्कीर्ण अभिलेख। परि. नं. अर्धम. क्र. एक।
4. ऋषियों के नामों पर नगरों के नामकरण की प्रथा प्राचीनकाल से अवतक प्रचलित है; प्राचीनकाल में ऋषि जाबालि के नाम पर जाबालिपुर (जबलपुर) और आधुनिक काल में आचार्य शान्ति सागर एवं आचार्य वीर सागर के संयुक्त नाम पर शान्तिवीर नगर, श्रीमदाधीरजी, राजस्थान।
5. (अ) अमरसिंह : अमरकोष (चाराणसो, 1957), काण्ड 1, वर्ग 1, पद्य 7-9। (ब) धनञ्जय : नाममाला, अमरकीर्ति विरचित भाष्योपेक्षा, पं. शम्भुनाथ त्रिपाठी सम्पादित (काशी, 1950 ई.), श्लो. 56। (स) संस्कृत शब्दार्थ कोस्तुभ : सत्यदेवी दाशकाप्रसाद शर्मा तथा नारायणीशा सम्पादित (इलाहाबाद, 1957 ई.), पृ. 530। (द) नालन्दा विशाल शब्दसागर : भवनजी सम्पादित (देहली, विक्रमाब्द 2007), पृ. 613।
6. (अ) अमरसिंह : अमरकोष, 2-8.17। (ब) धनञ्जय : नाममाला, श्लो. 13। (स) संस्कृत शब्दार्थ कोस्तुभ, पृ. 523। (द) नालन्दा विशाल शब्दसागर, पृ. 305।

30 :: देवगढ़ की जैन कला : एक सांस्कृतिक अध्ययन

## किंवदन्तियाँ

'देवगढ़' नामकरण के सम्बन्ध में इस प्रान्त में प्रचलित किंवदन्तियाँ भी विचारणीय हैं। एक बहुप्रचलित किंवदन्ती निम्न प्रकार है :

प्राचीन काल में इस नगर में देवपत और खेवपत नाम के दो भाई निवास करते थे। सौभाग्य से उन्हें 'पारस-पत्थर' उपलब्ध था। इसके कारण वे अत्यन्त वैभव-सम्पन्न हो गये थे। अपनी अपार धन-राशि का उपयोग इन दोनों ने यहाँ भव्य जैन-देवालय बनवाने, नगर एवं दुर्ग के सौन्दर्य को बढ़ाने में किया। तत्कालीन राजा इन भाइयों से उक्त पारस-पत्थर प्राप्त करना चाहता था, किन्तु देवपत ने उसके हाथ में जाने के पूर्व ही यह 'पारस-पत्थर' बेतवा नदी के अथाह जल में प्रवाहित कर दिया। परम्परा से देवगढ़ के सम्बन्ध में यह किंवदन्ती प्रचलित है कि इस स्थान के निर्माता उक्त 'देवपत' के कारण ही यह स्थान 'देवगढ़' कहलाता है।

एक दूसरी किंवदन्ती के अनुसार इस स्थान की रचना देवों द्वारा की गयी है तथा उनकी सूक्ष्म-कला की स्मृति के रूप में इसे 'देवगढ़' कहा जाता है। इस सन्दर्भ में हम मथुरा के उत्खनन में प्राप्त ईसा की द्वितीय शताब्दी के अभिलेख से तुलना करना चाहेंगे। मथुरा के उक्त अभिलेख में वहाँ के जैन स्तूप को 'देव-निर्मित' कहा गया है।<sup>1</sup> कदाचित् कला की अत्यन्त भव्यता और सूक्ष्मता के कारण उस स्तूप को 'देव-निर्मित' कहा गया हो।<sup>2</sup> देवगढ़ के सम्बन्ध में प्रचलित इस किंवदन्ती का आधार भी कला की भव्यता, सूक्ष्मता और प्रचुरता प्रतीत होती है।

## शोधकर्ता का मत

यद्यपि यह स्थान किसी तीर्थंकर की कल्याणक-भूमि अथवा किसी शलाका-पुरुष से सम्बद्ध नहीं है तथापि यहाँ अनेक साधुओं और साध्वियों ने घोर तपश्चरण करके

1. (अ) जिनप्रभसूरी : विविध तीर्थकल्प, पृ. 17 और 85। (ब) वी. सिन्धु : जैन स्तूप गुण्ड अदर एण्टिक्विटीज़ फ्रॉम मथुरा (दलाहावाद, 1901 ई.), सम्पूर्ण। (स) प्रो. कृष्णदत्त वाजपेयी : मथुरा का देवनिर्मित वादस्वरूप : श्री महावीर स्मृति ग्रन्थ, खण्ड 1 (1948-49 ई.), पृ. 188-91। (द) नीलकण्ठ पुरुषोत्तम जोशी : मथुरा की मूर्तिकला (मथुरा, 1965 ई.), पृ. 1 तथा 183-87। (इ) डॉ. हीरानल जैन : भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान (भांगल, 1962 ई.), पृ. 303। (ई) डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल : मथुरापुरीकल्प, चन्दावाई अभिनन्दन ग्रन्थ (आग, 1954 ई.), पृ. 397-402। (उ) प्रो. भागवन्धु जैन 'भागवन्दु' : भारतीय संस्कृति में जैनतीर्थों का योगदान (अलीगंज, 1961 ई.), पृ. 16 तथा 18।
2. प्रो. कृष्णदत्त वाजपेयी : कंकाली टीला (मथुरा) की जैन कला का अनुशीलन, गुरु गोपालदास वर्मा स्मृति ग्रन्थ (आगरा, 1967 ई.), पृ. 608।

आत्म-साक्षात्कार किया, जिसके प्रमाण हैं उनकी अनेक समाधियाँ, मूर्तियाँ, चरणपादुकाएँ और अभिलेख तथा वे मन्दिर जिन्हें उनके आकार-प्रकार के कारण साधुओं का निवास माना जाना चाहिए (देखिए चित्र संख्या 2, 10, 12-14, 29)। इसीलिए मेरा विश्वास है कि यहाँ उपलब्ध सहस्रों देव-प्रतिमाओं और देवायतनों के कारण ही यह स्थान 'देवगढ़' नाम से विख्यात हुआ है।<sup>1</sup>

## इतिहास

### 1. प्रागितिहास काल से मौर्ययुग तक

यहाँ प्रागितिहास-काल के उपकरण तो मिले ही हैं, तत्कालीन<sup>2</sup> आदिम मानव द्वारा बनाये गये चित्र भी विद्यमान हैं।<sup>3</sup> यह 'चेदि' जनपद के दशार्ण नामक भाग के अन्तर्गत आता था।<sup>4</sup> चेदिराज शिशुपाल यहाँ का शासक था।<sup>5</sup> निपधराज नल की पट्टराज्ञी दमयन्ती का नैहर भी यहीं बताया जाता है।

ई. पू. 7वीं शती में जब मगध-साम्राज्य की नींव पड़ी, तब देवगढ़ चेदि जनपद में ही था। नन्द वंश के अधिकार में प्रायः सम्पूर्ण उत्तर भारत था।<sup>6</sup> इस समय तक देवगढ़ का न तो राजनीतिक महत्त्व था और न सांस्कृतिक। यहाँ मौर्य शासन के

1. मेरी इस मान्यता की पुष्टि पं. के. भुजवली शास्त्री के विद्यार्ण से भी होती है। जैन विज्ञान भास्कर : किरण 2, भाग 8 (आरा, 1941 ई.), पृ. 67 और आगे प्रकाशित 'मेरी देवगढ़ यात्रा' निबन्ध।
2. द्रष्टव्य -पृष्ठ 1 की टिप्पणी संख्या 1।
3. दे. पृष्ठ 2 की टिप्पणी संख्या 1।
4. (अ) डॉ. राजवली पाण्डेय : प्राचीन भारत (धाराणसी, 1962 ई.), पृ. 60 तथा 78। (ब) डॉ. विमलचन्द्र पाण्डेय : प्राचीन भारत का राजनीतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास (उलाहापूर, 1965 ई.), पृ. 246। (स) गोरिलाल निवारी : बुन्देलखण्ड का संक्षिप्त इतिहास (उलाहापूर, संवत् 1990), पृ. 4। (द) डॉ. आर. सी. मजूमदार, डॉ. एच. सी. रायचौधरी आदि : एन एडवॉन्स रिप्ली ऑफ इण्डिया (लन्दन, 1960 ई.), पृ. 56।
5. (अ) महाकवि माधु : शिशुपालवध महाकाव्य, संगे टी. पृ. 15-17। (ब) डॉ. विमलचन्द्र पाण्डेय : वही, पृ. 266। (स) डॉ. राजवली पाण्डेय, वही। (द) गोरिलाल निवारी : वही, पृ. 4, 5 और 31।
6. (अ) डॉ. राजवली पाण्डेय : वही, पृ. 110। (ब) डॉ. विमलचन्द्र पाण्डेय : वही, पृ. 353। (स) डॉ. आर. सी. मजूमदार, डॉ. रायचौधरी आदि : वही, पृ. 63। (द) डॉ. रमाशंकर त्रिपाठी : प्राचीन भारत का इतिहास (दिल्ली, 1955 ई.), पृ. 81। (इ) पं. स्वामीप्रसाद जैन : भारतीय इतिहास एक दृष्टि (काशी, 1961 ई.), पृ. 72।

अस्तित्व' में कोई सन्देह नहीं किया जा सकता, क्योंकि इसके समीप गुजरा (जिला दतिया) नामक स्थान पर अशोक का एक अभिलेख प्राप्त हुआ है।<sup>2</sup> और यहाँ एक शिलालेख भी प्राप्त हुआ है, जिसकी शैली और लिपि<sup>3</sup> अशोक के शिला-प्रज्ञापनों से बहुत कुछ मिलती-जुलती है।

## 2. शुंग-सातवाहन काल

मौर्यों के पतन के बाद शुंगों के शासन काल में उत्तर भारत का अधिकांश पुष्यमित्र तथा उसके वंशजों के अधिकार में रहा।<sup>4</sup> फिर कुषाणों का अधिकार उत्तर भारत पर हुआ।<sup>5</sup> उन्होंने अपना केन्द्र मथुरा को बनाया,<sup>6</sup> जो देवगढ़ से लगभग 150 मील उत्तर में है।

उस समय इन दोनों स्थानों का व्यापारिक और राजनीतिक सम्बन्ध भी प्रारम्भ हो गया था जो, दूसरी-तीसरी शती ई. में, इस क्षेत्र के नागों के अधिकार में आ जाने पर<sup>7</sup> काफी बढ़ गया। इस समय विदिशा से मथुरा जानेवाले राजमार्ग पर देवगढ़ को महत्वपूर्ण विश्रामस्थान माना जाता था।

विदिशा से एक दूसरा मार्ग देवगढ़ होता हुआ काशी की ओर जाता था।<sup>8</sup>

1. (अ) डॉ. राजवली पाण्डेय : वही, पृ. 134। (ब) डॉ. विमलचन्द्र पाण्डेय : वही, पृ. 411। (स) डॉ. आर. सी. मजूमदार आदि : वही, पृ. 102-104। (द) गोरिलाल तिवारी : वही, पृ. 10-11।
2. (अ) डॉ. राधाकुमुद मुकजी : प्राचीन भारत (दिल्ली, 1964 ई.), पृ. 62। (ब) प्रो. कृष्णदत्त वाजपेयी : म. प्र. का ऐतिहासिक और सांस्कृतिक अनुशीलन : सागर विश्वविद्यालय पुरातत्त्व-पत्रिका (1967 ई.), पृ. 80।
3. दशमसप्ततमनी : ए. प्रो. रि., 1917-18, पृ. 10।
4. (क) डॉ. राजवली पाण्डेय : वही, पृ. 172-73 और 185। (ख) डॉ. आर. सी. मजूमदार आदि : वही, पृ. 11-11। (ग) गोरिलाल तिवारी : वही, पृ. 11।
5. (क) डॉ. रा. व. पाण्डेय : वही, पृ. 209 तथा 220। (ख) डॉ. रा. कु. मु. : वही, पृ. 86। (ग) डॉ. र. शं. त्रिपाठी : वही, पृ. 173। (घ) डॉ. आर. सी. मजूमदार आदि : वही, पृ. 121-22। (ड) गो. ला. तिवारी : वही, पृ. 17।
6. (क) डॉ. रा. व. पाण्डेय : वही, पृ. 210-11 तथा 214। (ख) डॉ. रा. कु. मु. : वही, पृ. 85-87। (ग) डॉ. र. शं. त्रिपाठी, वही, पृ. 178-79। (घ) डॉ. रमेशचन्द्र मजूमदार आदि : भारत का बृहत् इतिहास, प्रथम भाग (प्राचीन भारत), (कलकत्ता, 1964 ई.), पृ. 231।
7. (क) डॉ. रा. व. पाण्डेय : वही, पृ. 221। (ख) डॉ. आर. सी. मजूमदार आदि : एड. हि. इ., पृ. 122।
8. पं. माधवस्वरूप वत्स : मेम्पायसं ऑफ ट ए. एस. आड. संख्या 70 (द गुप्ता टेम्पल एट देवगढ़), पृ. 1।

नागों के प्रमुख 4 राजनीतिक केन्द्र विदिशा, कान्तिपुरी, पद्मावती और मथुरा थे।<sup>1</sup> कान्तिपुरी देवगढ़ के सबसे अधिक निकट है। अतः सम्भव है कि देवगढ़ वहीं के शासकों के अधिकार में रहा हो। सातवाहन-साम्राज्य के अन्तर्गत चेदि जनपद का कुछ भाग था।<sup>2</sup>

### 3 गुप्तयुग

गुप्तवंश का अधिकार प्रायः आदि से अन्त तक देवगढ़ पर रहा।<sup>3</sup> समुद्रगुप्त से स्कन्दगुप्त तक के सभी सम्राटों का ध्यान पाटलिपुत्र पर कम रहा।<sup>4</sup> क्योंकि वह राजनीतिक रूप से सुरक्षित था, और मालवा पर अधिक रहा<sup>5</sup> क्योंकि वे उसे पार करके समुद्री किनारों पर अपना व्यापारिक विस्तार करना चाहते थे।<sup>6</sup> इसीलिए उन्होंने इस प्रदेश के आठविक राजाओं को अपना सामन्त बनाया,<sup>7</sup> जिनमें चेदि, दशार्ण के शासक भी थे।

समुद्रगुप्त की प्रयाग-प्रशस्ति<sup>8</sup> में जिन नाग राजाओं के नाम आये हैं, उनमें नागसेन और गणपति नाग के नाम उल्लेखनीय हैं, जिन्हें समुद्रगुप्त ने बलपूर्वक अपने अधीन कर लिया था।<sup>9</sup> समुद्रगुप्त ने चेदि के पूर्वी भाग की भौति पश्चिमी भाग में

1. (क) डॉ. रा. व. पाण्डेय : वही, पृ. 221। (ख) डॉ. रा. शं. त्रिपाठी : वही, पृ. 179। (ग) डॉ. रा. कृ. मु. : वही, पृ. 93।
2. (क) डॉ. रा. व. पाण्डेय : वही, पृ. 184-85। (ख) डॉ. रा. शं. त्रिपाठी : वही, पृ. 118-119। (ग) डॉ. आर. सी. मजूमदार आदि : एड. हि. इ., पृ. 111।
3. (क) डॉ. रा. व. पाण्डेय : वही, पृ. 238। (ख) डॉ. मजूमदार आदि : एड. हि. इ., पृ. 147-151। (ग) गो. ला. तिवारी : वही, पृ. 19-20।
4. डॉ. रा. व. पाण्डेय : वही, पृ. 225।
5. (अ) डॉ. रा. कृ. मु. : वही, पृ. 97, 99 और 101। (ब) डॉ. रमेशचन्द्र मजूमदार आदि : भा. वृ. इ., पृ. 159, 161।
6. (अ) डॉ. रा. कृ. मु. : वही, पृ. 97, 104, 112। (ब) डॉ. रा. च. मजूमदार आदि : भा. वृ. इ., पृ. 159।
7. (अ) डॉ. रा. व. पाण्डेय : वही, पृ. 225-26। (ब) डॉ. रा. कृ. मु. : वही, पृ. 96। (ग) डॉ. रा. च. मजूमदार आदि : भा. वृ. इ., पृ. 158।
8. प्रयाग प्रशस्ति के लिए दे. - जे. एफ. फ्लीट : कार्पस इंसक्रिप्सनम् इण्डिकोरम्, जिल्ड नाच, गुप्त अभिलेख संख्या एक-17।
9. (अ) डॉ. रा. व. पाण्डेय : वही, पृ. 225। (ब) डॉ. रा. कृ. मु. : वही, पृ. 96। (स) डॉ. आर. सी. मजूमदार आदि : एड. हि. इ., पृ. 146। (द) डॉ. रा. च. मजूमदार आदि : भा. वृ. इ., पृ. 157। (इ) गो. ला. तिवारी : वही, पृ. 11।

34 :: देवगढ़ की जैन कला : एक सांस्कृतिक अध्ययन



भी अपने सामन्त बनाये थे।<sup>1</sup> यहाँ के एक शिलालेख में गुप्त-कालीन ब्राह्मी<sup>2</sup> का स्वरूप पाया जाता है। इस काल में यहाँ अनेक मन्दिरों और सैकड़ों मूर्तियों का निर्माण भी हुआ।<sup>3</sup>

#### 4. वर्धन साम्राज्य से आयुधवंश तक

गुप्तकाल के पश्चात् लगभग 100 वर्ष तक यहाँ कदाचित् गुप्तों के किसी स्थानीय राजवंश का शासन रहा। वर्धन सम्राट् हर्ष के साम्राज्य में चेदि का एक बड़ा भाग शामिल था।<sup>4</sup> उसकी मृत्यु के पश्चात् यशोवर्मा ने इस प्रदेश पर अपना अधिकार जमा लिया था।<sup>5</sup>

8-10 ई. के आसपास काश्मीर के मुक्तापीड ललितादित्य ने यशोवर्मा को पराजित करके इस प्रदेश पर अपना शासन स्थापित कर लिया।<sup>6</sup> परन्तु शीघ्र ही उसका शासन यहाँ से समाप्त हो गया और कदाचित् आयुध-वंश ने अपनी सत्ता वहाँ स्थापित की, पर वह भी अधिक समय तक स्थिर न रह सकी।<sup>7</sup>

#### 5. गुर्जर-प्रतिहार शासन

यहाँ विक्रम संवत् 919 का एक अभिलेख<sup>8</sup> प्राप्त हुआ है, जिसके अनुसार

1. इनके विस्तृत विवरण के लिए दे.—(अ) डॉ. रा. व. पाण्डेय : वही, पृ. 226। (ब) डॉ. र. शं. त्रिपाठी : वही, पृ. 183-86।
2. ए. कनिंघम : ए. एस. आर., जिल्द 10, पृ. 102।
3. यहाँ इस काल में निर्मित मन्दिरों तथा मूर्तियों का परिचय इस प्रबन्ध के अध्याय 3 और 4 में।
4. (अ) डॉ. रा. व. पाण्डेय : वही, पृ. 271, 273। (ब) डॉ. र. शं. त्रिपाठी : वही, पृ. 225। (स) डॉ. रा. कृ. म. : वही, पृ. 122। (द) डॉ. मजूमदार आदि : भा. वृ. इ., पृ. 168, 171-72। (इ) गो. ला. तिवारी : वही, पृ. 25-26।
5. (अ) डॉ. रा. व. पाण्डेय : वही, पृ. 296। (ब) डॉ. र. शं. त्रिपाठी, वही, पृ. 237 तथा 258। (स) डॉ. आर. एस. त्रिपाठी : हिस्ट्री ऑफ़ कन्नौज (दिल्ली, 1959 ई.), पृ. 204-205। (द) डॉ. मजूमदार आदि : भा. वृ. इ., पृ. 176।
6. (अ) डॉ. रा. व. पाण्डेय : वही, पृ. 296। (ब) डॉ. आर. एस. त्रिपाठी : हि. क., पृ. 237। (स) डॉ. मजूमदार आदि : भा. वृ. इ., पृ. 176। (द) डॉ. मजूमदार आदि : एड. हि. इ., पृ. 163। (इ) डॉ. रा. कृ. मुकर्जी : वही, पृ. 129।
7. डॉ. रा. कृ. मुकर्जी : वही, पृ. 130।
8. (अ) डॉ. रा. व. पाण्डेय : वही, पृ. 297-98। (ब) डॉ. र. शं. त्रिपाठी : प्रा. भा. इ., पृ. 240-41। (स) डॉ. आर. एस. त्रिपाठी : हि. क., पृ. 237। (द) डॉ. आर. सी. मजूमदार, डॉ. गवचौधरी

यहाँ भोजदेव के महासामन्त विष्णुदेव पचिन्द का शासन था। श्री कनिंघम के अनुसार<sup>1</sup> यह भोजदेव वही है, जिसका उल्लेख 'ग्वालियर'<sup>2</sup> और 'पंहीवा'<sup>3</sup> (जिला करनाल, पंजाब) के अभिलेखों तथा राजतरंगिणी<sup>4</sup> में मिलता है। उनके अनुसार 'वरह'<sup>5</sup> के ताम्रपत्र में अभिलिखित वंशावली वाला भोजदेव भी यही है, जिसका शासन समूचे उत्तर-भारत पर विस्तृत था।<sup>6</sup>

धीरे-धीरे खजुराहो के चन्देले, ग्वालियर के कच्छपघात, धारा के परमार, मध्यभारत के कलचुरि और गुजरात के सोलंकी आदि स्वतन्त्र हो गये, और गुर्जर-प्रतिहारों का साम्राज्य छिन्न-भिन्न हो गया।<sup>7</sup>

## 6. चन्देल शासन

देवगढ़ पर चन्देलों का शासन दीर्घकाल तक रहा। यहाँ उस समय मूर्तियों, स्तम्भों तथा कुछ मन्दिरों के निर्माण के रूप में धार्मिक प्रवृत्तियाँ ही तीव्रतर नहीं हुईं बल्कि गिरि-दुर्ग के निर्माण के रूप में राजनीतिक गतिविधि भी तीव्र हो उठी। यहाँ कीर्तिवर्मन् का एक शिलालेख<sup>8</sup> भी प्राप्त हुआ है।<sup>9</sup>

## 7. मुगल, मराठा और अँगरेजी शासन

इसके पश्चात् देवगढ़ के इतिहास को जानने के साधन नगण्य हैं। इधर संवत्

आदि : एड. हि. ई., पृ. 169। (इ) डॉ. मजूमदार आदि : भा. वृ. इ., पृ. 183। (ट) गो. ला. तिचारी : यु. इ., पृ. 33 और 49।

1. मं.सं. 12 के अर्धमण्डप में दक्षिण-पूर्वी स्तम्भ पर उत्कीर्ण। अभिलेख पाठ के लिए दे.—परिशिष्ट दो, अभिलेख क्रमांक एक तथा एपीग्राफिया इण्डिका, भाग 4, पृ. 309 एवं भाग 5, पृ. 41।
2. दे.—ए. एस. आइ., जिल्द 10, पृ. 101। (अ) ग्वालियर अभिलेख (सं. 933) के लिए दे.—एपीग्राफिया इण्डिका, भाग 18, पृ. 99-114। (ब) एनुअल रिपोर्ट, ए. एस. आइ., 1903-4 ई., पृ. 277-85।
3. पंहीवा अभिलेख (882 ई.) के लिए दे.—एपीग्राफिया इण्डिका, भाग एक, पृ. 184-90।
4. इसकी रचना महाकवि कल्हण ने 12वीं शती के पूर्वार्ध में की। इसके विस्तृत परिचय के लिए दे.—डॉ. रामजी उपाध्याय : संस्कृत साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास (इलाहाबाद, 2018 वि.), पृ. 86-88।
5. वरह के ताम्रपत्र (वरह कापर प्लेट) के लिए दे.—एपीग्राफिया इण्डिका, भाग 19, पृ. 15-19।
6. ए. कनिंघम : ए. एस. आइ., जिल्द 10, पृ. 102।
7. विस्तार के लिए दे.—डॉ. रा. व. पाण्डेय : प्रा. भा., पृ. 305-319।
8. चर्चा की राजवाटी में उत्कीर्ण। अभिलेख पाठ के लिए दे. परिशिष्ट दो, अभिलेख क्रमांक दो।
9. यह अभिलेख एपीग्राफिया इण्डिका, भाग 5, पृ. 76 एवं कनिंघम के ए. एस. आइ., जिल्द 18, पृ. 237-39 पर प्रकाशित है।

36 :: देवगढ़ की जैन कला : एक सांस्कृतिक अध्ययन

1481-(1424 ई.) का एक अभिलेख प्राप्त हुआ है,<sup>1</sup> जिसमें माण्डू (मालवा) के सुल्तान होशंग गौरी (1405-32 ई.) का उल्लेख है। देवगढ़ पर चन्देलों के कुछ समय पश्चात् क्रमशः मुगलों, मराठों और अंगरेजों का अधिकार रहा।

## 8. वर्तमान रूप

देवगढ़ अब जिस रूप में है, उसका श्रेय मुख्यतः तीन व्यक्तियों को है। पहले स्व. श्री परमानन्द वरया हैं, जो करीब 40 वर्षों से अपना तन, मन और धन अर्पित करके इस क्षेत्र की सुरक्षा और सुव्यवस्था करते रहे। दूसरे श्री रामदयाल पुजारी हैं, जो आज भी क्षेत्र की सुचारु व्यवस्था में दत्तचित्त हैं। तीसरे श्री शिखरचन्द्र सिंघई हैं, जिनके मन्त्रित्व काल में यह क्षेत्र अनवरत प्रगति करता रहा।

1. मं. सं. 5 (सहस्रकूट जिनालय) के भीतर पूर्वी द्वार के ऊपर जड़ा हुआ।

## स्मारक

### प्रास्ताविक

प्रस्तुत अध्याय में देवगढ़ के सभी स्मारकों का, जिनमें मन्दिर, लघु-मन्दिर और मानस्तम्भ भी सम्मिलित हैं, सूक्ष्म सर्वेक्षण दिया गया है। स्मारकों की पैमाइश के अन्तर्गत उनके प्रायः सभी अंगों और उपांगों की लम्बाई, चौड़ाई, ऊँचाई आदि की पैमाइश भी की गयी है अतः सम्पूर्ण स्मारक का मानचित्र दृष्टि में उभर आता है। जिन स्मारकों की विन्यास-रेखा में अनेक कोण आदि की पेनीदगी है, उनका मानचित्र भी प्रस्तुत कर दिया गया है। जो स्मारक ध्वस्त हो चले हैं उनकी गोलीकता का अनुमान विखरे हुए अवशेषों, श्री कनिंघम आदि के विवरणों, चित्रों और शैलीगत विशेषताओं के आधार पर किया है।

पैमाइश के पश्चात् स्मारक के उद्देश्य, विन्यास-रेखा, दिशा, स्थिति, विभाग और मण्डप आदि मुख्य अंगों तथा स्तम्भ आदि उपांगों का विस्तृत सर्वेक्षण किया है। उनकी विशेषताओं, कलागत गुणावगुणों और शास्त्रीय विधानों आदि की चर्चा आगे के अध्यायों में की गयी है।

सर्वप्रथम मन्दिरों का सर्वेक्षण किया गया है। उनके क्रमांक, सुविधा की दृष्टि से वही स्वीकार किये गये हैं जो श्री साहनी द्वारा, उनके स्थितिक्रम से निर्धारित किये गये थे और जो कालान्तर में शिलाओं पर उत्कीर्ण कराये जाकर मन्दिरों से संलग्न कर दिये गये हैं। मन्दिरों के पश्चात् लघुमन्दिरों का और उनके पश्चात् मानस्तम्भों का सर्वेक्षण किया गया है। इनके क्रमांक सर्वप्रथम निर्धारित किये गये हैं। निर्धारण का आधार उनका स्थितिक्रम ही है।

मन्दिरों और लघु-मन्दिरों में स्थायी तथा अस्थायी रूप से स्थित मूर्तियों आदि की संख्या दी गयी है।

जैनेतर स्मारकों का परिचय मात्र दिया गया है, उनका स्थापत्य एवं कलागत विवेचन नहीं किया गया है।

38 :: देवगढ़ की जैन कला : एक सांस्कृतिक अध्ययन

## (अ) दीर्घाकार मन्दिर

### मन्दिर संख्या 1

#### माप

अधिष्ठान की लम्बाई (पूर्व-पश्चिम) 33 फुट 3 इंच  
अधिष्ठान की चौड़ाई (उत्तर-दक्षिण) 31 फुट 6 इंच  
अधिष्ठान की ऊँचाई 3 फुट 10 इंच  
मण्डप की लम्बाई (उत्तर-दक्षिण) 20 फुट 1½ इंच  
मण्डप की चौड़ाई (पूर्व-पश्चिम) 7 फुट 4 इंच  
लम्बाई में एक स्तम्भ से दूसरे स्तम्भ का अन्तर 5 फुट 1 इंच  
चौड़ाई में एक स्तम्भ से दूसरे स्तम्भ का अन्तर 5 फुट 6 इंच  
स्तम्भ की कुरसी समचतुष्कोण 1 फुट 1½ इंच  
मण्डप की ऊँचाई (अधिष्ठान से) 9 फुट 3 इंच

#### विवरण

इस पूर्वाभिमुख मन्दिर<sup>1</sup> का उल्लेख श्री कनिंघम<sup>2</sup> और श्री साहनी<sup>3</sup> ने मन्दिर संख्या दो के रूप में किया है। उन्होंने मन्दिर संख्या एक के रूप में किसी मन्दिर का उल्लेख नहीं किया, यह एक समस्या है। वर्तमान मन्दिर संख्या एक के दक्षिण में 9 फुट की दूरी पर लगभग 35 फुट 6 इंच × 40 फुट का एक अधिष्ठान<sup>4</sup> रहा प्रतीत होता है, जो श्री कनिंघम के समय अच्छी हालत में रहा होगा। इसे उन्होंने माना तो मन्दिर संख्या एक होगा परन्तु कुछ विशेष न होने से उसका उल्लेख न किया होगा। इस भवन अधिष्ठान के ऊपर दो स्तम्भ और एक तथाकथित मानस्तम्भ स्थित हैं, परन्तु ये सभी स्पष्ट ही बाद में स्थापित किये गये हैं।

यह पूर्वाभिमुख मन्दिर जो कभी 20 स्तम्भों पर आधारित रहा होगा<sup>5</sup> अब चार-चार स्तम्भों की दो पंक्तियों पर (चित्र सं. एक) आधारित है। स्तम्भों पर एक

1. दे. - चित्र संख्या एक।

2. एक कनिंघम : आन्वैज्ञानिकल सर्वे आफ इण्डिया रिपोर्ट्स (कलकत्ता, 1880), जि. 10, पृ. 104।

3. दयाराम साहनी : एनुअल प्रोग्रेस रिपोर्ट आफ दी सुपरिण्टेण्डेण्ट, हिन्दू एण्ड बुद्धिस्ट मानुमेण्ट्स, नार्दन सर्किल (लाहौर, 1918), पृ. 91।

4. दे. रेखाचित्र संख्या 37।

5. ए. कनिंघम : आ. स. इ. रि., जिल्ड 10, पृ. 104।

सादा मण्डप है, जिसका पुनर्निर्माण, श्री परमानन्द वरया के अनुसार और जैसा कि स्थिति के अध्ययन से स्पष्ट है, दो-तीन दशाब्दियों पूर्व हुआ था। मध्य के चार स्तम्भ इस मन्दिर के मौलिक अंश कहे जा सकते हैं, जबकि शेष चार या तो किसी अन्य मन्दिर के हैं या इसी मन्दिर के किसी अन्य स्थान के। स्तम्भों की प्रथम पंक्ति के मध्य भारतीय पुरातत्त्व विभाग द्वारा इसी तथा अन्य मन्दिरों की मूर्तियाँ अव्यवस्थित रूप में जड़ दी गयी हैं, जिनमें से अनेक उल्लेखनीय हैं।

## मन्दिर संख्या 2

### माप

अधिष्ठान की लम्बाई (पूर्व-पश्चिम) 24 फुट 7 इंच  
 अधिष्ठान की चौड़ाई (उत्तर-दक्षिण) 23 फुट 2 इंच  
 अधिष्ठान की ऊँचाई—समतल  
 मण्डप की चौड़ाई 7 फुट  
 अधिष्ठान से छत की ऊँचाई 8 फुट  
 गुमटी का अधिष्ठान समचतुष्कोण 8 फुट 4 इंच  
 अधिष्ठान से गुमटी के आधार की ऊँचाई 7 फुट 10 इंच  
 गुमटी की (उसके आधार से) ऊँचाई 7 फुट 6 इंच  
 गुमटी की परिधि 17 फुट

### विवरण

श्री कनिंघम ने इस मन्दिर<sup>1</sup> का उल्लेख नहीं किया, कदाचित् जंगल से आच्छादित होने से उनकी दृष्टि इसकी ओर नहीं गयी। सादी बनावट और गर्भगृह आदि के अभाव से हम इसे गुप्त-युग का मान सकते हैं। यह चार-चार स्तम्भों की चार पंक्तियों पर आधारित था परन्तु पूर्व के चारों स्तम्भ आज अदृश्य हैं, जिनमें से दो की चौकी आज भी विद्यमान है।

इन चारों स्तम्भों पर मण्डप रहा होगा, जिसकी सामग्री का उपयोग मन्दिर संख्या तीन के पूर्वी भाग में कर लिया गया है। बाहरी स्तम्भों का अन्तर शिलाखण्डों द्वारा बन्द है, अतः मन्दिर के मध्य में केवल दो स्तम्भ ही रह गये हैं, शेष 10 दीवार का अंग बन गये हैं।

इस पूर्वाभिमुख मन्दिर के पश्चिम में भी एक द्वार है, जिसे एक पत्थर की जाली से बन्द कर दिया गया है। इस द्वार की उपयोगिता आज कुछ भी नहीं दीखती

1. दे. —चित्र संख्या दो।

परन्तु अनुमान हे कि मन्दिर से लगा हुआ इसका कोई मण्डप और रहा होगा, जिसके अवशेष आज भी देखे जा सकते हैं।

मन्दिर में स्थायी रूप से मूर्तियों को स्थापित करने के लिए कोई वेदी नहीं है, इस कारण तथा पूर्व और पश्चिम की ओर के दो दरामदों या मण्डपों की सम्भावना से प्रतीत होता है कि यह भवन प्रारम्भ में मन्दिर के रूप में नहीं, बल्कि साधुओं या भट्टारकों आदि के निवास के रूप में उपयोग में लाया जाता होगा।

इस समय इसमें जो मूर्तियाँ स्थापित हैं, उनकी संख्या 10 है।

## मन्दिर संख्या 3

### माप

अधिष्ठान की लम्बाई (पूर्व-पश्चिम) 40 फुट 8 इंच

अधिष्ठान की चौड़ाई (उत्तर-दक्षिण) 37 फुट 9 इंच

अधिष्ठान की ऊँचाई 1 फुट 6 इंच

मण्डप की चौड़ाई 7 फुट 4 इंच

मण्डप के आगे के खुले चवूतरे की चौड़ाई 5 फुट 1 इंच

अधिष्ठान से छत की ऊँचाई 9 फुट 2 इंच

इस मन्दिर की पश्चिमी दीवार में दक्षिण में 2 फुट 9 इंच की दूरी पर अधिष्ठान से 3 फुट 8 इंच की ऊँचाई पर 4 फुट 4 इंच लम्बा और 5 इंच चौड़ा गवाक्ष जीर्णोद्धार के समय समाविष्ट कर दिया गया है।

दक्षिणी दीवार में 2 फुट 2 इंच × 1 फुट 8 इंच का एक जालीदार गवाक्ष अधिष्ठान से 4 फुट 6 इंच की ऊँचाई पर और पूर्व से 8 फुट की दूरी पर जीर्णोद्धार के समय समाविष्ट कर दिया गया है।

### विवरण

यह उत्तरमुख मन्दिर<sup>1</sup> आठ-आठ स्तम्भों (पूर्व-पश्चिम) की तीन और सात स्तम्भों की दो पंक्तियों पर आधारित है। प्रथम (पूर्व की ओर की) और द्वितीय स्तम्भ-पंक्ति पर खुला मण्डप और द्वितीय से पाँचवीं तक की स्तम्भपंक्ति पर मन्दिर आधारित है। बाहरी स्तम्भों के मध्य का अन्तर 1 फुट 10 इंच चौड़ी भित्ति से बन्द है, जिसमें 20 स्तम्भ भित्तियों में चिने हुए भीतर की ओर दिखाई पड़ते हैं।

इस मन्दिर में पूर्व की ओर दो द्वार हैं। प्रथम द्वार दूसरी स्तम्भ पंक्ति (पश्चिम से पूर्व) के द्वितीय और तृतीय स्तम्भ के मध्य और द्वितीय द्वार उसी पंक्ति के छठवें

1. दे.-चित्र संख्या तीन।

और सातवें स्तम्भ के मध्य में अवस्थित है। यह सम्पूर्ण मन्दिर चौथे और पांचवें स्तम्भ के मध्य (उत्तर-दक्षिण) 8 इंच चौड़ी एक भित्ति द्वारा दो भागों में विभाजित था, परन्तु अब उसके पश्चाद्द्वर्ती दो स्तम्भों के मध्य की भित्ति को तोड़कर एक विभाग से दूसरे विभाग से सम्बन्धित कर दिया गया है।

पश्चाद्द्वर्ती भित्ति से संयुक्त 2 फुट 2 इंच चौड़ी एक वेदी है। यह वेदी मन्दिर के पूर्वार्ध में 1 फुट ऊँची और उत्तरार्ध में 7 इंच ऊँची है। इस वेदी के साथ पश्चाद्द्वर्ती भित्ति और छत का जीर्णोद्धार किया गया है। इस मन्दिर के उत्तरार्ध की छत सपाट थी जैसी कि वह आज भी है, परन्तु पूर्वार्ध पर दूसरी मजिल भी थी। अत्यन्त ध्वस्त हो जाने से दूसरी मजिल की सामग्री को स्थानान्तरित कर अब छत को सपाट कर दिया गया है।

वर्तमान में इस मन्दिर में मौलिक और स्थायी रूप से समाविष्ट कोई मूर्ति नहीं है। पूर्वार्ध में अस्थायी रूप से भी कोई मूर्ति नहीं है, जबकि उत्तरार्ध में 26 शिलाफलक विद्यमान हैं और उन पर विभिन्न मूर्तियाँ अंकित हैं।

## मन्दिर संख्या 4

### माप

अधिष्ठान की लम्बाई (उत्तर-दक्षिण) 28 फुट 6 इंच

अधिष्ठान की चौड़ाई (पूर्व-पश्चिम) 24 फुट 8 इंच

अधिष्ठान की ऊँचाई 1 फुट 6 इंच

मण्डप की लम्बाई (पूर्व-पश्चिम) 7 फुट 3 इंच

मण्डप की चौड़ाई (उत्तर-दक्षिण) 4 फुट 11 इंच

मण्डप के बायें 1 फुट 6 इंच का और दायें 2 फुट 10 इंच का अन्तर देकर 1 फुट 9 इंच चौड़ी और 2 फुट 2 इंच ऊँची देवकुलिकाएँ हैं, जिनमें पद्मासन तीर्थंकर अंकित हैं।

पश्चिमी दीवार पर दक्षिण से 13 फुट 4 इंच की दूरी पर 3 फीट 1 इंच की ऊँचाई पर 1 फुट 9 इंच चौड़ी और 3 फुट 10 इंच ऊँची देवकुलिका में जीर्णोद्धार के समय अम्बिका की एक सुन्दर मूर्ति समाविष्ट कर दी गयी है :

अधिष्ठान से छत की ऊँचाई 10 फुट 3 इंच

छत से गुमटी के अधिष्ठान की ऊँचाई 10 इंच

गुमटी का अधिष्ठान समचतुष्कोण 6 फुट

गुमटी की परिधि 17 फुट

गुमटी की (उसके अधिष्ठान से) ऊँचाई 5 फुट 10 इंच

गुमटी के उत्तर-पूर्व के स्तम्भ में ऊपर चारों ओर टकहरी देवकुलिकाओं में



और शेष में दुहरी (एक के ऊपर एक) देवकुलिकाओं में पद्यासन या कायोत्सर्गासन तीर्थकरों, साधुओं और अम्बिका की प्रतिमाएँ और चरण अंकित हैं। पश्चिमोत्तर स्तम्भ के पश्चिम की ओर एक अस्पष्ट लेख उत्कीर्ण है।

### विवरण

मन्दिर संख्या तीन के सामने 18 स्तम्भों पर आधारित इस दक्षिणाभिमुख मन्दिर का कम से कम दो बार जीर्णोद्धार हुआ है, प्रथम बार बारहवीं शती में, जिसका संकेत प्रवेश द्वार के दायें पक्ष में उत्कीर्ण एक लेख में मिलता है और दूसरी बार लगभग 1917-18 में।<sup>1</sup>

आगे को निकले हुए दो स्तम्भ मण्डप का निर्माण करते हैं, जिसके ऊपर चार स्तम्भों पर आधारित एक सादी गुमटी है।

मण्डप के बाहर निकले हुए दोनों स्तम्भ असमान हैं। दायें स्तम्भ एक अतिरिक्त चौकी पर स्थित है। इस स्तम्भ की स्वयं की चौकी चतुष्कोण है और उसके चारों ओर विभिन्न देवियों का अंकन है। इसके ऊपर वह अष्टकोण हो जाता है। दोनों के चारों पहलुओं पर कीर्तिमुखों से झूमती हुई 1 फुट 3 इंच लम्बी साँकलों से लटक रही घण्टियाँ उत्कीर्ण हैं।

खजुराहो के घण्टई मन्दिर के स्तम्भों से इनका काफी साम्य है। ऐसा साम्य यहाँ के और भी मन्दिरों में दिखाई पड़ता है। इस स्तम्भ के चतुष्कोण शीर्ष के चारों ओर तीर्थकरों और उपाध्यायों की पद्यासन मूर्तियाँ अंकित हैं।

दायें स्तम्भ एक सादी चतुष्कोण चौकी पर स्थित है उसकी स्वतः की कोई चौकी नहीं है। इसके चतुष्कोण शीर्ष के चारों ओर उपाध्याय और तीर्थकरों का विविध आसनों में अंकन है।

प्रवेश-द्वार का अलंकरण भव्य है। मन्दिर के 18 स्तम्भों में से दो स्तम्भ मण्डप के अन्तर्गत हैं, 12 को दीवार में चिन् दिया गया है, जिन्हें भीतर से देखा जा सकता है और शेष चार मन्दिर के बीचोबीच स्थित हैं।

ये चारों स्तम्भ एक अतिरिक्त चतुष्कोण चौकी पर स्थित हैं। उनकी स्वयं की चौकी और शीर्ष चतुष्कोण और मध्य भाग अष्टकोण हैं। इनका साधारण अलंकरण इन्हें दीवार में चिने हुए 12 साधारण चतुष्कोण स्तम्भों से पृथक् करता है।

दीवारों में भीतर की ओर विभिन्न मूर्तियाँ जड़ी हुई हैं।

1. दे. -चित्र संख्या चार।

2. 'मं. सं. 4 के दक्षिण-पश्चिमी कोने से एक विशाल वृक्ष का हटाया जाना विशेष रूप से कठिन कार्य था क्योंकि उसकी जड़ों ने भवन को पहले ही शोचनीय हानि पहुँचा दी थी और आगामी कुछ ही वर्षों में वे उसे निःसन्देह रूप से ध्वस्त कर सकती थीं।' -दयाराम साहनी : ए. प्रो. रि., भाग 2 (लाहौर, 1918), पृ. 94

## मन्दिर संख्या 5 (सहस्रकूट चैत्यालय)

### माप

प्रथम अधिष्ठान समचतुष्कोण 18 फुट 2 इंच

प्रथम अधिष्ठान की ऊँचाई 2 फुट 6 इंच

द्वितीय अधिष्ठान समचतुष्कोण 11 फुट 7½ इंच

द्वितीय अधिष्ठान की ऊँचाई (प्रथम अधिष्ठान से) 2 फुट 1 इंच

प्रथम अधिष्ठान से शिखर के अधिष्ठान की ऊँचाई 12 फुट 4½ इंच

शिखर के अधिष्ठान से शिखर की प्रथम-मेखला 4 फुट 3 इंच

शिखर के अधिष्ठान से शिखर की अनुमानित ऊँचाई 13 फुट

### विवरण

इस मन्दिर<sup>1</sup> का नाम 'सहस्रकूट चैत्यालय'<sup>2</sup> पूर्णतः सार्थक है। 'कूट' का अर्थ है पर्वत-शिखर<sup>3</sup>, एक सहस्र चैत्यों (प्रतिमाओं) का आलय (स्थान) जहाँ हो, उसे 'सहस्रकूट चैत्यालय' नाम देना उचित ही है। वि. सं. 1503 में भी इसे सहस्रकूट चैत्यालय ही कहा जाता था जैसा कि इसके पूर्वी द्वार के भीतर की ओर ऊपर जड़े हुए एक शिलालेख की आठवीं पंक्ति से ज्ञात होता है। श्री कनिंघम ने किसी स्थानीय व्यक्ति के कहने से इसे 'लखपुतली का मन्दिर' कहा है।<sup>4</sup> यों यह नाम लाखों (अधिकता के लिए रूढ़) पुतलियों (प्रतिमाओं) का मन्दिर होने से सार्थक भी प्रतीत होता है।

यह मन्दिर पूर्वाभिमुख है, जैसा कि इसके शिखर की पहली मेखला में एक पुरुष और एक स्त्री के अंकन से स्पष्ट है। आजकल इसके पूर्वी द्वार को नहीं, प्रत्युत पश्चिमी द्वार को खुला रखा जाता है। दोनों द्वारों पर अत्यन्त उच्च कोटि का अलंकरण है।<sup>5</sup> उत्तर और दक्षिण में द्वार की आकृति का कटाव है और उसमें एक-एक अत्यन्त सुन्दर कपाट की बनावट में शिलाफलक संयोजित किया गया है।<sup>6</sup>

1. दे.—चित्र संख्या, पाँच।

2. सहस्रकूट के लिए दे.—चित्र संख्या आठ।

3. कूट—पर्वत शृंग, दे.—(अ) तारानाथ भट्टाचार्य : वाचस्पत्यम्, तृतीय भाग (वाराणसी, 1962), पृ. 2162। (ब) 'कूटोऽस्त्री शिखरं शृंगम्'। अमरसिंह : अमरकोष (काण्ड 2, वर्ग 3, श्लोक 4; वाराणसी, 1957), पृ. 121। (स) चतुर्वेदी; द्वारका प्रसाद शर्मा : संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ, इलाहाबाद, 1957, पृ. 343।

4. कनिंघम : ए. एस. आइ. आर., जिल्द 10, पृ. 104।

5. दे.—चित्र संख्या, छह और सात।

6. दे.—चित्र संख्या पाँच।

44 :: देवगढ़ की जैन कला : एक सांस्कृतिक अध्ययन

इस प्रकार कलाकार ने इन दोनों दिशाओं में भी एक-एक अच्छे-खासे बन्द दरवाजे का आभास उत्पन्न कर दिया है।

अपने आधार से 4 फुट 3 इंच ऊँची मेखला पर्यन्त शिखर 90° के कोण से ऊपर उठता है और फिर गोलाकार होता हुआ आमलक तक जाता है तथा लगभग एक फुट के दण्ड में समाप्त हो जाता है।

भीतर की ओर 7 फुट 2 इंच के समचतुष्कोण इस मन्दिर में 4 फुट का समचतुष्कोण और 8 फुट 10 इंच ऊँचा एक स्तम्भ स्थित है जिसपर 1008 तीर्थकर मूर्तियाँ अंकित हैं।

## मन्दिर संख्या 6

### माप

अधिष्ठान की लम्बाई (उत्तर-दक्षिण) 35 फुट 8 इंच  
अधिष्ठान की चौड़ाई (पूर्व-पश्चिम) 24 फुट 5 इंच  
अधिष्ठान की ऊँचाई 1 फुट 6 इंच  
मन्दिर की लम्बाई (पूर्व-पश्चिम) 13 फुट 4 इंच  
मन्दिर की चौड़ाई (उत्तर-दक्षिण) 8 फुट 7½ इंच  
अधिष्ठान से छत की ऊँचाई 9 फुट 3 इंच  
छत से शिखर के अधिष्ठान की ऊँचाई 1 फुट 4½ इंच  
छत से शिखर की ऊँचाई 6 फुट  
शिखर अटपहलू

चार स्तम्भों पर आधारित मण्डपवाले पूर्वाभिमुख इस लघु मन्दिर<sup>1</sup> में एक के अतिरिक्त शेष पाँच तीर्थकर मूर्तियाँ दीवार में चिनी हुई हैं।

इस मन्दिर में अनेक मूर्तियाँ कलागत वैशिष्ट्य के कारण उल्लेखनीय हैं।

## मन्दिर संख्या 7

### माप

प्रथम अधिष्ठान समचतुष्कोण 12 फुट 4½ इंच  
द्वितीय अधिष्ठान समचतुष्कोण 8 फुट 1½ इंच  
प्रथम अधिष्ठान की ऊँचाई 2 फुट 9 इंच  
द्वितीय अधिष्ठान की ऊँचाई (प्रथम अधिष्ठान से) 9 इंच

1. द. वि. संख्या नं०।

चरणपादुका की वेदी की ऊँचाई 3 इंच

चरणपादुका का शिलापट्ट समचतुष्कोण 2 फुट 5 इंच

इस चरणपादुका के शिलापट्ट की दायीं ओर एक 4 फुट 1 इंच × 11 इंच × 7 इंच के शिलापट्ट पर 24 तीर्थंकरों के चरण-चिह्न 12 पंक्तियों में उल्कीर्ण हैं। यह शिलापट्ट सरोवर के निकटवर्ती ध्वंसावशेषों में से लाकर यहाँ स्थापित किया गया है :

प्रथम अधिष्ठान से शिखर के अधिष्ठान की ऊँचाई 10 फुट 3 इंच

शिखर के अधिष्ठान से शिखर की ऊँचाई 6 फुट 9 इंच

शिखर की परिधि 16 फुट

### विवरण

यह पूर्वाभिमुख मन्दिर<sup>1</sup> चारों ओर से खुला है और चार स्तम्भों पर आधारित है। इसमें प्रवेश करने के लिए सोपान-मार्ग पूर्व में न होकर उत्तर और दक्षिण में हैं। इसकी छत का अन्तर्भाग अलंकृत है,<sup>2</sup> जो विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

इसमें चरण पादुकाओं के दो शिलाफलक<sup>3</sup> विद्यमान हैं।

### मन्दिर संख्या 8

#### माप

अधिष्ठान की लम्बाई (उत्तर-दक्षिण) 21 फुट 11 इंच

अधिष्ठान की चौड़ाई (पूर्व-पश्चिम) 20 फुट

अधिष्ठान की ऊँचाई 5 इंच

अधिष्ठान से छत की ऊँचाई 8 फुट 6 इंच

मन्दिर की लम्बाई 17 फुट 11 इंच और चौड़ाई 9 फुट 1 इंच

#### विवरण

आठ स्तम्भों पर आधारित लम्बाकार मण्डप और तीन द्वारों वाला यह पूर्वाभिमुख मन्दिर<sup>1</sup> किसी भी लक्षण से मन्दिर सिद्ध नहीं होता। अनुमान है कि इसमें साधु या कोई अन्य व्यक्ति निवास करते होंगे। अवश्य ही, प्रथम द्वार (दायें) की

1. दे.—चित्र संख्या 10।

2. अलंकरण के लिए दे.—चित्र संख्या 11।

3. दे.—चित्र संख्या 12।

4. दे.—चित्र संख्या 13।

चाखट के ऊपरी भाग में एक पद्मानन तीर्थंकर की मूर्ति अंकित है। परन्तु इस मन्दिर के अन्य द्वारों की भाँति इसका भी वह हिस्सा कभी जीर्णोद्धार के सन्दर्भ में बदल गया होगा। इसमें वर्तमान में 30 शिलापट्ट अस्थायी रूप से रखे हुए हैं। जिन पर विभिन्न प्रकार की मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं।

## मन्दिर संख्या 9

### माप

अधिष्ठान की ऊँचाई 8 इंच

मण्डप की लम्बाई (उत्तर-दक्षिण) 22 फुट 11 इंच

मण्डप की चौड़ाई (पूर्व-पश्चिम) 20 फुट 2 इंच

इसके पश्चात् आकार कम होकर वह माप रह जाता है :

गर्भगृह की लम्बाई (उत्तर-दक्षिण) 19 फुट 10 इंच

गर्भगृह की चौड़ाई (पूर्व-पश्चिम) 8 फुट

### विवरण

इस पूर्वाभिमुख मन्दिर के अग्रभाग (पूर्व) में एक चबूतरा है, जिसपर कदाचित् पहले अतिरिक्त मण्डप रहा होगा, जेसा कि इसपर बायीं ओर विद्यमान अधखण्डित दीवार तथा उष्णीय रखने के शेष शीर्षों से अनुमान होता है। इस चबूतरे की लम्बाई (पूर्व-पश्चिम) 11 फुट 9 इंच है और अधिष्ठान से छत की ऊँचाई 10 फुट 3 इंच है। छत सपाट है।

मन्दिर का प्रवेश-द्वार सुचारुता से अलंकृत है। गंगा-यमुना तथा अन्य देवी-देवताओं का अंकन बहुत सुन्दरता से हुआ है।

इस लघु मन्दिर के गर्भगृह में 6 इंच ऊँची, 1 फुट 10 इंच चौड़ी तथा 7 फुट 8 इंच लम्बी एक वेदी है, जिसपर बारह शिलाफलकों पर उत्कीर्ण विभिन्न मूर्तियाँ अस्थायी रूप से विद्यमान हैं।

## मन्दिर संख्या 10

### माप

अधिष्ठान समचतुष्कोण 12 फुट  $2\frac{1}{2}$  इंच

अधिष्ठान की ऊँचाई 1 फुट 2 इंच

अधिष्ठान से छत की ऊँचाई 8 फुट 10 इंच

शिखर के अधिष्ठान से शिखर की ऊँचाई 4 फुट 8 इंच

## विवरण

यह मन्दिर<sup>1</sup> चार अठपहलू स्तम्भों पर आधारित साधारण-से गुमटीदार मण्डप के रूप में है। इसके पश्चिमी स्तम्भों पर भीतर की ओर बने दोनों खँचों से अनुमान होता है कि यह इस ओर से बन्द रहा होगा। श्री वरयाजी ने इसका पर्याप्त जीर्णोद्धार कराया, परन्तु इसके मौलिक आकार पर पूर्ण ध्यान दिया।

इसके मध्य में (उत्तर से दक्षिण) एक पंक्ति में तीन चतुष्कोण स्तम्भ स्थित हैं।<sup>2</sup> इनमें से प्रत्येक की गुमटी खण्डित है।<sup>3</sup> जीर्णोद्धार के समय ये अस्त-व्यस्त स्थिति में थे, उन्हें उखाड़कर व्यवस्थित रूप से स्थापित करते समय दो के नीचे दो चतुष्कोण ताम्रपत्र भी प्राप्त हुए थे। यद्यपि वे जीर्ण-शीर्ण हो गये थे, परन्तु उन पर के कुछ बीजाक्षर स्पष्ट थे। कुछ से संवत् 1100 का आभास होता था। श्री वरयाजी के अनुसार उन्होंने इन दोनों ताम्रपत्रों को जीर्णोद्धार के समय ही पुनः उन्हीं स्तम्भों के नीचे स्थापित कर दिया।

इन तीनों स्तम्भों के चारों ओर देवकुलिकाओं में तीर्थकर, साधु, साध्वी और उदासीन श्रावकों की मूर्तियाँ अंकित हैं और कई अभिलेख उत्कीर्ण हैं।

## मन्दिर संख्या 11

### माप

मन्दिर की लम्बाई (उत्तर-दक्षिण) 40 फुट 4 इंच

मन्दिर की चौड़ाई (पूर्व-पश्चिम) 30 फुट

अधिष्ठान समतल एवं मन्दिराकार

अधिष्ठान से पहले खण्ड की ऊँचाई 8 फुट 1 इंच

पहले खण्ड की छत से दूसरे खण्ड की छत की ऊँचाई 9 फुट 3 इंच

ऊपर की गुमटी की ऊँचाई 3 फुट 9 इंच

ऊपर की गुमटी की परिधि 5 फुट 1 इंच

### विवरण

यह<sup>4</sup> उत्तराभिमुख मन्दिर<sup>5</sup> पंचायतन शैली का पूर्वरूप प्रतीत होता है। मण्डप,

1. दे-चित्र संख्या 14।

2. वही।

3. वही।

4. दे-चित्र संख्या 15।

5. दे-इस मन्दिर की विन्यास रूपरेखा, चित्र क्र. 38।

महामण्डप और गर्भगृह इसे निरन्धार प्रासाद<sup>1</sup> सिद्ध करते हैं। इसके बहिर्भाग पर सादी पॉक्तियाँ हैं।

यह उल्लेखनीय है कि देवगढ़ के मन्दिरों में दुर्भोजिले दो अपवादों में से यह दूसरा है। मं. सं. 3 (पूर्वी भाग) अब इकमंजिला ही कर दिया गया है, परन्तु यह अपने पूर्वरूप में ही विद्यमान है।

आठ स्तम्भों पर आधारित इसके लम्बे मण्डप को अर्धमण्डप की अपेक्षा मण्डप ही कहना अधिक उपयुक्त होगा। प्रवेश-द्वार सुन्दरता से अलंकृत है। महामण्डप में, भित्तियों में चित्रे हुए 12 स्तम्भों के अतिरिक्त चार मध्यवर्ती स्तम्भ हैं। गर्भगृह में तीन तीर्थकर मूर्तियाँ स्थापित हैं, जिनमें से एक-दूसरे खण्ड से लाकर रखी गयी हैं।

उत्तर-पूर्व के कोने में दूसरे खण्ड के लिए सोपान-मार्ग हैं<sup>2</sup>, जिसका जीर्णोद्धार 1938 ई. में जिनन्द्र-गजरथ-प्रतिष्ठा महोत्सव के समय कराया गया था।

दूसरे खण्ड पर महामण्डप का द्वार विशेष रूप से अलंकृत है और उसपर अंकित मर्दानिकाएँ तथा अन्य मूर्तियाँ खजुराहो-कला का स्मरण दिलाती हैं। महामण्डप में 25 शिलाफलकों में से 18 पर कायोत्सर्ग और 7 पर पद्यासन तीर्थकर मूर्तियाँ अंकित हैं। गर्भगृह का प्रवेश-द्वार सुचारुता से अलंकृत है। उसमें वेदी पर पाँच तीर्थकर मूर्तियाँ स्थापित हैं, जिनमें से एक नवीन सफेद संगमरमर की है।

दूसरे खण्ड की छत पर (गर्भगृह के ऊपर) एक लघु शिखराकार पाषाणखण्ड जीर्णोद्धार के समय स्थापित कर दिया गया है।

## मन्दिर संख्या 12

### माप

अर्धमण्डप की लम्बाई (उत्तर-दक्षिण) 12 फुट 8 इंच

अर्धमण्डप की चौड़ाई (पूर्व-पश्चिम) 11 फुट 9 इंच

अर्धमण्डप की छत की ऊँचाई 13 फुट 8 इंच

अर्धम. और महाम. के बीच के चबूतरे की लम्बाई (उ.-द.) 42 फुट 9 इंच

चौड़ाई (पू.-प.) 16 फुट 4 इंच<sup>3</sup>

ऊँचाई 3 फुट 5 इंच

1. ऐसा प्रासाद जिसमें प्रदक्षिणा पथ नहीं होता।

2. दे.--इस मन्दिर की विन्यास रूपरेखा चित्र क्र. 38।

3. (अ) श्री कनिंघम ने इसे 16 फुट 7 इंच नापा था। दे.--एच. एस. आर्. आर्., जिल्ड 10, पृ. 101। (ब) श्री फुह्यर ने इस 16 फुट 9 इंच ही नापा। दे. मा. ए. ई., पृ. 120।

महामण्डप का अधिष्ठान समचतुष्कोण 42 फुट 9 इंच<sup>1</sup>  
 महामण्डप के अधिष्ठान की ऊँचाई 2 फुट 10 इंच  
 अन्तराल और महामण्डप के बीच का अन्तर 6 इंच  
 अन्तराल की लम्बाई (उ.-द.) 10 फुट  
 अन्तराल की चौड़ाई (पू.-प.) 7 फुट 2 इंच  
 अन्तराल के बायीं ओर की मढ़िया की लम्बाई (उ.-द.) 9 फुट 9 इंच  
 अन्तराल के बायीं ओर की मढ़िया की चौड़ाई (पू.-प.) 7 फुट 2 इंच  
 अन्तराल के बायीं ओर की अधिष्ठान की ऊँचाई 1 फुट 7 इंच  
 अन्तराल के दायीं ओर की मढ़िया की लम्बाई (उ.-द.) 10 फुट 6 इंच  
 अन्तराल के दायीं ओर की मढ़िया की चौड़ाई (पू.-प.) 7 फुट 2 इंच  
 अन्तराल के दायीं ओर की अधिष्ठान की ऊँचाई 1 फुट 9 इंच  
 प्रदक्षिणा पथ के अधिष्ठान की लम्बाई (पू.-प.) 40 फुट 5 इंच  
 प्रदक्षिणा पथ के अधिष्ठान की चौड़ाई (उ.-द.) 35 फुट<sup>2</sup>  
 प्रदक्षिणा पथ की चौड़ाई (भीतर की ओर) 4 फुट 3 इंच  
 प्रदक्षिणा पथ के अधिष्ठान की ऊँचाई 2 फुट 9 इंच  
 सतह से महामण्डप के छत की ऊँचाई 15 फुट 4 इंच  
 सतह से प्रदक्षिणा पथ के छत की ऊँचाई 17 फुट  
 छत से अंग शिखर की ऊँचाई 22 फुट  
 छत से सम्पूर्ण शिखर की अनुमानित ऊँचाई 45 फुट

### विवरण

इस अत्यन्त भव्य पश्चिमाभिमुख मन्दिर<sup>3</sup> के आकार-प्रकार में अनेक सम्भावनाएँ छिपी हैं। वर्तमान में यह पंचायतन शैली<sup>4</sup> का सन्धार प्रासाद<sup>5</sup> है। हम सर्वप्रथम अर्धमण्डप<sup>6</sup> में प्रवेश करते हैं। उसमें से छह सीढ़ियों द्वारा एक चौड़े चवूतरे

1. श्री कनिंघम और फुहरर—दोनों ने ही इसे 42 फुट 3 इंच समचतुष्कोण नापा था। दे. -क्रमशः (अ) ए. एस्. आइ. आर., जि. 10, पृ. 100। (ब) मा. ए. ड., पृ. 120।
2. श्री कनिंघम और श्री फुहरर ने इसका माप 39 फुट 2 इंच + 34 फुट 3 इंच प्रस्ताव किया है। दे.—(अ) कनिंघम : वही, पृ. 100। (ब) फुहरर : वही, पृ. 120।
3. दे.—चित्र संख्या 16 में 25 तक।
4. पंचायतन शैली के दो रूप प्रचलित थे, प्रथम रूप में वे मन्दिर आते हैं जिनमें मण्डप, महामण्डप, अन्तराल, गभंगृह और प्रदक्षिणापथ वे पाँच अंग (आयतन) होते हैं, द्वितीय रूप में वे मन्दिर आते हैं जिनके चारों कोनों पर एक-एक मन्दिर (1 + 4 = 5) और होते हैं।
5. ऐसा प्रासाद जिसमें प्रदक्षिणा पथ होता है।
6. दे.—चित्र संख्या 16।

50 :: देवगढ़ की जैन कला : एक सांस्कृतिक अध्ययन



पर आते हैं। तब छह-छह स्तम्भों की छह पंक्तियों पर आधारित<sup>1</sup> एक भव्य महामण्डप में प्रवेश करते हैं, जिसके बायें मं. सं. 13 और मं. सं. 14 की दक्षिणी दीवारें स्थित हैं।

इन दीवारों और महामण्डप<sup>2</sup> के बीच लगभग 3 फुट का जो अन्तर था, उसमें महामण्डप के फर्श से 1 फुट 6 इंच ऊँची और 42 फुट लम्बी वेदी बना दी गयी है और उसपर 20 शिलापट्ट स्थापित किये गये हैं। जिनमें से दो पर पद्मासन और शेष पर कायोत्सर्गासन तीर्थंकर मूर्तियाँ अंकित हैं।

महामण्डप से अन्तराल में पहुँचा जाता है जिसके दायें-बायें एक-एक मढ़िया विद्यमान हैं। बायीं ओर की मढ़िया में विंशतिभुजी चक्रेश्वरी (चि. सं. 99) और दायीं ओर पद्मावती (चित्र सं. 106) यक्षी की मूर्तियाँ थीं, जिन्हें अब वहाँ से धर्मशाला में स्थानान्तरित कर दिया गया है।

प्रदक्षिणा पथ में 51 शिलाफलक स्थापित हैं, जिनमें से छह पर पद्मासन और शेष पर कायोत्सर्गासन तीर्थंकरों की विशालाकार मूर्तियाँ अंकित हैं। इनमें से 15 अभिलिखित हैं।

अन्तराल से चार सीढ़ियों द्वारा उतरकर गर्भगृह में पहुँचा जाता है। इसमें एक विशालाकार कायोत्सर्गासन तीर्थंकर मूर्ति (चित्र सं. 51) है, जो वहाँ की मौलिक मूर्ति है। इसके अतिरिक्त प्रवेश-द्वार से सटी हुई दायें-बायें दो तथा विशालाकार मूर्ति के दोनों ओर एक-एक चँवरधारी की और उनके भी पश्चात् एक-एक अम्बिका की मूर्तियाँ विद्यमान हैं।

यह वहाँ का ऐतिहासिक और भव्य मन्दिर है। इसके महामण्डप में अठारह लिपियों और भाषाओं वाला 'ज्ञानशिला' नामक सुप्रसिद्ध अभिलेख प्राप्त हुआ है।<sup>3</sup> इसी के अर्धमण्डप के एक स्तम्भ पर गुर्जर-प्रतिहारवंशी राजा भोज का समय और राज्यसीमा निर्धारित करनेवाला अभिलेख उत्कीर्ण है।<sup>4</sup> इसके प्रवेशद्वार<sup>5</sup> और शिखर<sup>6</sup> अत्यन्त कलापूर्ण तथा भव्य हैं। इसके प्रदक्षिणा पथ की बहिर्भित्तियों पर जैन शासन-देवियों की सुन्दर और महत्वपूर्ण मूर्तियाँ<sup>7</sup> अंकित हैं।

1. दे.- महामण्डप की विन्यास रूपरेखा, चित्र क्र. 9 तथा चित्र संख्या 17।

2. दे.- चित्र संख्या 17।

3. दे.- चित्र संख्या 49।

4. अभिलेख के लिए दे.- परिशिष्ट दो, अभिलेख क्र. एक।

5. दे.- चित्र संख्या 18।

6. दे.- चित्र संख्या 24 और 25।

7. दे.- चित्र 101, 102

## मन्दिर संख्या 13

### माप

अधिष्ठान की लम्बाई (पू.-प.) 35 फुट

अधिष्ठान की चौड़ाई (उ.-द.) 18 फुट

अधिष्ठान—समतल

मण्डप की लम्बाई (पू.-प.) 25 फुट 6 इंच

मण्डप की चौड़ाई (उ.-द.) 8 फुट 5 इंच

गर्भगृह की लम्बाई (उ.-द.) 8 फुट 5 इंच

गर्भगृह की चौड़ाई (पू.-प.) 6 फुट 2 इंच

अधिष्ठान से छत की ऊँचाई 10 फुट

### विवरण

इस मन्दिर का मण्डप उत्तराभिमुख है, जबकि इसका गर्भगृह पूर्वमुख है। इसके मण्डप में विद्यमान 20 शिलापट्टों पर विभिन्न तीर्थकरों की कायोत्सर्गासन और पद्मासन मूर्तियाँ अंकित हैं। गर्भगृह में चार वेदियों पर विद्यमान सात शिलापट्टों पर तीर्थकरों की आठ मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। इस मन्दिर द्वी अनेक मूर्तियाँ कला और सज्जा की दृष्टि से उल्लेखनीय हैं।

## मन्दिर संख्या 14

### माप

अधिष्ठान की लम्बाई (पू.-प.) 26 फुट

अधिष्ठान की चौड़ाई (उ.-द.) 25 फुट 6½ इंच

अधिष्ठान की ऊँचाई 8 इंच

अधिष्ठान से मण्डप के अधिष्ठान की ऊँचाई 9½ इंच

अधिष्ठान से मण्डप की छत की ऊँचाई 8 फुट 5 इंच

अधिष्ठान से गर्भगृह की छत की ऊँचाई 10 फुट 1 इंच

### विवरण

आठ चतुष्कोण स्तम्भों पर आधारित मण्डप में से इस मन्दिर के गर्भगृह में प्रवेश करते ही सहसा यह विश्वास नहीं होता कि यह भवन मूलरूप में मन्दिर रहा होगा। प्रथम तो इसमें बहुत अधिक परिवर्तन और परिवर्धन किया गया है, दूसरे इसमें एक मन्दिर की अपेक्षा निवासस्थान के लक्षण अधिक प्रतीत होते हैं।

वर्तमान में गर्भगृह को 5 फुट 10 इंच ऊँचे शिलाफलकों की दीवार खड़ी कर

52 :: देवगढ़ की जैन कला : एक सांस्कृतिक अध्ययन

दो कक्षों में विभाजित कर दिया गया है और प्रत्येक कक्ष में 3 फुट 5 इंच ऊँचे और 1 फुट 9½ इंच चौड़े एक-एक द्वार समाविष्ट हैं। दायें कक्ष में छह शिलापट्टों पर छह कायोत्सर्गासन तीर्थंकर मूर्तियाँ तथा बायें कक्ष में सात शिलापट्टों पर विभिन्न तीर्थंकर मूर्तियाँ अंकित हैं। दायें कक्ष की तीन और बायें कक्ष की एक मूर्ति अभिलिखित हैं।

## मन्दिर संख्या 15

### माप

मन्दिर की लम्बाई (पू.-प.) 36 फुट 2 इंच  
 मन्दिर की चौड़ाई (उ.-द.) 31 फुट 1 इंच  
 अधिष्ठान (मन्दिराकार) की ऊँचाई 3 फुट 3 इंच  
 छत से गुमटी के अधिष्ठान की ऊँचाई 2 फुट 8 इंच  
 गुमटी का अधिष्ठान समचतुष्कोण 8 फुट 10 इंच  
 छत से शिखर के आधार की ऊँचाई 13 फुट 1 इंच  
 शिखर के आधार से शिखर की ऊँचाई 9 फुट  
 शिखर की परिधि 21 फुट 8 इंच

### विवरण

इस पश्चिमाभिमुख मन्दिर<sup>1</sup> के आठ स्तम्भों पर आधारित अर्धमण्डप में पाँच शिलापट्ट विद्यमान हैं, जिनमें से चार अपनी वेदियों पर अवस्थित हैं। उनमें से दो पर पद्मासन और तीन पर कायोत्सर्गासन तीर्थंकर मूर्तियाँ अंकित हैं तथा एक पर एक पंक्ति का लेख उत्कीर्ण है। प्रवेश-द्वार की चौखट सुचारुता से अलंकृत है।

महामण्डप चार-चार स्तम्भों की चार पंक्तियों पर आधारित है। उसमें 18 शिलापट्ट रखे हैं जिनमें से छह लघुवेदियों पर हैं और दो पर एक-एक पंक्ति के लेख उत्कीर्ण हैं। बाहरी ओर के 12 स्तम्भ दीवार में चिने हुए हैं और शेष चार मध्य में स्थित हैं जो अत्यन्त अलंकृत हैं।

महामण्डप की चारों दिशाओं में एक-एक गर्भगृह की स्थिति<sup>2</sup> से स्पष्ट है कि यह मन्दिर पंचायतन शैली का है। पश्चिमी गर्भगृह अर्धमण्डप का भी कार्य करता है और उसके दायें और बायें एक-एक वेदी है। उत्तरी गर्भगृह में बाहर की ओर एक विशाल पद्मासन और उसके दोनों ओर एक-एक कायोत्सर्गासन तीर्थंकर मूर्तियाँ स्थापित हैं। भीतर की ओर अनेक मूर्तिखण्ड रखे हैं।

1. दे. - चित्र संख्या 26।

2. इस मन्दिर की समग्र स्थिति की जानकारी के लिए देखिए-- विन्यास रूपरेखा, चित्र क्र. 40।

पूर्वी गर्भगृह में बाहर की ओर द्वार पर गंगा-यमुना एवं भीतर एक विशाल पद्मासन और उसके दोनों ओर एक-एक कायोत्सर्गासन तीर्थंकर मूर्तियाँ स्थित हैं।

इस गर्भगृह के भीतरी ओर जो बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ<sup>1</sup> की पद्मासन<sup>2</sup> मूर्ति स्थित है वह प्राचीन कला का एक उत्कृष्ट उदाहरण है। इस मूर्ति के बायीं ओर पार्श्वनाथ की एक पद्मासन मूर्ति भी अवस्थित है। दक्षिणी गर्भगृह की बाहरी ओर दो कायोत्सर्गासन मूर्तियाँ हैं, जिनके मध्य अब एक लौह-द्वार है। अनुमान है कि इस द्वार के स्थान पर कोई मूर्ति रही होगी जो या तो नष्ट हो गयी या स्थानान्तरित कर दी गयी है। इस गर्भगृह के भीतर अनेक मूर्ति-खण्ड भरे पड़े हैं।

## मन्दिर संख्या 16

### माप

अधिष्ठान की लम्बाई (उ.-द.) 49 फुट 4 इंच

अधिष्ठान की चौड़ाई (पू.-प.) 29 फुट 10 इंच

अधिष्ठान की ऊँचाई 1 फुट

अधिष्ठान से अर्धमण्डप की छत की ऊँचाई 10 फुट 2 इंच

अधिष्ठान से महामण्डप की छत की ऊँचाई 11 फुट

महामण्डप की छत से गुमटी के छत की ऊँचाई 7 फुट

गुमटी की छत से शिखर की ऊँचाई 8 फुट 8 इंच

गुमटी की परिधि 16 फुट 5 इंच

### विवरण

चार अलंकृत स्तम्भों पर आधारित मण्डप और छह-छह स्तम्भों की तीन पंक्तियों पर आधारित एक लम्बे महामण्डप से युक्त यह पश्चिमाभिमुख मन्दिर<sup>3</sup> अपने मूल रूप में नहीं रह सका है। ऊँची साधारण-सी गुमटीवाला इसका मण्डप देवगढ़ के स्थापत्य में विशेष कहा जा सकता है। द्वार का तोरण अलंकृत है।

महामण्डप के बाहरी 14 स्तम्भों को दीवार में चिन दिया गया है, अतः इसके मध्य केवल चार स्तम्भ ही बच रहे हैं।

महामण्डप में 25 विशालाकार शिलापट्टों में से आठ पर पद्मासन तथा 16 पर कायोत्सर्गासन तीर्थंकरों की तथा एक पर अम्बिका की मूर्तियाँ अंकित हैं।

1. चित्र सं. 54

2. यह मूर्ति नेमिनाथ की ही है, महाघोर की नहीं, विस्तार के लिए दे. -पृ. 158-59।

3. दे.-चित्र संख्या 27।

## मन्दिर संख्या 17

### माप

अधिष्ठान की लम्बाई (उ.-द.) 41 फुट 8 इंच  
अधिष्ठान की चौड़ाई (पू.-प.) 42 फुट 2 इंच  
अधिष्ठान की ऊँचाई 2 फुट 5 इंच  
मण्डप (पू.-प.) 8 फुट  
महामण्डप की लम्बाई (पू.-प.) 34 फुट  
महामण्डप की चौड़ाई (उ.-द.) 24 फुट 6 इंच  
अधिष्ठान से छत की ऊँचाई 10 फुट 11 इंच  
छत पर विद्यमान गुमटी के अधिष्ठान की ऊँचाई 10 इंच  
छत से गुमटी के छत की ऊँचाई 8 फुट 9 इंच  
गुमटी के आधार की ऊँचाई 1 फुट 1 इंच  
गुमटी के छत से शिखर की ऊँचाई 7 फुट 6 इंच  
शिखर की परिधि 14 फुट 10 इंच

### विवरण

इस पश्चिमाभिमुख मन्दिर के मण्डप में सामने के चार स्तम्भों के अतिरिक्त अन्य चार स्तम्भ दीवार में चिने हुए हैं। मण्डप में तीन शिलापट्टों पर कायोत्सर्गासन तीर्थकर मूर्तियाँ अंकित हैं। प्रवेश-द्वार सामान्य रूप से अलंकृत है, उसका सिरदल (उष्णीष) बदला हुआ प्रतीत होता है, जबकि शेष अंश अपने मूल रूप में हैं। इसका सामान्य जीर्णोद्धार हुआ है। इसके महामण्डप में मध्यवर्ती चार स्तम्भ अपनी मूलस्थिति में प्रतीत होते हैं। शेष 12 स्तम्भ दीवारों में चिने हुए देखे जा सकते हैं। इस महामण्डप में विद्यमान 31 शिलापट्टों में से 22 पर कायोत्सर्गासन और शेष पर पद्यासन तीर्थकर मूर्तियाँ अंकित हैं।

## मन्दिर संख्या 18

### माप

अधिष्ठान की लम्बाई (उ.-द.) 67 फुट 6 इंच  
अधिष्ठान की चौड़ाई (पू.-प.) 26 फुट 9 इंच  
अधिष्ठान की ऊँचाई 4 फुट  
मण्डप के आगे के छायाहीन चयूतरे की लम्बाई (पू.-प.) 26 फुट 9 इंच  
मण्डप के आगे के छायाहीन चयूतरे की चौड़ाई (उ.-द.) 25 फुट 6 इंच

मण्डप के चबूतरे के अधिष्ठान की ऊँचाई 1 फुट 10 इंच  
 चबूतरे के छत की ऊँचाई 12 फुट 6 इंच  
 छत से शिखर के आधार की ऊँचाई 9 इंच  
 शिखर के आधार से शिखर की ऊँचाई 12 फुट 6 इंच

आधार से 90° के कोण तक 4 फुट 10 इंच और इसके पश्चात् शिखर अठपहलू हो जाता है।

### विवरण

यह दक्षिणाभिमुख मन्दिर<sup>1</sup> अपनी निर्माण-शैली में खजुराहो के स्मारकों-जैसा प्रतीत होता है। इसकी अधिकांश पृष्ठभूमि अपने मौलिक रूप में है। इसके सामने के चबूतरे पर खजुराहो के 'घण्टई-मन्दिर' जैसे दो स्तम्भ खड़े हैं। इसके बाद के मण्डप में सामने के चार स्तम्भों के अतिरिक्त शेष चार स्तम्भ दीवार में चिने हुए देखे जा सकते हैं। मण्डप में विद्यमान सात शिलापट्टों में से तीन पर पद्मासन और शेष पर कायोत्सर्गासन तीर्थकर उत्कीर्ण हैं।

महामण्डप का प्रवेश-द्वार अत्यन्त सुन्दरता से अलंकृत है और उसपर अंकित मदनिकाएँ, युग्म, धार्मिक, सामाजिक एवं संगीत प्रधान दृश्य खजुराहो-कला का स्मरण दिलाते हैं। महामण्डप के मध्यवर्ती चार स्तम्भों के अतिरिक्त शेष 12 स्तम्भ दीवारों में चिने हुए दीख पड़ते हैं। इसमें विद्यमान 19 शिलापट्टों में से ग्यारह पर पद्मासन और आठ पर कायोत्सर्गासन तीर्थकर मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं।

इस मन्दिर<sup>2</sup> के गर्भगृह के प्रवेश-द्वार का सिरदल बहुत नीचा है। प्रतीत होता है कि चौखट का ऊपरी भाग बदला तो है ही, स्थानापन्न प्रस्तर खण्ड छोटा भी है। द्वारपक्षों पर गंगा-यमुना का मनोरम अंकन है। गर्भगृह में पाँच शिलापट्ट जड़े हुए हैं। गर्भगृह में अवस्थित 7 फुट 7 इंच × 2 फुट 2½ इंच की विशालाकार कायोत्सर्गासन मूर्ति इस मन्दिर के दोनों प्रवेश-द्वारों में से अन्दर नहीं आ सकती। अतः अनुमान है कि पहले मूर्ति स्थापित करके बाद में गर्भगृह का निर्माण किया गया और द्वार फोड़कर उसे मूल-मन्दिर से सम्बन्धित कर दिया गया होगा।

### मन्दिर संख्या 19

#### माप

अधिष्ठान की लम्बाई (उ.-द.) 40 फुट

अधिष्ठान की चौड़ाई (पू.-प.) 28 फुट

1. दे. - चित्र संख्या 28।

2. दे. - इस मन्दिर की विन्यास रूपरेखा, चित्र क्र. 41।

अधिष्ठान की ऊँचाई 8 इंच  
 अधिष्ठान से छत की ऊँचाई 10 फुट 2 इंच  
 छत से गुमटी के अधिष्ठान की ऊँचाई 1 फुट 5 इंच  
 छत से गुमटी के छत की ऊँचाई 11 फुट 10 इंच  
 गुमटी की छत से गुमटी की शिखर की ऊँचाई 7 फुट 3 इंच  
 शिखर की परिधि 16 फुट 9 इंच

### विवरण

इस दक्षिणाभिमुख मन्दिर के मण्डप में सामने के चार स्तम्भों के अतिरिक्त शेष चार स्तम्भ दीवार में चिने हुए हैं। प्रवेश-द्वार गंगा-यमुना, नाग-नागी, तीर्थकर मूर्तियों तथा वाहवली और भरत चक्रवर्ती की मूर्तियों से सुसज्जित है। इस मन्दिर के मध्यवर्ती चार स्तम्भों के अतिरिक्त शेष 12 स्तम्भ दीवारों में चिने हुए देखे जा सकते हैं। इसमें 12 शिलापट्ट विद्यमान हैं। इनमें से सात के अत्यन्त सुन्दर सिर किन्हीं मूर्तिभंजकों द्वारा 1959 ई. में काट लिये गये हैं।

### मन्दिर संख्या 20

#### माप

अधिष्ठान, मन्दिराकार, 3 इंच ऊँचा  
 मन्दिर की लम्बाई (पू.-प.) 25 फुट 8 इंच  
 मन्दिर की चौड़ाई (उ.-द.) 23 फुट 8 इंच  
 अधिष्ठान से छत की ऊँचाई 10 फुट

### विवरण

इस दक्षिणाभिमुख मन्दिर का प्रवेश-द्वार गंगा-यमुना और तीर्थकर मूर्ति आदि के अंकन से अलंकृत है। इसके मण्डप के मध्यवर्ती चार 12 पहलू स्तम्भों के अतिरिक्त शेष 12 स्तम्भ दीवारों में चिने हुए देखे जा सकते हैं। इस मण्डप में 27 शिलापट्टों पर 14 कायोत्सर्गासन और 13 पद्मासन तीर्थकर मूर्तियाँ अंकित हैं। इसके गर्भगृह के द्वार पर साधारण अलंकरण है। गर्भगृह में पाँच शिलापट्टों पर (तीन पद्मासन और दो कायोत्सर्गासन) मूर्तियों का अंकन है। भगवान् महावीर की पद्मासन मूर्ति अत्यन्त सुन्दर है।

### मन्दिर संख्या 21

#### माप

मन्दिर की लम्बाई (पू.-प.) 34 फुट 10 इंच

मन्दिर की चौड़ाई (उ.-द.) 10 फुट 11 इंच

मन्दिर का अधिष्ठान समतल

इस मन्दिर में पूर्व और पश्चिम में एक-एक कक्ष और उनके मध्य में एक मण्डप है। मण्डप की लम्बाई 18 फुट 6 इंच है तथा पूर्व और पश्चिम के कक्षों की लम्बाई 8 फुट 2 इंच है।

### विवरण

यह समतल मन्दिर<sup>1</sup> प्राचीन-स्मारक के स्थान पर एक नवीन कृति है। इसमें पूर्व और पश्चिम में एक-दूसरे के सामने द्वारवाले दो कक्ष हैं। इनके मध्य में एक मण्डप है, जिसके मध्यवर्ती दो स्तम्भों के अतिरिक्त शेष छह स्तम्भ भित्तियों में चिने हुए हैं। मण्डप में एक स्तम्भ-खण्ड रखा है, जिसपर छह पवित्रियों का एक अभिलेख है।

इसके अतिरिक्त एक कायोत्सर्ग तीर्थकर की खण्डित मूर्ति भी मण्डप में स्थित है।

### पश्चिम का पूर्वाभिमुख कक्ष

इसमें विद्यमान आठ शिलापट्टों में से एक पर पद्मासन और सात पर कायोत्सर्गासन तीर्थकर मूर्तियाँ अंकित हैं। इनमें से तीन पर अभिलेख हैं।

1959 ई. में इस कक्ष की एक अत्यन्त भव्य मूर्ति का सिर मूर्तिभंजकों द्वारा काट लिया गया है।

### पूर्व का पश्चिमाभिमुख कक्ष

इसमें आठ शिलापट्ट विद्यमान हैं। इस कक्ष की चार अत्यन्त सुन्दर मूर्तियों के सिर मूर्तिभंजकों द्वारा 1959 ई. में काटकर ले जाये गये हैं। सिरविहीन होकर भी मूर्तियाँ बहुत प्रभावक हैं।

## मन्दिर संख्या 22

### माप

मन्दिर की लम्बाई (उ.-द.) 6 फुट 9 इंच

मन्दिर की चौड़ाई (पू.-प.) 5 फुट 2 इंच

अधिष्ठान (मन्दिराकार) की ऊँचाई 5 इंच

अधिष्ठान से छत की ऊँचाई 7 फुट 8 इंच

1. दे. -चित्र संख्या 29।



छत से शिखर के आधार की ऊँचाई 10 इंच  
छत से शिखर की ऊँचाई 6 फुट 4 इंच  
शिखर की परिधि 14 फुट 4 इंच

### विवरण

इस दक्षिणाभिमुख मन्दिर<sup>1</sup> का मण्डप दो स्तम्भों और प्रवेश-द्वार के उष्णीष पर आधारित है। प्रवेश-द्वार साधारण अलंकृत है, सिरदल पर एक पंक्ति का अभिलेख उत्कीर्ण है। दीवारों के बहिर्भाग पर तीनों ओर अलंकृत शिखराकृतियों का अंकन है।

इसके गर्भगृह में विद्यमान तीन शिलापट्टों पर तीन पद्मासन तीर्थकर उत्कीर्ण हैं।

### मन्दिर संख्या 23

#### माप

मन्दिर की लम्बाई (उ.-द.) 14 फुट 10 इंच  
मन्दिर की चौड़ाई (पू.-प.) 8 फुट  
मन्दिर के सामने बड़ा हुआ अधिष्ठान 6 फुट 10 इंच  
सतह से अधिष्ठान की ऊँचाई 2 फुट 8 इंच  
अधिष्ठान से छत की ऊँचाई 6 फुट 3 इंच  
छत से गुमटी के आधार की ऊँचाई 10 इंच  
छत से गुमटी की ऊँचाई 5 फुट 3 इंच  
गुमटी चतुष्कोण

#### विवरण

यह मन्दिर अपने आकार-प्रकार से सहस्रकूट चैत्यालय का आभास देता है। गर्भगृह के सामने अतिरिक्त अधिष्ठान कदाचित् मण्डप का अवशेष है। प्रवेश-द्वार अत्यन्त भव्यता से अलंकृत है। उसके सिरदल पर 22वें तीर्थकर नेमिनाथ के यक्ष पार्श्व का स्पष्ट अंकन है। गर्भगृह में 1 फुट 6 इंच ऊँची, 1 फुट 7 इंच चौड़ी और 3 फुट 10 इंच लम्बी वेदी पर एक भी मूल मूर्ति स्थापित नहीं है।

गर्भगृह में अवस्थित पाँच शिलापट्टों में से तीन पर कायोत्सर्गासन और एक पर पद्मासन तीर्थकर तथा एक पर अम्बिका यक्षी अंकित है।

1. दे. निच संख्या 30।

## मन्दिर संख्या 24

### माप

अधिष्ठान की लम्बाई (उ.-द.) 15 फुट 2 इंच

अधिष्ठान की चौड़ाई (पू.-प.) 9 फुट 3 इंच

अधिष्ठान की ऊँचाई 2 फुट 5 इंच

अधिष्ठान से मण्डप की छत की ऊँचाई 7 फुट 7 इंच

अधिष्ठान से गर्भगृह की छत की ऊँचाई 7 फुट 11 इंच

गर्भगृह की छत से गुमटी के आधार की ऊँचाई 9 इंच

गर्भगृह की छत से शिखर की ऊँचाई 7 फुट 11 इंच

गुमटी अठपहलू

### विवरण

यह दक्षिणाभिमुख मन्दिर अधिष्ठान और उसके ऊपर लगभग दो फुट की ऊँचाई तक हो मूलरूप में अवशिष्ट है। जीर्णोद्धार के समय इसे इसके मूलरूप के अनुरूप ही निर्मित कराया गया है। सर्वप्रथम हम इसके एक साधारण मण्डप में से अलंकृत प्रवेश-द्वार तक पहुँचते हैं, जिसपर गंगा-यमुना तथा अन्य अलंकरणों के साथ तीर्थकर मूर्तियों का अंकन हुआ है। द्वार के सिरदल पर एक पवित्र का एक अभिलेख उत्कीर्ण है।

गर्भगृह में पाँच शिलाफलक भित्तियों में चिने हुए हैं। इनमें से दो अभिलिखित हैं। विद्यमान शिलापट्टों में से तीन पर पद्मासन और एक पर कायोत्सर्गासन तीर्थकर मूर्तियाँ तथा एक पर धरणेन्द्र पद्मावती (यक्ष-यक्षी) का अंकन है।

## मन्दिर संख्या 25

### माप

अधिष्ठान की लम्बाई (पू.-प.) 25 फुट 10 इंच

अधिष्ठान की चौड़ाई (उ.-द.) 15 फुट 10 इंच

अधिष्ठान की ऊँचाई 1 फुट 1 इंच

अधिष्ठान से मण्डप की छत की ऊँचाई 7 फुट 7 इंच

अधिष्ठान से गर्भगृह की छत की ऊँचाई 8 फुट 6 इंच

गर्भगृह की छत से शिखर की ऊँचाई 5 फुट 5 इंच

शिखर में 14 मेखलाएँ (चतुष्कोण)

60 :: देवागढ़ की जैन कला : एक सांस्कृतिक अध्ययन

## विवरण

इस पूर्वाभिमुख मन्दिर का मण्डप चार स्तम्भों पर आधारित है, सामने के दो स्तम्भों के अतिरिक्त शेष दो स्तम्भ भित्तियों में चिने हुए हैं। प्रवेश-द्वार साधारण है। उसके सिरदल के मध्य में कायोत्सर्गासन पार्श्वनाथ का अंकन है। इस मूर्ति के बायें एक पवित्र का अभिलेख भी उत्कीर्ण है।

गर्भगृह में पाँच शिलापट्ट अवस्थित हैं, जिनमें से दो पर पद्मासन और शेष पर कायोत्सर्गासन तीर्थंकर मूर्तियों का अंकन है। एक मूर्ति अभिलिखित भी है।

## मन्दिर संख्या 26

### माप

मन्दिर की लम्बाई (पू.-प.) 29 फुट 10 इंच

मन्दिर की चौड़ाई (उ.-द.) 18 फुट 9 इंच

अधिष्ठान मन्दिराकार समतल

अधिष्ठान (सतह) से मण्डप की छत की ऊँचाई 9 फुट 9 इंच

अधिष्ठान से गर्भगृह की छत की ऊँचाई 8 फुट 5 इंच

### विवरण

इस पूर्वाभिमुख मन्दिर का मण्डप आठ स्तम्भों पर आधारित है। सामने के मध्यवर्ती दो स्तम्भों के अतिरिक्त शेष छह भित्तियों से सटे हुए हैं। मण्डप के दायें और बायें 3 फुट 7 इंच ऊँचे, 8 फुट 1 इंच लम्बे तथा 2 फुट 10 इंच चौड़े चवतूर हैं।

मण्डप में पाँच शिलापट्ट विद्यमान हैं, जिनमें से एक पर मात्र भामण्डल शेष है, सम्भवतः उसपर की मूर्ति काट ली गयी है।

प्रवेश-द्वार सामान्य अलंकृत है, इसके सिरदल पर मध्य में पंच फणावलयिकृत कायोत्सर्ग सुपार्श्वनाथ का अंकन है। गर्भगृह के मध्यवर्ती दो के अतिरिक्त शेष सभी 10 स्तम्भ भित्तियों में चिने हुए हैं। सभी स्तम्भ सादे और चतुष्कोण हैं।

गर्भगृह में 13 प्रस्तर खण्ड विद्यमान हैं, उनमें से सात पर अभिलेख हैं। यहाँ की कुछ अत्यन्त सुन्दर मूर्तियों के सिर 1959 ई. में मूर्तिभंजकों द्वारा काट लिये गये हैं, जिनमें एक मूर्ति धरणेन्द्र-पद्मावती की भी है।

1. उ. चिन संख्या 31।

## मन्दिर संख्या 27

### माप

अधिष्ठान की लम्बाई (पू.-प.) 23 फुट  
अधिष्ठान की चौड़ाई (उ.-द.) 13 फुट 9 इंच  
अधिष्ठान (समतल) से छत की ऊँचाई 6 फुट 11 इंच  
छत से शिखर की ऊँचाई 6 फुट 7 इंच  
शिखर का आधार (उ.-द.) 6 फुट 8 इंच  
शिखर का आधार (पू.-प.) 5 फुट 9 इंच  
शिखर—मेखलावद्ध

### विवरण

इस पूर्वाभिमुख मन्दिर<sup>1</sup> का मण्डप स्तम्भों पर आधारित न होकर दीवारों से आवृत है। मण्डप के प्रवेशद्वार के सिरद्वार पर 22वें तीर्थंकर नेमिनाथ का पदासन में और उनके दायें पार्श्वनाथ तथा बायें सुपार्श्वनाथ का कायोत्सर्गासन में अंकन हुआ है। इसके पार्श्व में दायीं ओर एक पंक्ति का अभिलेख भी उत्कीर्ण है। गर्भगृह के द्वार के ऊपर मध्य में कायोत्सर्गासन ऋषभनाथ अंकित हैं।

गर्भगृह में अवस्थित दो शिलापट्टों में से एक पर चौवीसी का अंकन है।

## मन्दिर संख्या 28

### माप

अधिष्ठान की लम्बाई (उ.-द.) 30 फुट 8 इंच  
अधिष्ठान की चौड़ाई (पू.-प.) 21 फुट  
अधिष्ठान की ऊँचाई—समतल  
मन्दिर की लम्बाई (उ.-द.) 25 फुट 11 इंच  
मन्दिर की चौड़ाई (पू.-प.) 16 फुट  
मण्डप की छत की ऊँचाई 9 फुट 8 इंच  
गर्भगृह की छत की ऊँचाई 11 फुट 6 इंच  
अंग-शिखर की 90° के कोण तक ऊँचाई (गर्भगृह की छत से) 6 फुट 8 इंच  
उसके ऊपर बने त्रिकोण की अनुमानित ऊँचाई 5 फुट  
मुख्य शिखर की अनुमानित ऊँचाई (गर्भगृह की छत से) 25 फुट

62 :: देवगढ़ की जैन कला : एक सांस्कृतिक अध्ययन

## विवरण

पृणभद्र शर्मा<sup>1</sup> में निर्मित दक्षिणाभिमुख इस मन्दिर<sup>2</sup> का अर्धमण्डप वर्तमान में छायाहीन अवस्था में है।<sup>3</sup> उसके सामने के दो स्तम्भों के चिह्नों से और मण्डप की छत से इसकी छत के जुड़े होने के स्पष्ट प्रमाणों से निश्चित है कि इसपर छाया थी। मण्डप का प्रवेश-द्वार अलंकृत है।<sup>4</sup>

मण्डप का आकार बहुत छोटा है और उसमें प्रवेश करते ही हम तुरन्त गर्भगृह के साधारण-से द्वार में पहुँचते हैं। गर्भगृह 1 फुट 10 इंच गहरा है, जिसमें दो सीढ़ियों द्वारा उतरा जाता है।

इसमें सात शिलापट्ट विद्यमान हैं, जिनमें से दो पर पद्मासन और शेष पर कायोत्सर्गासन तीर्थकर मूर्तियों का अंकन है और तीन अभिलिखित हैं।

मुख्य शिखर अधिष्ठान से प्रारम्भ होता है और लगभग 16 फुट तक कम और उसके ऊपर अधिकाधिक पतला होता जाता है। दक्षिण में (प्रवेश-द्वार के ऊपर) एक अंगशिखर<sup>5</sup> है जिसपर सुन्दर अलंकरण एवं परिकर के मध्य तीर्थकर मूर्तियाँ जड़ी हैं।

इसकी एक देवकुतिका का तोरण और मुख्य मूर्ति टूटकर गिर गयी थी। जीर्णोद्धार के समय दूसरी मूर्ति तो वहाँ स्थापित कर दी गयी है, परन्तु तोरण आज भी अनुपस्थित है।

## मन्दिर संख्या 29

### माप

मन्दिर की लम्बाई (पू.-प.) 12 फुट 3 इंच

मन्दिर की चौड़ाई (उ.-द.) 12 फुट

अधिष्ठान--समतल

अधिष्ठान से छत की ऊँचाई 7 फुट

### विवरण

सामान्य अलंकरण और सिरदल पर तीन तीर्थकर मूर्तियों के अंकन से युक्त प्रवेश-द्वारवाले इस पश्चिमाभिमुख मन्दिर में एकमात्र लघु कक्ष है। इसकी वेदी पर

1. इसके लक्षण विस्तार के लिए दे. अपराजितापृच्छा (बड़ीदा, 1950 ई.), 164-10।
2. दे.—चित्र संख्या 32।
3. इस मन्दिर के स्थिति-विस्तार आदि के लिए दे.—विन्यास रूपरेखा, चित्र क्र. 42।
4. दे.—चित्र संख्या 33।
5. दे. चित्र संख्या 39।

उह शिलापट्ट स्थित हैं। इनमें से एक (संवत् 1201 अभिलिखित) चौवीसी और दूसरा किसी विशाल मूर्ति के अलंकरण का अंश, महत्त्वपूर्ण हैं। चौवीसी के पृष्ठ भाग में, एक शिलापट्ट पर मात्र भामण्डल और सिंहासन शेष हैं। अनुमान है कि इसकी मूर्ति किसी मूर्तिभंजक द्वारा काट ली गयी है।

## मन्दिर संख्या 30

### माप

अधिष्ठान की लम्बाई (पू.-प.) 24 फुट 4 इंच  
 अधिष्ठान की चौड़ाई (उ.-द.) 15 फुट 10 इंच  
 अधिष्ठान—समतल  
 अधिष्ठान से छत की ऊँचाई 10 फुट 3 इंच

### विवरण

यह पश्चिमाभिमुख मन्दिर<sup>1</sup> आठ स्तम्भों पर आधारित है और उसका मण्डप 6 फुट 9 इंच चौड़ा और 9 फुट 5 इंच लम्बा है। इसका प्रवेश-द्वार सामान्य रूप से अलंकृत है और उसके सिरदल पर तीन तीर्थकर मूर्तियों का अंकन है। इसके गर्भगृह में मध्यवर्ती दो स्तम्भों के अतिरिक्त शेष आठ स्तम्भ दीवारों में चिने हुए हैं। इसमें तीन वेदियाँ हैं पर मूल-मूर्ति एक भी नहीं है।

गर्भगृह में 12 शिलापट्ट विद्यमान हैं। इनमें से तीन अभिलिखित हैं। श्री साहनी ने इस मन्दिर में 4 फुट 5 इंच की एक कार्यात्सर्गासन मूर्ति के सिंहासन पर एक अभिलेख की सूचना दी है।<sup>2</sup> वह लेख यहाँ सिंहासन पर स्थित एक मूर्तिविहीन सिंहासन पर अंकित है। इस मन्दिर में शय्या पर लेटी 'जिन-माता' का अंकन बहुत मध्य है।

## मन्दिर संख्या 31

### माप

अधिष्ठान की लम्बाई (पू.-प.) 14 फुट  
 अधिष्ठान की चौड़ाई (उ.-द.) 12 फुट 9 इंच  
 अधिष्ठान—समतल  
 अधिष्ठान से छत की ऊँचाई 9 फुट

1. दे. -चित्र संख्या 34।

2. एन्. प्रो. रि. 1917-18, पृ. 20।

## विवरण

इस दक्षिणार्धमुख मन्दिर<sup>1</sup> का प्रवेश-द्वार<sup>2</sup> अपने उच्चकोटि के अलंकरण के लिए उल्लेखनीय है। दोनों पक्षों पर सबसे नीचे गंगा-यमुना और तिरडल पर दायें पुस्तक एवं वीणाधारिणी सरस्वती तथा मध्य में तीर्थकर शान्तिनाथ का अंकन है, जर्वाक बायीं ओर की देवी खण्डित हां चुकी है। तीर्थकर मूर्तियों के दोनों ओर अंकित देव-देवियों में नाग ओर नागी का अंकन देवगढ़ में विरल ही दृष्टिगत होता है। अलंकरण के अन्तर्गत (द्वारपक्षों पर) अनेक देवों को एक-एक ऊँचे मुड्डे पर अर्धस्थित अवस्था में अंकित दिखाया गया है।

गर्भगृह में वेदिका पर शंखचिह्न से अंकित एकमात्र शिलापट्ट स्थापित है, जिस पर 22वें तीर्थकर नेमिनाम की एक विशालाकार पद्मासन मूर्ति उत्कीर्ण है।

## (ब) लघु मन्दिर

### लघु मन्दिर : संख्या 1

(मन्दिर संख्या 12 के दक्षिण में पूर्व की ओर स्थित) :

#### माप

अधिष्ठान की लम्बाई (उ.-द.) 12 फुट 8 इंच

अधिष्ठान की चौड़ाई (पू.-प.) 8 फुट 6 इंच

अधिष्ठान-समतल

अधिष्ठान से गण्डप की छत की ऊँचाई 7 फुट 5 इंच

अधिष्ठान से गर्भगृह की ऊँचाई 8 फुट

#### विवरण

यह लघु, किन्तु कई दृष्टियों से महत्त्वपूर्ण, उत्तरमुख मन्दिर अपने मूलरूप में पूर्णतः विद्यमान है। इसका चार स्तम्भों पर आधारित गण्डप साधारण और प्रवेश-द्वार भव्यता से अलंकृत है। प्रत्येक भित्ति के बहिर्भाग पर चार स्तम्भाकृतियों हैं, और उनके मध्य में एक-एक शिखरयुक्त देवकुलिका का अंकन है, जिनमें एक-एक पद्मासन सार्धकर का अंकन है। गर्भगृह में पाँच शिलापट्ट स्थित हैं, जिनमें दो पर पद्मासन और शेष पर कायोत्सगासन तीर्थकर उत्कीर्ण हैं।

1. द. - संख्या संख्या 36।

2. द. - संख्या संख्या 35।

## लघु मन्दिर : संख्या 2

(मन्दिर संख्या 12 के दक्षिण में मध्य का (मण्डपविहीन)।) :

### माप

अधिष्ठान मन्दिराकार समतल

मन्दिर की लम्बाई (पू.-प.) 5 फुट 10 इंच

मन्दिर की चौड़ाई (उ.-द.) 5 फुट 9 इंच

अधिष्ठान से छत की ऊँचाई 7 फुट 2 इंच

### विवरण

यह उत्तरमुख मन्दिर भी अपने मूल-रूप में स्थित है। इसका प्रवेश-द्वार साधारण है। पार्श्व की भित्तियों पर पाँच-पाँच और पीछे की भित्ति पर चार अलंकृत स्तम्भाकृतियाँ विद्यमान हैं। इसके गभंगृह में तीन शिलापत्र विद्यमान हैं, उनमें से एक पर कायोत्सर्गासन और शेष पर पद्मासन तीर्थकर मूर्तियाँ अंकित हैं।

## लघु मन्दिर : संख्या 3

(मन्दिर संख्या 12 के दक्षिण में पश्चिमी ओर स्थित मण्डप) :

### माप

अधिष्ठान (मण्डपाकार)

मण्डप की लम्बाई (पू.-प.) 8 फुट

मण्डप की चौड़ाई (उ.-द.) 7 फुट 1 इंच

अधिष्ठान से छत की ऊँचाई 11 फुट 1 इंच

### विवरण

यह तीन ओर से खुला हुआ आधुनिक मण्डपाकार मन्दिर<sup>1</sup> है, जिसका निर्माण एक विशालाकार (7 फुट 3 इंच × 2 फुट 2 इंच) तीर्थकर मूर्ति को छाया देने के लिए किया गया है। इस मूर्ति के वायी ओर का चोंचरधारी सम्भवतः काटकर ले जाया गया है।

## लघु मन्दिर : संख्या 4

(मन्दिर संख्या 13 के सामने स्थित) :

### माप

अधिष्ठान—समतल

1. दे. चित्र संख्या 46।



मन्दिर समचतुष्कोण 5 फुट 7 इंच  
 अधिष्ठान से छत की ऊँचाई 7 फुट 3 इंच  
 छत से शिखर की ऊँचाई 5 फुट 6 इंच  
 शिखर की परिधि 15 फुट 5 इंच

### विवरण

दर्शगार्गभमुख यह एक गुमटीदार लघु मन्दिर है, जिसका जीर्णोद्धार बहुत बड़ी मात्रा में किया गया है।

प्रवेश-द्वार साधारणतः अलंकृत है, द्वार-पक्षों पर नीचे गंगा-यमुना और सिरदल पर मध्य में एक पद्मासन तीर्थंकर अंकित हैं। पश्चिमी भित्ति पर चार स्तम्भाकृतियाँ हैं, और उनके मध्य में एक शिखरयुक्त मण्डपाकृति में एक कायोत्सर्गासन तीर्थंकर उत्कीर्ण हैं।

उत्तरी ओर पूर्वी दीवार पर भी वही दृश्य अंकित है, परन्तु पूर्वी दीवार पर शिखरयुक्त मण्डपाकृति मध्य में न होकर तीसरे और चौथे स्तम्भों के मध्य में है।

इसके गर्भगृह में एक 5 इंच ऊँची, 2 फुट 7 इंच लम्बी और 1 फुट 3 इंच चौड़ी वेदी है, जिसपर कायोत्सर्गासन पार्श्वनाथ की मूर्ति स्थापित है। कदाचित् यह यहाँ की मूल-मूर्ति है। इसके अतिरिक्त यहाँ दो शिलापट्ट और अवस्थित हैं, जिनपर पद्मासन तीर्थंकर मूर्तियाँ अंकित हैं।

### लघु मन्दिर : संख्या 5

(मन्दिर संख्या 15 के पीछे स्थित बड़ी मढ़िया) :

#### माप

अधिष्ठान मन्दिरान्तर  
 मन्दिर की लम्बाई (पु.-प.) 12 फुट 6 इंच  
 मन्दिर की चौड़ाई (उ.-द.) 8 फुट  
 अधिष्ठान से छत की ऊँचाई 7 फुट 9 इंच

#### विवरण

यह पश्चिमगार्गभमुख मन्दिर अपने मूलरूप में ही स्थित प्रतीत होता है। इसके प्रवेश-द्वार के सिरदल के मध्य में एक कायोत्सर्गासन तीर्थंकर अंकित हैं। इसकी बहिर्भित्ति सपाट किन्तु योजनावद्ध है। इससे इसकी प्राचीनता का बोध होता है। अनुमान है कि इसपर भी गुमटी रही होगी, जो अब नहीं है। इसकी पूर्वी भित्ति से उत्तर की ओर नवनिर्मित जैन चतारदीवारी जुड़ जाती है।

इसके गर्भगृह में अभी तीन ओर निर्मित छोटी वेदियाँ पर छह शिलापट्ट स्थित हैं, जिनमें से तीन पर कायोत्सर्गासन और शेष पर पद्मासन मूर्तियाँ अंकित हैं।

## लघु मन्दिर : संख्या 6

(मन्दिर संख्या 15 के पीछे स्थित छोटी मढ़िया) :

### माप

अधिष्ठान मन्दिराकार

मन्दिर समचतुष्कोण 5 फुट 2 इंच

अधिष्ठान से छत की ऊँचाई 6 फुट 4 इंच

### विवरण

यह पश्चिमाभिमुख लघु मन्दिर अधिकांशतः अपने मूलरूप में सुरक्षित है। इसका प्रवेश-द्वार साधारण अलंकृत है। सिरदल के मध्य में पद्मासन तीर्थंकर अंकित हैं। भित्तियों पर, स्तम्भाकृतियों और उनके मध्य के स्थानों पर सुन्दर पद्मावली का अलंकरण है। इसका एक-प्रस्तरीय छत उल्लेखनीय है। इसके गर्भगृह में तीनों ओर नव-निर्मित लघु वेदियों पर पाँच शिलापट्ट अधिष्ठित हैं, जिनमें से एक पर पद्मारासन और शेष पर कायोत्सर्गासन तीर्थंकरों का अंकन है।

## लघु मन्दिर : संख्या 7

(मन्दिर संख्या 19 के सामने स्थित) :

### माप

अधिष्ठान मन्दिराकार 1 फुट ऊँचा

मन्दिर समचतुष्कोण 5 फुट 9 इंच

अधिष्ठान से छत की ऊँचाई 6 फुट 6 इंच

### विवरण

यह उत्तराभिमुख लघु मन्दिर अपने मूल-रूप में अर्वास्थित है। यद्यपि इसमें जीर्णोद्धार का पर्याप्त कार्य हुआ है। प्रवेश-द्वार साधारण अलंकृत है। वहिर्भित्तियों पर सामान्य-सज्जा के साथ चार-चार स्तम्भाकृतियाँ अंकित हैं। गर्भगृह में स्थित चार शिलाफलकों में से एक पर पद्मासन और शेष पर कायोत्सर्गासन मूर्तियाँ उल्कीर्ण हैं।

## लघु मन्दिर : संख्या 8

(मन्दिर संख्या 26 के उत्तर में स्थित) :

### माप

अधिष्ठान की लम्बाई (पू.-प.) 21 फुट 7 इंच

अधिष्ठान की चौड़ाई (उ.-द.) 8 फुट 1 इंच

अधिष्ठान से छत की ऊँचाई 7 फुट

68 : देवगढ़ की जैन कला : एक सांस्कृतिक अध्ययन

## विवरण

यह पूर्वाभिमुख मन्दिर किसी प्राचीन ध्वस्त स्मारक के स्थान पर जीर्णोद्धार के समय निर्मित आधुनिक भवन है। इसके साधारण अलंकृत प्रवेश-द्वार के सिरदल के मध्य में कायोत्सर्गासन तीर्थकर अंकित हैं। इसके गर्भगृह में विद्यमान चार शिलापट्टों पर पाँच मूर्तियाँ (चार कायोत्सर्गासन और एक पद्मासन) उत्कीर्ण हैं। एक मूर्ति पर अभिलेख भी है।

## लघु मन्दिर : संख्या 9

(मन्दिर संख्या 27 के दक्षिण में स्थित) :

### माप

अधिष्ठान की लम्बाई (पू.-प.) 21 फुट 5 इंच  
अधिष्ठान की चौड़ाई (उ.-द.) 13 फुट 10 इंच  
अधिष्ठान से छत की ऊँचाई 6 फुट 10 इंच

## विवरण

यह पूर्वाभिमुख मन्दिर दो कक्षों में विभाजित है, दोनों में प्रवेश हेतु स्वतन्त्र द्वार हैं। यह पूर्णतः खण्डित किसी भवन पर निर्मित प्राचीन शैली का आधुनिक मन्दिर है। इसके बायें कक्ष में अवस्थित दो शिलाफलकों पर दो पद्मासन और दो कायोत्सर्गासन तीर्थकर मूर्तियाँ अंकित हैं तथा दायें कक्ष में केवल एक शिलापट्ट विद्यमान है, इसपर दो कायोत्सर्गासन तीर्थकर मूर्तियाँ अंकित हैं और दो छोटे-छोटे अभिलेख अंकित हैं।

## (स) स्तम्भ

मन्दिर संख्या 1 के पीछे स्थित सादा स्तम्भ

### स्तम्भ संख्या 1

### माप

ऊँचाई 5 फुट 3 इंच  
परिधि 3 फुट 1 इंच

## विवरण

यह एक सादा स्तम्भ है। यह एक अनगढ़ पापाण के अधिष्ठान पर स्थित है। इसके ऊपर चार देवकुलिकाओं में चार कायोत्सर्गासन तीर्थकर मूर्तियों का सुन्दरता से अंकन है। दक्षिणी देवकुलिका में आठवें तीर्थकर चन्द्रप्रभ का चिह्न 'अर्ध चन्द्र' स्पष्ट रूप से अंकित है।

इस स्तम्भ के पूर्वी भाग में 10 इंच × 10 इंच माप का 9 पंक्तियों का एक अभिलेख अंकित है जिसमें संवत् 1493 में मत्स्येन्द्र नामक विरही श्रावक के द्वारा की गयी मूर्ति-स्थापना का विवरण दिया गया है।

**मन्दिर संख्या 1 के पीछे उत्तर में स्थित तथाकथित मानस्तम्भ**

### स्तम्भ संख्या 2

#### माप

सतह से चौकी की ऊँचाई 9 इंच  
चौकी से स्तम्भ की ऊँचाई 9 फुट 6 इंच  
अठपहलू रूप

#### विवरण

चौकी पर स्थित इस स्तम्भ<sup>1</sup> के निचले भाग में (10½ इंच ऊँची) चार देवकुलिकाओं में जैन-शासन देवियों और देव क्रमशः अम्बिका, चक्रेश्वरी, पद्मावती और धरणेन्द्र अंकित दिखाये गये हैं। इन देवकुलिकाओं के ऊपर (स्तम्भ के मध्य में) कीर्तिमुखों से चारों ओर घण्टियाँ झूल रही हैं। इसके ऊपर चारों ओर की देवकुलिकाओं में से तीन में पद्मासन तीर्थंकर-मूर्तियों और दक्षिण में उपाध्याय परमेष्ठी की मूर्ति उपदेश-मुद्रा में अंकित हैं।

उपाध्याय की मूर्ति के आसन के निकट दृष्ट्यार मेज भी अंकित है, उनकी पीछी-कमण्डलु भी अंकित हैं तथा उनके बायीं ओर एक करवन्द भवन आसीन दिखाया गया है।

पश्चिमी देवकुलिका के तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ पंच-फणावलि सहित अंकित हैं, जबकि शेष दो तीर्थंकर मूर्तियाँ चिह्नविहीन हैं या उनके चिह्न नष्ट हो गये हैं।

**मन्दिर संख्या 1 के पीछे (मध्यवर्ती) मानस्तम्भ**

### स्तम्भ संख्या 3

#### माप

सतह से चौकी की ऊँचाई 1 फुट 9 इंच  
चौकी से स्तम्भ की ऊँचाई 14 फुट 1 इंच

1. दे. चित्र संख्या 43 में स्तम्भ सं. दो।

## विवरण

चौकी पर अवस्थित इस मानस्तम्भ<sup>1</sup> में नीचे के हिस्से में चारों ओर देवकुलिकाएँ हैं, जिनमें क्रमशः दक्षिण में नाग, पश्चिम में नागी, उत्तर में अपने वाहन सिंह सहित अभिका अपने दोनों बालकों तथा आम्रगुच्छक सहित अंकित हैं और पूर्व में चक्रेश्वरी देवी अपने वाहन गरुड़ पर आरूढ़ दिखाई गयी हैं। इनकी मुद्राएँ अत्यन्त ऋजु और सज्जा बहुत सुन्दर हैं।

इन देवकुलिकाओं के ऊपर स्तम्भ अठपहलू हो जाता है और वहाँ कीर्तिमुखों से अत्यन्त सुन्दर वाण्टकाएँ झूलती हुई दीख पड़ती हैं।

कीर्तिमुखों के ऊपर 2 इंच उभरी हुई देवकुलिकाओं में हाथियों के पश्चात् क्रमशः पूर्व की ओर उपदेश मुद्रा में पीछी-कमण्डलु सहित छह साधुओं का अंकन है।

दक्षिण की ओर पीछी ओर कमण्डलु सहित विनयावनत मुद्रा में छह आर्यिकाएँ अंकित हैं। पश्चिम में एक साधु के पश्चात् एक आर्यिका इस प्रकार की कुल छह आकृतियाँ उल्लेख्य हैं। ये सभी बगल में अपनी 'पीछी' तो दवाये हैं, किन्तु सभी के कमण्डलु अदृश्य हैं।

उत्तर की ओर विशिष्ट अभिरुचि का प्रदर्शन हुआ है, (दायीं ओर से) सर्वप्रथम साधु हाथ जोड़े हुए दिखाये गये हैं। उसके पश्चात् आचार्य परमेश्वरी का अंकन उपदेश-मुद्रा में हुआ है, इसके पश्चात् क्रमशः एक श्राविका, एक श्रावक और पुनः एक श्राविका का अत्यन्त सुन्दरता से अंकन हुआ है। ये तीनों (श्रावक-श्राविकाएँ) हाथ जोड़े हुए हैं।

उसके ऊपर स्तम्भ गोलकाकार हो जाता है, और लगभग 2 फुट के बाद एक अत्यन्त सुन्दर फलयुक्त आमलक की आकृति का प्राप्ति समाविष्ट है।

उसके पश्चात् चौकी के ऊपर चतुर्दिक् चार देवकुलिकाओं में चार पद्मासन मूर्तियों का सुन्दरता से अंकन है।

पूर्व और दक्षिण की देवकुलिकाओं में हरिण-चिह्नार्कित सोलहवें तीर्थकर शान्तिनाथ उल्लेख्य हैं।

पश्चिमी देवकुलिका में सप्तफणावलि सहित तेइसवें तीर्थकर पार्श्वनाथ का अंकन है, जवाँकि उत्तरी देवकुलिका में उपदेश मुद्रा में आचार्य परमेश्वरी का अंकन उपासनागत शिष्यों-श्रावकों के साथ हुआ है। इन सभी की मुद्राएँ सुन्दर हैं।

इस सबके ऊपर अंग-शिखर के आकार की देवकुलिकाएँ हैं। यह मानस्तम्भ बहुत भव्य है।

1. ड. वि. ग. वा. 13 में स्तम्भ संख्या दोन ।

मन्दिर संख्या 1 के पीछे (दक्षिण में) स्थित तथाकथित मानस्तम्भ

### स्तम्भ संख्या 4

#### माप

सतह से चौकी की ऊँचाई 1 फुट 10 इंच  
चौकी पर से स्तम्भ की ऊँचाई 9 फुट  
स्तम्भ की परिधि 4 फुट 7½ इंच

#### विवरण

चौकी पर स्थित इस स्तम्भ<sup>1</sup> के अधोभाग की चतुर्दिक् देवकुलिकाओं में क्रमशः नाग, नागी, अम्बिका और महाकाली<sup>2</sup> नामक देवियों का अत्यन्त सुन्दर अंकन है।

इनके ऊपर कीर्तिमुखों से चारों ओर घण्टिकाएँ लटक रही हैं। इसके ऊपर चतुर्दिक् चार देवकुलिकाओं में से दक्षिण में उपाध्याय परमेष्ठी तथा शेष तीन ओर पद्मासन तीर्थंकर मूर्तियाँ अंकित हैं।

मन्दिर संख्या 2, 3 तथा 4 का मध्यवर्ती स्तम्भ

### स्तम्भ संख्या 5

#### माप

सतह से चौकी की ऊँचाई 1 फुट 7 इंच  
चौकी से स्तम्भ की ऊँचाई 8 फुट 8 इंच  
स्तम्भ—अठपहलू

#### विवरण

यह स्तम्भ<sup>3</sup> किसी प्राचीन स्मारक का अवशेष है। वर्तमान में इसे मन्दिर संख्या दो, तीन तथा चार के मध्य में मानस्तम्भ के रूप में स्थापित किया गया है।

1. दे.—चित्र संख्या 43 में स्तम्भ संख्या चार।

2. आठवीं विद्यादेवी। इस विद्यादेवी के लक्षण तथा विस्तृत विवरण के लिए द. चतुश्र उपाध्याय की पाद टिप्पणी।

3. दे.—चित्र संख्या 44।

इसके अधोभाग में कीर्तिमुख उत्कीर्ण किये गये हैं तथा मध्य में कीर्तिमुखों से शृंखलायुक्त घण्टिकाएँ सुन्दरता से लटकती हुई दिखाई गयी हैं।

इसके ऊपर चतुर्दिक् चार देवकुलिकाओं में से उत्तर में आचार्य अपने एक हाथ में ताड़पत्रीय ग्रन्थ लिये हुए तथा दूसरा उपदेश मुद्रा में किये हुए अंकित हैं। जीव रक्षा और शुद्धि के साधन पीछी और कमण्डलु भी उपस्थित दिखाये गये हैं। दक्षिण में वृषभनाथ, पूर्व में सप्तफणावलि सहित पार्श्वनाथ और पश्चिम में अजितनाथ का अंकन बहुत सुन्दर बन पड़ा है। सभी मूर्तियाँ पद्मासन में हैं और उनके नीचे एक-एक पंक्ति के अभिलेख हैं। इस स्तम्भ पर संवत् 1108 अंकित है, यह इस स्तम्भ के निर्माण का समय प्रतीत होता है।

**मन्दिर संख्या 5 के पश्चिम में बायीं ओर स्थित स्तम्भ**

**स्तम्भ संख्या 6**

**माप**

सतह से स्तम्भ की ऊँचाई 4 फुट 5 इंच  
स्तम्भ समचतुष्कोण 1 फुट

**विवरण**

यह स्तम्भ<sup>1</sup> किसी समाधि-स्मारक का शेष अंश है। वर्तमान में यह मं. सं. 5 के पश्चिम में अधिष्ठान के बायीं ओर जमीन में गड़ा हुआ है।

इसमें चतुर्दिक् चार देवकुलिकाओं में से तीन में पीछी और कमण्डलु धारण किये हुए मुनि कायोत्सर्गासन में दर्शाये गये हैं और एक में (दक्षिण की ओर) पीछी और कमण्डलु धारण किये आर्यिका का अंकन है।

यह स्तम्भ कला की दृष्टि से साधारण कोटि का है।

**मन्दिर संख्या 6, 7 और 9 का मध्यवर्ती स्तम्भ**

**स्तम्भ संख्या 7**

**माप**

सतह से चौकी की ऊँचाई 8 इंच

1. देखें चित्र संख्या पांच में स्तम्भ।

चौकी से स्तम्भ की ऊँचाई 4 फुट 9 इंच  
स्तम्भ चौकोर (2 फुट 11 इंच)

### विवरण

यह स्तम्भ भट्टारक-समाधि से सम्बन्धित प्रतीत होता है। इसके पूर्व और पश्चिम में एक-एक देवकुलिका है, जिसमें गले में माला धारण किये हुए कायोत्सर्गासन एक-एक मूर्ति (सम्भवतः भट्टारकों की) उत्कीर्ण है। इस स्तम्भ के पूर्व में एक पवित्र का और पश्चिम में तीन पवित्रियों का अभिलेख उत्कीर्ण है।

मन्दिर सं. 12 के महामण्डप के सामने चबूतरे पर  
अवस्थित मानस्तम्भ

स्तम्भ संख्या 8

### माप

स्तम्भ की ऊँचाई 13 फुट 8 इंच  
स्तम्भ—अठपहलू

### विवरण

इस विशाल स्तम्भ<sup>1</sup> के निचले भाग में चतुर्दिक् चार देवकुलिकाओं में चतुर्भुजी चार देवियों का अत्यन्त सुन्दर अंकन है। पश्चिमी देवकुलिका की देवी वृषारूढा है, दक्षिणी देवकुलिका की देवी नरारूढा तथा पूर्वी और उत्तरी देवकुलिकाओं की देवियाँ क्रमशः मयूर और सिंह पर आसीन दिखाई गयी हैं।

स्तम्भ के मध्य में, कीर्तिमुखों से 4 फुट 10½ इंच लम्बी और मध्य में ग्रन्थियुक्त तीन-तीन शृंखलाओं से बहुत सुन्दर घण्टियाँ लटक रही हैं।

इसके ऊपर चारों ओर चार देवकुलिकाओं में एक-एक कायोत्सर्गासन तीर्थकर मूर्तियों का अंकन है। स्तम्भ के ऊपरी भाग पर एक कटावदार पाषाण है।

1. इस स्तम्भ के निचले भाग की चतुर्दिक् में एक मोज के आकार का बहुत श्वकट प्रदर्शित किया गया है। स्तम्भ का ऊपरी भाग बिना संख्या 17 में देखा जा सकता है।



मन्दिर संख्या बारह के सामने (बायीं ओर) रखा हुआ स्तम्भ

### स्तम्भ संख्या 9

#### माप

ऊँचाई 8 फुट 7 इंच  
16 पहलू

#### विवरण

यह स्तम्भ किसी स्मारक के स्तम्भ का अवशिष्ट मध्यभाग मात्र है। इस पर किसी प्रकार का कोई अंकन या अलंकरण नहीं है।

मन्दिर संख्या बारह के महामण्डप में रखा हुए स्तम्भ

### स्तम्भ संख्या 10

#### माप

ऊँचाई 6 फुट 2 इंच  
चौकोर

#### विवरण

यह स्तम्भ अस्थायी रूप से मन्दिर संख्या 12 के महामण्डप में रखा हुआ है। इस पर क्रमशः दो तथा 10 पंक्तियों के दो अभिलेख उत्कीर्ण हैं और इसके ऊपर देवकुलिका में एक तीर्थंकर मूर्ति का अंकन पद्मासन में है। यह स्तम्भ अत्यन्त साधारण है।

मन्दिर संख्या 11 के सामने तथा 12 के दक्षिण में स्थित मानस्तम्भ

### स्तम्भ संख्या 11

#### माप

सतह से चौकियों की ऊँचाई 2 फुट 4 इंच  
चौकी से स्तम्भ की ऊँचाई 16 फुट 1 इंच  
स्तम्भ 16 पहलू

## विवरण

मेखलायुक्त तीन चौकियों पर अधिष्ठित यह प्राचीन स्तम्भ<sup>1</sup> जिनेन्द्र गजरथ प्रतिष्ठा महोत्सव के समय यहाँ मानस्तम्भ के रूप में स्थापित किया गया है।

स्तम्भ के निचले भाग में चार देवकुलिकाएँ हैं। उनमें उत्तर की ओर धरणेन्द्र-पद्मावती, पूर्व में गरुडवाहिनी दशमुखी चक्रेश्वरी,<sup>2</sup> दक्षिण में द्वादशभुजी (सम्भवतः मयूरासीना) देवी<sup>3</sup> और पश्चिम में वृषभारूढा अष्टभुजी देवी का अंकन है।

इसके पश्चात् ऊपर के लघुकोष्ठकों तक खजुराहो-जैसी भव्यता से पुष्प-पत्रों को उत्कीर्ण किया गया है। इन (पुष्प-पत्रों) के मध्य चारों ओर 3 फुट 9 इंच लम्बी अत्यन्त सुन्दर शृंखलाओं से घण्टियाँ लटक रही हैं। इसके पश्चात् चतुर्विक् चार कोष्ठकों में से ऊपर की ओर के कोष्ठक के मध्य में आचार्य परमेष्ठी उपदेश-मुद्रा में पद्मासन में अंकित हैं तथा उनके दोनों ओर एक-एक साधु पीछी दबाये हुए दर्शाये गये हैं, किन्तु उनके कमण्डलु अदृश्य हैं। इनके दोनों ओर दो-दो भक्त अंजलिबद्ध विनयावनत दिखाये गये हैं, उनकी बड़ी हुई दाढ़ी सहज ही दर्शक की दृष्टि अपनी ओर आकृष्ट करती है।

पूर्व की ओर संवत् 1116 के दो पक्तियों के अभिलेख के ऊपर वहाँ सात आकृतियाँ स्पष्ट दिखाई पड़ती हैं। कदाचित् वहाँ 'आर्यिका' का उपदेश अंकित दिखाया गया है। उपदेशरत आर्यिका के दोनों ओर तीन-तीन श्राविकाएँ सुसज्जित वेशभूषा में उपदेश श्रवण कर रही हैं। वे अंजलि-मुद्रा में विनयावनत हैं, उनके आभूषण तथा वस्त्र स्पष्टतया देखे जा सकते हैं। दक्षिण की ओर मध्य में एक 'आर्यिका' उपदेशरत हैं, उनकी पीछी और कमण्डलु—दोनों ही अंकित हैं, इनके दोनों पार्श्वों में क्रमशः एक-एक आर्यिका, तत्पश्चात् दो-दो श्राविकाएँ अंजलि-मुद्रा में विनयावनत आसीन दिखाई गयी हैं। पश्चिम में भी सात आकृतियाँ स्पष्ट देखी जा सकती हैं, मध्य में उपाध्याय परमेष्ठी उपदेश मुद्रा में अंकित हैं। उनके दोनों पार्श्वों में एक-एक साधु और तत्पश्चात् विनयावनत अंजलिबद्ध दो-दो श्रावक बैठे दिखाये गये हैं।

इन लघु कोष्ठकों के ऊपर एक उभारदार पाषाण का आच्छादन देकर उपरिवर्ती देवकुलिकाओं में से दक्षिण की ओर सप्त फणावलि सहित पार्श्वनाथ कायोत्सर्गासन में अंकित हैं। शेष तीनों ओर एक-एक तीर्थकर कायोत्सर्गासन में उत्कीर्ण हैं। देवकुलिकाओं की शिखराकृतियों के ऊपर लघु आमलक और कलश हैं।

1. दे.—चित्र संख्या 45।

2. दे.—चित्र संख्या 111।

3. दे.—चित्र संख्या 112।

76 :: देवगढ़ की जैन कला : एक सांस्कृतिक अध्ययन

मन्दिर संख्या 12 के दक्षिणी ओर स्थित स्तम्भ

### स्तम्भ संख्या 12

#### माप

सतह से चौकी की ऊँचाई 9 फुट 6 इंच  
चौकी से स्तम्भ की ऊँचाई 9 फुट 1½ इंच  
स्तम्भ चतुष्कोण

#### विवरण

इस स्तम्भ<sup>1</sup> के चारों ओर ग्यारह-ग्यारह पंक्तियों में चार-चार तीर्थंकर मूर्तियों का अंकन है। सभी मूर्तियाँ पद्मासन में उत्कीर्ण हैं।

उल्लेखनीय है कि यद्यपि यह स्तम्भ मं. सं. 14 के समक्ष स्थित स्तम्भ (संख्या 13) के समान है किन्तु यह ऊपरी भाग से भिन्न है।

मन्दिर संख्या 14 के सामने बायीं ओर स्थित मानस्तम्भ

### स्तम्भ संख्या 13

#### माप

सतह से चौकी की ऊँचाई 9 इंच  
चौकी सम चतुष्कोण 4 फुट 10 इंच  
चौकी से स्तम्भ की ऊँचाई 10 फुट 4 इंच  
स्तम्भ चतुष्कोण

#### विवरण

इस स्तम्भ<sup>2</sup> के निचले भाग में चारों ओर देवकुलिकाओं में काचित्सर्गासन यक्षी-मूर्तियों का अंकन है। पश्चिमी ओर की यक्षी अभिन्विका है। इन देवकुलिकाओं के ऊपर चारों ओर ग्यारह-ग्यारह पंक्तियों में चार-चार तीर्थंकर मूर्तियों का अंकन है :  $11 \times 4 = 44 \times 4 = 176$

एक मूर्ति-समूह के ऊपर छोटे-छोटे दो आमलक और उनके ऊपर कलश अधोस्थित हैं।

1. सं. चित्र संख्या 16।

2. सं. चित्र संख्या 17।

## मन्दिर संख्या 15 के सामने स्थित स्तम्भ

### स्तम्भ संख्या 14

#### माप

सतह से चौकी की ऊँचाई 10 इंच  
चौकी से स्तम्भ की ऊँचाई 5 फुट 11 इंच

#### विवरण

इस अत्यन्त सुन्दर स्तम्भ के प्रारम्भ में 18 मेखलाएँ हैं। यह किसी स्मारक का शेष अंश है, जिसे यहाँ लाकर स्थापित कर दिया गया है। कीर्तिमुखों के ऊपर पत्रावली तथा वल्लरियों का अंकन बहुत मनोरम है।

इस स्तम्भ के ऊपरी भाग में एक सर्वतोभद्रिका-प्रतिमा विराजमान है, जिसमें चतुर्विक् कायोत्सर्गासन तीर्थंकर मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। इस स्तम्भ का कटाव अत्यन्त बारीक है।

## मन्दिर संख्या 18 के सामने के दो स्तम्भ

### स्तम्भ संख्या 15 और 16

#### माप

चबूतरे के अधिष्ठान की ऊँचाई 1 फुट 10 इंच  
अधिष्ठान से स्तम्भों की ऊँचाई 12 फुट  
दोनों स्तम्भ 16 पहलू

#### विवरण

स्तम्भों के निम्न भाग में मंगल-घटों के ऊपर पत्र-पुष्पों का अलंकरण अत्यन्त सुन्दर बन पड़ा है। स्तम्भों के मध्य भाग में शृंखलाओं के सहारे मनोहर घण्टियाँ लटक रही हैं। ये स्तम्भ खजुराहो के घण्टई मन्दिर की याद दिलाते हैं।

इनमें से दायीं ओर के स्तम्भ पर संवत् 1129 का एक लेख उत्कीर्ण है। यह इनकी स्थापना का समय होना चाहिए।

मध्यवर्ती शृंखलाओं के ऊपर उत्कीर्ण कीर्ति-मुखों के ऊपर के कोष्ठों में से उत्तर की ओर आर्यिकाएँ अंकित हैं। इनके ऊपर की ओर उपदेश मूद्रा में ग्रन्थधारे

78 :: देवगढ़ की जैन कला : एक सांस्कृतिक अध्ययन

आचार्य परमपरी का अंकन अत्यन्त प्रभावोत्पादक है (दोनों स्तम्भों पर)। उनके पादपीठ में पीछी और कमण्डलु भी दर्शाये गये हैं। उपदेश श्रवण करते हुए साधुओं और आर्थिकाओं का अंकन बायीं ओर के स्तम्भ पर अत्यन्त आकर्षक है। दोनों स्तम्भों पर शेष तीनों ओर पद्मासन में तीर्थकर मूर्तियों का नयनाभिराम अंकन है।

**मन्दिर संख्या 20 के सामने स्थित गोलाकार मानस्तम्भ**

**स्तम्भ संख्या 17**

**माप**

सतह से चौकी की ऊँचाई 2 फुट 2 इंच  
चौकी से स्तम्भ की ऊँचाई 9 फुट 9 इंच  
स्तम्भ की परिधि 5 फुट 3 इंच

**विवरण**

यह अत्यन्त मव्य और कलापूर्ण स्तम्भ<sup>1</sup> गुप्तयुगीन सूक्ष्म कला का स्मरण कराता है। इसमें एक सुसज्जित हर्म्य का दृश्य उत्कीर्ण है। क्रीर्तिमुखों और मालाओं का अत्यन्त सूक्ष्मता से अंकन हुआ है। चौकी से 5 फुट 2 इंच की ऊँचाई पर स्तम्भ पर चतुर्दिक् देवकुलिकाओं में सर्वतोभद्र-मूर्तियाँ पद्मासन में उत्कीर्ण हैं। ये देवकुलिकाएँ ऊपर की ओर शिखर का रूप धारण करती हैं।

यहाँ उपलब्ध मानस्तम्भों में से एकमात्र यही गोलाकार है। सम्पूर्ण अंकन अत्यन्त सूक्ष्म तथा रमणीय बन पड़ा है।

**मन्दिर संख्या 26 व 27 के मध्य में स्थित स्तम्भ**

**स्तम्भ संख्या 18**

**माप**

सतह से स्तम्भ की ऊँचाई 4 फुट 9 इंच  
स्तम्भ 16 पहलू।

**विवरण**

इस स्तम्भ के निचले हिस्से में उत्कीर्ण देव-कुलिकाओं में धरणेन्द्र-पद्मावती, आम्बिका आदि शासन देव-देवियों का अंकन है। इसके ऊपर पद्मावती तथा बल्लरियों

1. द. -चित्र संख्या 48।

के कटाव के मध्य कीर्तिमुखों से 1 फुट 6 इंच लम्बी घण्टिकाएँ लटक रही हैं। कीर्तिमुखों के ऊपर चतुर्दिक् एक-एक तीर्थकर (पद्मासन में) देवकृतिकाओं में उत्कीर्ण हैं।

**मन्दिर संख्या 26, 28 व 30 के मध्य अवस्थित स्तम्भ**

**स्तम्भ संख्या 19**

**माप**

सतह से चौकी की ऊँचाई 1 फुट  
चौकी से स्तम्भ की ऊँचाई 4 फुट 8 इंच  
स्तम्भ चतुष्कोण

**विवरण**

इस स्तम्भ<sup>1</sup> के निम्न भाग में देवकृतिकाओं में धरणेन्द्र-पद्मावती, अम्बिका आदि यक्ष-यक्षियाँ प्रदर्शित हैं। इसके पश्चात् चार-चार की पाँच पंक्तियों में प्रत्येक ओर तीर्थकर मूर्तियाँ पद्मासन में उत्कीर्ण हैं और छठी पंक्ति में चार कायोत्सर्गासन तीर्थकर अंकित हैं।  $4 \times 5 = 20 + 4 = 24$

इस प्रकार प्रत्येक ओर चौबीसी का अंकन है। इस स्तम्भ का ऊपरी भाग खण्डित प्रतीत होता है।

## (द) प्रकीर्ण सामग्री

मन्दिरों, लघु-मन्दिरों, मानस्तम्भों आदि अचल और मूर्तियों आदि चल सामग्री के अतिरिक्त देवगढ़ में प्रकीर्ण सामग्री भी प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होती है। मन्दिरों के विभिन्न पाषाण-खण्ड और खण्डित मूर्तियाँ अधित्यका और उपत्यका पर सर्वत्र विखरी पड़ी हैं। उनमें कृत्त ऐसी सामग्री भी बदा-कदा दिख जाती है, जो कला और संस्कृति की दृष्टि से पर्याप्त महत्त्वपूर्ण होती हैं।

अपने अनुसन्धान काल में, मुझे अधित्यका पर एक ऐसा स्थान मिला है, जहाँ बैठकर शिल्पकार मूर्तियाँ आदि गढ़ते थे। इस स्थान के निकट पत्थरों की एक खदान

1. मं. सं. 28 के चित्र (संख्या 32) में दायाँ ओर देखा जा सकता है।

धी, जो अब वहकर आयी मिट्टी आदि से भर गयी है। वहाँ बहुत-सी अनगढ़ मूर्तियाँ मौजूद हैं, जो शिल्पकार द्वारा किसी कारणवश अर्ध-निर्मित स्थिति में ही छोड़ दी गयी होंगी।

एक-पत्थर-की बावड़ी के निकट, तालाब के किनारे और ग्राम के आसपास भी महत्त्वपूर्ण पुरातत्त्व सामग्री बिखरी पड़ी है।

देवगढ़ से अन्यत्र ले जायी गयी सामग्री में भी कुछ के महत्त्वपूर्ण होने की सम्भावना है।

## द्वार

### (अ) कुंजद्वार

पर्वत की परिधि को आवृत करनेवाले प्राचीन दुर्ग कोट का प्रमुख-द्वार 'कुंज-द्वार' कहलाता है। यह पर्वत शिखर के पश्चिम की ओर स्थित है। वर्तमान में यह जीर्ण-शीर्ण स्थिति में है। यह 19 फुट ऊँचा और 10 फुट 6 इंच चौड़ा है। इसके दोनों पार्श्वों में प्रस्तर-निर्मित दो चौकियाँ हैं, तथा दुर्ग में प्रवेश करने हेतु 1 फुट 9 इंच चौड़ी तीन सीढ़ियाँ निर्मित हैं।

इस द्वार के दोनों ओर 15 फुट चौड़ा प्राचीन दुर्ग का प्रथम प्राचीर है। द्वार के सामने अन्दर की ओर ध्वस्त-स्थिति में विद्यमान कुछ दुर्गजिले निवासगृह आज भी देखे जा सकते हैं। इन निवासगृहों के द्वार अपेक्षाकृत छोटे हैं। कुंज-द्वार तथा उससे संयुक्त निवासगृहों में पहुँचने हेतु सोपान-मार्ग की व्यवस्था है।

इस द्वार का तोरण अतिशय कलापूर्ण है। प्रतीत होता है कि मूल-तोरण के नष्ट होने पर मुगलकाल में इसके तोरण का पुनर्निर्माण हुआ था।

मुख्य सड़क छोड़कर मन्दिरों तक पहुँचने के लिए इसी द्वार में से होकर जाना पड़ता है। अभी कुछ समय पूर्व क्षेत्र और शासन के सहयोग से मुख्य सड़क और मन्दिरों के बीच एक पक्का मार्ग निर्मित किया गया है। यह मार्ग इस द्वार में से न जाकर उसके दक्षिण में लगभग 100 गज की दूरी से गया है। इस मार्ग के निर्माण से जहाँ अनेक लाभ हुए हैं वहाँ एक हानि भी हुई है कि दुर्ग के अन्य द्वारों की भाँति यह द्वार भी उपेक्षित हो जाएगा।

### (ब) हाथी दरवाजा

देवगढ़ दुर्ग की प्रथम प्राचीर में पूर्व की ओर एक विशाल द्वार है, जिसे

‘हाथी-दरवाजा’<sup>1</sup> कहते हैं। अनुमान है कि इस द्वार से हाथियों का आवागमन दुर्ग में होता था। बेतवा का प्रवाह इसके पार्श्व भाग में होने से यह भी सम्भव है कि हाथी इस द्वार से पानी पीने ले जाये जाते हों अतः इसका नाम ‘हाथी-दरवाजा’ पड़ा हो।

इस विशाल द्वार के ऊपर मध्य में लगभग 3 फुट 4 इंच ऊँचा और 3 फुट चौड़ा एक गवाक्ष है। इसकी उपयोगिता का केवल अनुमान ही किया जा सकता है। कदाचित् उसमें कोई मूर्ति विद्यमान रही हो। वह मूर्ति या तो इस दुर्ग के निर्माता शासक की हो या उसके इष्ट-देव की। वर्तमान में मात्र गवाक्ष अवशिष्ट है।

इस द्वार में भीतर की ओर बायें पक्ष पर 8 फुट की ऊँचाई पर 1 फुट 7 इंच लम्बा, 1 फुट 7 इंच चौड़ा और 2 फुट 4 इंच ऊँचा एक शिलापट्ट समाविष्ट है, जिसमें भीतर की ओर उपाध्याय परमेष्ठी का अंकन है, जिनके हाथ की पोथी का खण्डित अंश दर्शनीय है। उनके दोनों ओर एक-एक साधु अंजलिवन्द्य कायोत्सर्गासन में उल्कीर्ण हैं, इन दोनों के हाथों में पीछी स्पष्ट देखी जा सकती है। उपाध्याय के ठीक ऊपर पद्मासन में एक तीर्थंकर और उनके भी दोनों ओर कायोत्सर्गासन में एक-एक तीर्थंकर (सभी बहुत छोटी आकृति में) प्रदर्शित हैं। तीर्थंकर का परिकर यहाँ अवश्य रहा होगा, जिसे बहुत ही महत्त्व का माना जाना चाहिए, क्योंकि वर्तमान स्थिति से यह कहा जा सकता है कि इस परिकर को किसी मूर्ति-भञ्जक ने सूक्ष्मता के साथ काट लिया है।

इसके पार्श्व में पश्चिम की ही भाँति एक स्तम्भयुक्त देवकुलिका है, इसमें पद्मासन में एक तीर्थंकर मूर्ति दर्शनीय है। इसका मुख-मण्डल खण्डित होने पर भी ध्यान-मुद्रा के द्वारा शान्ति बिखेर रहा है। इसके कन्धों पर जटाएँ छिटकी हुई हैं। लम्बा शीवत्स इसका निर्माण काल 12वीं शती सूचित करता है। अष्ट प्रातिहार्य का अंकन अत्यन्त परिपूर्ण और स्पष्ट बन पड़ा है। देवकुलिका के स्तम्भों के ऊपरी भाग में दोनों ओर स्तम्भ-शीर्ष तथा नीचे चौकी पर दोनों ओर पद्मासन में एक-एक तीर्थंकर का अंकन है। सम्भावना है कि यह शिलापट्ट जीर्णोद्धार के समय कहीं से लाकर समाविष्ट कर दिया गया है। यदि ऐसा है तो यह किसी स्तम्भ या मानस्तम्भ का शीर्ष होना चाहिए और उस स्थिति में प्राचीर में चिने हुए इसके दो वाजूओं में भी इसी प्रकार की दो देवकुलिकाएँ और होना चाहिए।

‘हाथी-दरवाजा’ के भीतर दायीं ओर (बायीं ओर की ही भाँति) सतह से 7

1. सन् 1917-18 ई. में भी इसे ‘हाथी-दरवाजा’ कहा जाता था। दे. -डॉ. डी. वी. स्वरुप, ए. आर., ए. एस. आइ., 1917-18, भाग एक (कलकत्ता, 1920 ई.), पृ. 7।



फुट 8 इंच ऊंचाई पर । फीट 3 इंच × 1 फुट 3 इंच × 2 फुट 4 इंच का एक शिलापट्ट समाविष्ट है। इसमें सामने की ओर एक चतुष्कोण देवकुलिका में सप्तफणावलि सहित पार्श्वनाथ कायोत्सर्गासन में उत्कीर्ण हैं, उनकी पादपीठ के दोनों ओर दो-दो आकृतियाँ प्रदर्शित हैं, वे प्रायः खण्डित हैं। उनके ऊपर पद्मासन में एक तीर्थकर मूर्ति अंकित है। इस मूर्ति के दोनों ओर चँवर-ढोरती हुई एक-एक आकृति उपस्थित दिखाई गयी है।

शिलापट्ट के भीतर की ओर की देवकुलिका में अंकित दृश्य बहुत महत्त्वपूर्ण है, क्योंकि उसमें एक यक्ष-युगल का अंकन है, जिसके पृष्ठ भाग में एक कमलनाल या ऐसी ही किसी वस्तु पर स्थित चतुष्कोण आसन पर एक तीर्थकर पद्मासन में अवस्थित हैं।

यक्ष ललितासन (राजलीलासन) में स्थित है, उसके बायें हाथ में एक शिशु है जो उसके बायें पैर पर बैठा हुआ दिखाया गया है, दायें हाथ में कोई फल या मातुलिंग है। उसकी मेखला का अंकन सूक्ष्म बन पड़ा है, यज्ञोपवीत स्पष्ट दीख रहा है, परन्तु उसके साथ ही दूसरी ओर आधी ऊँचाई पर ही लटकने वाली दूसरी लड़ी उसके यज्ञोपवीत होने में सन्देह पैदा कर देती है। इसके कर्णकुण्डल और गलहार अत्यन्त सुन्दर बन पड़े हैं। केश-विन्यास जटा-जूट का आभास देता है।

ललितासन में अवस्थित यक्षी के पैरों में पैजनी स्पष्ट देखी जा सकती है। इसके भी दायें हाथ में एक शिशु है जो दायें पैर पर बैठा है, यह शिशु अपने बायें हाथ से अपनी माँ के बायें स्तन को छू रहा है। यह शिशु यक्ष के हाथ में स्थित शिशु की अपेक्षा बड़ा है। यक्षी के दायें हाथ में भी मातुलिंग है। इसकी मेखला अत्यन्त सूक्ष्मता से अंकित की गयी है, त्रिवली में से एक वलि स्पष्ट देखी जा सकती है, नाभि की गहराई और कटि की क्षीणता भी उल्लेखनीय है। पयोधरों का उभार खजुराहो की कला का स्मरण दिलाता है। मोहनमाला और गले के अन्य आभूषण बहुत सुन्दरता से अंकित हुए हैं। कर्णाभरण भी सुन्दर बन पड़े हैं। मस्तक की जटाएँ अपनी विशेषता रखती हैं, जिन्हें ऊपर की ओर सँभालकर दो जूटों में लपेटा गया है। इसमें सन्देह नहीं कि यह अंकन समय की दृष्टि से 10वीं शती से पहले नहीं जा सकता।

तीर्थकर की मूर्ति के दोनों ओर चार-चार बड़े पत्तों का अलंकरण है। आकार की दृष्टि से इन्हें सर्प के फण नहीं कहा जा सकता। ऊपर दो छत्र दिखाई देते हैं।

इस देवकुलिका के नीचे भी कोई एक या अधिक मानवाकृति रही है, जो वर्तमान में प्लास्टर से दबी होने से देखी नहीं जा सकती।

## जैनेतर स्मारक

### (अ) घाटियाँ

देवगढ़ दुर्ग में पर्वत के दक्षिण की ओर चढ़ाने काटकर दो घाटियों का निर्माण हुआ है : (1) नाहरघाटी (पूर्व में), (2) राजघाटी (पश्चिम में)।

(1) **नाहरघाटी**—देवगढ़ दुर्ग की दक्षिणी अधित्यका पर पूर्व की ओर बेतवा के प्रवाह तक पहुँचने के लिए एक सोपान मार्ग है, उसे 'नाहरघाटी' कहते हैं। यहाँ पर्वत को काटकर लगभग 100 सीढ़ियाँ बनाई गयी हैं। वर्षा का पानी इन्हीं पर से बहता है। अतः वे अनेकशः जीर्ण-शीर्ण हो गयी हैं। इस सोपान मार्ग के बाजू में चढ़ानों पर अनेक उल्लेखनीय मूर्तियाँ तथा अभिलेख उत्कीर्ण हैं।

यहाँ पर दस फुट लम्बी और दो फुट ऊँची एक देवकुलिका में सप्तमातृकाओं<sup>1</sup> की सुन्दर मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। इनके प्रारम्भ में शिव तथा अन्त में गणेश का अंकन है। शिव के पश्चात् चतुर्मुख ब्राह्मी की मूर्ति पद्मासन में उत्कीर्ण हैं। वह अपने बायें हाथ में अक्षमाला लिये है। इसके उपरान्त सिंह पर आरूढ़ पार्वती अपनी गोद में गणेश को धारण किये है। तीसरी मातृका मूर्ति गरुड़ासनी वैष्णवी की है। चौथी मूर्ति कुबेर की पत्नी कौमारी की है, वह मनुष्य पर आरूढ़ है। पाँचवीं मूर्ति वाराही की है। छठवीं और सातवीं मूर्तियाँ क्रमशः गजासना इन्द्राणी तथा चामुण्डा की हैं।

इस देवकुलिका के ऊपरी बहिर्भाग में गुप्तकालीन ब्राह्मी लिपि में सात पंक्तियों का एक अभिलेख उत्कीर्ण है। उसकी भाषा विशुद्ध साहित्यिक संस्कृत है। इसमें गोमिलका के पौत्र तथा केशव के पुत्र स्वामी भट्ट के द्वारा सप्तमातृकाओं के निमित्त एक अविनश्वर मन्दिर के निर्माण का विवरण उत्कीर्ण किया गया है। इसमें उल्लिखित मन्दिर सप्तमातृकाओं की मूर्ति सहित यही देवकुलिका, जिसके ऊपर यह उत्कीर्ण है, होना चाहिए; अन्य कोई नहीं।

इसके अतिरिक्त इस घाटी की अन्य देव-कुलिकाओं में चतुर्भुज विष्णु, सूर्य, महिषासुरमर्दिनी तथा एकमुख शिव की मनोहर मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं।

इस घाटी में दो अभिलेख और भी उत्कीर्ण हैं। पहले में चन्देरी के वृन्देला राजाओं का उल्लेख है। यह संवत् 1789 में उत्कीर्ण कराया गया था। इसी समय का एक अभिलेख सिद्ध की गुफा में भी मिलता है। दूसरा अभिलेख दो पंक्तियों

1. इनके लक्षण तथा विस्तार के लिए डॉ. भुवनेश्वरचाराय, अपराजितापुन्डा (वहीदा 1950), पृ. 574-575।

में है। वह बहुत अस्पष्ट हो गया है। प्रारम्भ के कुछ अक्षरों के अतिरिक्त कुछ भी पढ़ने में नहीं आता।

(2) राजघाटी—देवगढ़ दुर्ग की दक्षिणी अधित्यका पर पश्चिमी ओर भी (पूर्व की ही भाँति) बेतवा के प्रवाह तक पहुँचने के लिए एक सोपान मार्ग है। इसे राजघाटी कहते हैं। यहाँ की सीढ़ियाँ नाहरघाटी की अपेक्षा अधिक चौड़ी और अच्छी स्थिति में हैं।

इस घाटी में प्रागैतिहासिक चित्र, ऐतिहासिक महत्त्व के अभिलेख तथा अनेक मूर्तियाँ चट्टानों पर उत्कीर्ण हैं।

यहाँ पर्वत को काटकर तैयार की गयी एक महत्त्वपूर्ण गुफा है। इसके प्रवेश-द्वार की ऊँचाई चार फुट साढ़े ग्यारह इंच, चौड़ाई निचले भाग में दो फुट पाँच इंच तथा मध्य भाग से ऊपर तीन फुट छः इंच है।

यह गुफा पाँच फुट दस इंच लम्बी, चार फुट ग्यारह इंच चौड़ी तथा इतनी ही ऊँची है। इसके प्रवेश-द्वार के बायें पक्ष पर दो अभिलेख उत्कीर्ण हैं। पहला तीन पंक्तियों में है, जिसे संवत् 1121 में चैत्र सुदी 15 गुरुवार को उत्कीर्ण कराया गया था। इससे दो इंच ऊपर छह पंक्तियों का दूसरा अभिलेख उत्कीर्ण है। उसमें फाल्गुन सुदी 10 चन्द्रवार संवत् 1549 का उल्लेख हुआ है। इसकी अन्तिम साढ़े तीन पंक्तियाँ अब इतनी अस्पष्ट और टूटी हुई हैं कि पढ़ने में नहीं आतीं।

गुफा की भीतरी बायीं भित्ति पर सिन्दूरी रंग से एक गतिशील हाथी का चित्र अंकित है। उस पर बैठा महावत हाथ में अंकुश लिये है। हाथी का पलान तथा सीमा रेखाएँ काले रंग से चित्रित हैं। उसके ऊपर एक चौखटे में लहरियादार रेखाएँ बनी हुई हैं। इसी के बीच में दो रेखाकृतियाँ और भी दिखाई गयी हैं।

इसके दायीं ओर एक टेढ़ा-मेढ़ा चौखटा और उभारा गया है, जिसकी मध्यवर्ती रेखाकृतियाँ अब अस्पष्ट हो गयी हैं। उसके बाजू में किसी पक्षी—कदाचित् मुर्गे का रेखाचित्र बना हुआ है। इसी से सटे हुए एक अन्य चौखटे में लहरियादार रेखाएँ दर्शायी गयी हैं।

सामने की भित्ति पर सिन्दूरी रंग में कुछ चित्र अंकित हैं। वे अब बहुत अधिक अस्पष्ट हो गये हैं। उनके ऊपर गहरे सिन्दूरी रंग में एक वक्र चतुष्कोण रेखाकृति है।

प्रायः ऐसी ही तीन रेखाकृतियाँ दायीं भित्ति पर भी चित्रित हैं।

इसी गुफा के बगल में वह महत्त्वपूर्ण ऐतिहासिक अभिलेख उत्कीर्ण है। जिसे संवत् 1154 (1097 ई.) में चन्देलवंशी शासक कीर्तिवर्मन के मन्त्री वत्सराज ने उत्कीर्ण कराया था और जिसके नाम पर इस स्थान की प्रसिद्धि कीर्तिगिरि नाम से हुई।

1. अभिलेख के लिए दे.—परिशिष्ट दो, अभिलेख क्र. दो।

इस अभिलेख से नीचे (बेतया) की ओर अनेक देवकुलिकाओं में विभिन्न देव-देवियों की मूर्तियाँ अंकित हैं, जिनमें से चतुर्भुज विष्णु, सूर्य, लक्ष्मी, गंगा-यमुना, शिवलिंग और सप्तमातृकाएँ विशेष उल्लेखनीय हैं। कुछ मूर्तियाँ खण्डित हो गयी हैं और कुछ को काटकर ले जाया गया प्रतीत होता है।

इस घाटी में दो लघु गुफाएँ और भी हैं, जो तपस्या में सहायक रही होंगी।

## (ब) सिद्ध की गुफा

देवगढ़ दुर्ग में अधित्यका के दक्षिणी किनारे एक गुफा है, जिसे 'सिद्ध की गुफा' कहते हैं। यह पर्वत काटकर तैयार की गयी है। इसका मार्ग पहाड़ी पर से सीढ़ियों द्वारा नीचे जाता है। इसके तीन द्वार हैं। दो स्तम्भों पर छत भी अवस्थित है।

इस गुफा में अनेक अभिलेख उल्कीर्ण हैं। उनमें सबसे प्राचीन अभिलेख संवत् 609 (552 ई.) का है। गुप्तकालीन इस अभिलेख में सूर्यवंशी स्वामी भद्र का उल्लेख हुआ है।

इसी गुफा के एक अन्य अभिलेख में उल्लेख है कि राजा वीर ने संवत् 1342 में कुरार को जीता था।

इसमें अंकित कुछ अभिलेखों से राजवीरों के इतिहास पर भी प्रकाश पड़ता है। संवत् 1789 के दस पवित्तियों के अभिलेख में चन्देरी के परवर्ती बुन्देला सरदार महाराजाधिराज देवीसिंह तथा उसके पौत्र दुर्गासिंह का वर्णन है। इसी में राजा उदेत सिंह, छत्रसाल, कुशलसिंह और तेजसिंह का चरित्र भी वर्णित है।

संवत् 1808 के अभिलेख में अनूपसिंह, बहादुर और हरीसिंह आदि का उल्लेख हुआ है।

अनुमान है कि यह गुफा सिद्ध-साधकों की साधना-स्थली रही होगी।

## (स) वराह मन्दिर

देवगढ़ दुर्ग में अधित्यका के दक्षिणी-पश्चिमी कोने पर एक विशाल मन्दिर के अवशेष विद्यमान हैं। यद्यपि मन्दिर ध्वस्त हो गया है परन्तु उसका अधिष्ठान सुरक्षित है। यह अधिष्ठान सतह से प्रायः सात फुट ऊँचा है। विशाल आमलक, अनेक स्तम्भ एवं अन्य सामग्री इसी के निकट पड़ी हुई है।

डॉ. डी. बी. स्पूनर<sup>1</sup> और रायबहादुर दयाराम साहनी<sup>2</sup> जिन्होंने कि उस समय

1. ए. एस. आइ. : एनुअल रिपोर्ट, 1917-18, भाग 1, पृ. 71

2. एनुअल प्रोग्रेस रिपोर्ट, 1918, पृ. 81

इस मन्दिर को आच्छादित किये हुए सघन वन की सफाई करायी, विशाल वृक्षों को कटवाया तथा उत्खनन और सर्वेक्षण कार्य सम्पन्न कराया, के मतानुसार इसका वर्तमान अधिष्ठान मन्दिर के जीवनकाल में ही कम से कम दो बार बन चुका था।

इस मन्दिर का निर्माण यहाँ के दशावतार मन्दिर के पश्चात् हुआ। उपलब्ध शिल्प-वैभव, मूर्तियों तथा अन्य सामग्री के आधार पर यह निःसन्देह रूप से कहा जा सकता है कि यह दशावतार मन्दिर का अनुकरण था। श्री हरप्रबुज, डॉ. स्पूनर और श्री साहनी का भी यही मत है।

इस मन्दिर के विध्वंस-काल के सम्बन्ध में कुछ नहीं कहा जा सकता। तथापि यह निश्चित है कि संवत् 1550 तक यह मन्दिर अच्छी स्थिति में था क्योंकि इसी मन्दिर के गर्भगृह की दीवारों में संवत् 1550 के दो अभिलेख नागरी लिपि में उत्कीर्ण, प्राप्त हुए हैं।

मन्दिर के निर्माण में लाल-बलुआ पत्थर का उपयोग हुआ है। प्रवेश-द्वार अत्यन्त छोटा है। इसकी ऊँचाई चार फुट और चौड़ाई कुल सत्रह इंच है। इतने छोटे प्रवेश-द्वार से प्राचीन भारत की कदाचित् इस मान्यता की पुष्टि होती है कि मन्दिर में इष्ट देवता के समक्ष उपस्थित होने के पूर्व ही दर्शनार्थी को विनम्र होना चाहिए।

पूर्वाभिमुख इस मन्दिर की मुख्यमूर्ति भगवान् विष्णु के वराहावतार की है। यद्यपि वह खण्डित है तथापि अपने समृद्ध कलावैभव और आकर्षक भव्य रूप को अभिव्यक्त करती है। वराहावतार का सम्पूर्ण दृश्य अपने परिकर के साथ अत्यन्त कुशलता से उत्कीर्ण किया गया है। यह मूर्ति इसके 'वराह मन्दिर' नाम को सार्थक करती है।

मुख्य मूर्ति के पीछे टिके हुए शिलापट्ट पर 'गजेन्द्र मोक्ष' का दृश्य अत्यन्त सुन्दरता से अंकित है। इसके निकट ही एक अन्य शिलापट्ट पर हिमालय पर तपस्यारत नर-नारायण की अत्यन्त मनोरम मूर्ति विद्यमान है।

दक्षिण में टिके हुए एक शिलापट्ट पर शेषशायी विष्णु का प्रभावोत्पादक अंकन है। इसी के निकट एक अन्य शिलापट्ट पर पाँच पाण्डव तथा द्रौपदी की मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं।

उत्तर में विद्यमान एक शिलापट्ट पर चक्र, गदा आदि उपकरणों से विभूषित भगवान् विष्णु की एक सुन्दर मूर्ति का अंकन हुआ है।

## (द) दशावतार मन्दिर

देवगढ़ के जेनेतर स्मारकों में सर्वोत्तम कृति 'दशावतार मन्दिर' है। पर्वत की पश्चिमी उपत्यका पर ग्राम के उत्तर में स्थित इस गुप्तकालीन खण्डित मन्दिर को

गुप्ता-मन्दिर<sup>1</sup> और सागर-मठ<sup>2</sup> भी कहते हैं।

अधिष्ठान पर मन्दिर नौ वर्गों में विभक्त था जिनके मध्य गर्भगृह था। अधिष्ठान, जिसका उत्खनन राय बहादुर दयाराम साहनी ने कराया, के प्रत्येक कोने पर एक वर्गाकृति मन्दिर था। इससे प्रतीत होता है कि मध्य भाग (गर्भगृह) सहित दशावतार मन्दिर उत्तर भारत में प्रचलित पंचायतन शैली का सबसे प्राचीन मन्दिर है।

अधिष्ठान अब अधिकांशतः नष्ट हो चुका है। उस पर सीढ़ियों से पहुँचा जाता है। 55 फुट 6 इंच के इस अधिष्ठान के प्रत्येक कोने पर ग्यारह फुट के वर्गाकार मन्दिर थे जिनके अब अवशेष भी उपलब्ध नहीं हैं।

गर्भगृह अठारह फुट छह इंच वर्गाकार है। पश्चिम की ओर प्रवेश द्वार और शेष तीनों ओर एक-एक चौड़ा मूर्ति-पट्ट है जो एक गहरी देवकुलिका में जड़ा है।

गर्भगृह के प्रवेश-द्वार की चौखट (11 फुट 2 इंच × 10 फुट 9 इंच) के चार मूर्तिखचित पहलू हैं। और सबसे ऊपर दिये हुए सिंहमुख इनके अतिरिक्त हैं। प्रत्येक पहलू पर नीचे एक खड़ी हुई मूर्ति है।

प्रथम पंक्ति में मुख्य बात जो लक्ष्य की जानी चाहिए वह यह है कि नचना की तरह गंगा-यमुना का स्थान यहाँ भी द्वार के सिरदल पर बड़े अभिनन्दनीय ढंग से प्रदर्शित किया गया है। पत्रावली तथा वल्लरियों की सज्जा में से उभरते हुए मकर और कुम्भ अपनी स्वाभाविक सुषमा को घोषित कर रहे हैं। यहाँ गंगा-यमुना की सानुपात सुन्दर मूर्तियाँ छत्र के नीचे दिखाई गयी हैं। वल्लरियों वाली यह सज्जा-पंक्ति अपने आधार, नीचे अंकित कीचकों के शिर का भार बन रही है।

द्वितीय सज्जा पंक्ति का प्रारम्भ करती हुई दो सुन्दर यक्षी मूर्तियाँ अंकित हैं, जिनके घुटने के नीचे तक दिखाया गया वस्त्र, दोनों बाहुओं पर से झूलता उत्तरीय, भामण्डल के आकार का केश-संयोजन, कुण्डल, रत्नहार, मोहनमाला, बाजूबन्द, वलय, कटि, किंकिणी और पायल सुन्दरता से यथास्थान विभूषित हैं।

यही वेश-विन्यास प्रायः सभी यक्षी मूर्तियों और गंगा-यमुना का भी है, किन्तु इन सभी की केश-सज्जा विभिन्न प्रकार की है।

तृतीय पंक्ति में केवल नृत्य करते हुए यक्ष और गण अंकित हैं और ऊपर कीर्तिमुखों का अंकन है।

चतुर्थ पंक्ति का प्रारम्भ एक सुन्दर यक्ष दम्पती के अंकन से हुआ है। यह युग्म अपने अनिन्द्य सौन्दर्य, केश-सज्जा और विविध वस्त्रालंकारों के कारण सचमुच ही अद्वितीय बन पड़ा है। इसके ऊपर छह कोष्ठकों में क्रमशः गणों और कैलिरत

1. (अ) कनिंघम : ए. एस. आर., जि. 10, पृ. 105। (ब) दयाराम साहनी : ए. पी. आर., 1918, पृ. 7।

2. तालाब के किनारे का मठ या मन्दिर। इस नाम की प्रसिद्धि स्थानीय स्तर पर है।

दम्पतियों का अंकन हुआ है। किन्तु यह अंकन भी शिष्टता की सीमा के भीतर पुरुष की नारी के प्रति सहज आकर्षण-भावना को मानों मर्यादा के साथ उभारता है।

सिरदल पर हाथ में मालाएँ और पुष्प-गुच्छक धारण किये, उड़ते हुए विद्याधर-युगलों की पंक्ति के मध्य 'शेष-कुण्डली' पर ललितासन विराजमान चतुर्भुज विष्णु की मूर्ति ललाट-बिम्ब के स्थान पर उत्कीर्ण है। इन्हीं के लिए इस भव्य मंदिर का निर्माण किया गया प्रतीत होता है।

अन्तिम सज्जा जो इस द्वार की शोभा को कई गुना बढ़ा देती है, वह सहज और सीधे बेलंबूटों से बनाई गयी है, परन्तु उस पर केलि करते हुए बालक बहुत सुन्दर हैं।

सभी अंकन परम्परा और गुप्तकालीन कला-समृद्धि के अनुरूप हैं।

इस मन्दिर की उत्तरी देवकुलिका में गजेन्द्र मोक्ष की कथा का अंकन है। पूर्वी देवकुलिका में नर और नारायण की तपस्या तथा दक्षिणी में शेषशायी विष्णु के बहुत सुन्दर और प्रभावोत्पादक आलेखन हैं। गर्भगृह में अब कोई मूर्ति नहीं है।

उत्तर भारत में पाषाण-निर्मित शिखर का प्राचीन नमूना केवल एक मिलता है, और वह है देवगढ़ का दशावतार मन्दिर। प्रतीत होता है कि यह मन्दिर सीधी रेखाओं से निर्मित पिरामिड के समान था, जिसकी मेधियाँ क्रमशः छोटी होती गयी थीं। द्वार-स्तम्भ पर शिखर की प्रतिकृति अब भी अवशिष्ट है, जिससे ज्ञात होता है कि कोनों पर तथा शिखर पर आमलक बनाये गये थे। वस्तुतः यहाँ गुप्तकालीन शिखर का वह रूप देखने को मिलता है जो क्रमशः पिरामिड की आकृति का, अण्डाकार, अधिक विकसित तथा अलंकृत होता गया।

देवगढ़ के ही शासकीय संग्रहालय में सुरक्षित अवशेषों से इस मन्दिर के अधिष्ठान की भव्यता का आभास होता है। इन अवशेषों में—अहल्या उद्धार, वन-गमन, अगस्त्याश्रम में राम, लक्ष्मण और सीता का जाना, शूर्पणखा काण्ड, वालि-सुग्रीव युद्ध, लक्ष्मण तथा सुग्रीव का पुनर्मिलन, हनुमान् द्वारा संजीवनी बूटी का लाया जाना आदि के अंकनवाले शिलापट्ट मुख्य हैं। कृष्णजन्म, नन्द-यशोदा द्वारा बलदेव और कृष्ण को खिलाना, शकट लीला, वामनावतार आदि के दृश्य भी कुछ अवशेषों पर उत्कीर्ण हैं।

दशावतार मन्दिर के सन्दर्भ में उसके सहोदर जैन मं. सं. 15 (चित्र संख्या 26) का उल्लेख अनिवार्य है। जैसा कि कहा जा चुका है, इसका प्रेरणास्रोत वह या उसका प्रेरणास्रोत यह रहा है।

## (इ) सती-स्तम्भ

देवगढ़ के मध्यकालीन समाज में सती प्रथा प्रचलित थी। इसके प्रमाण करीब बीस स्तम्भ अब भी वर्तमान ग्राम के निकट यत्र-तत्र विद्यमान हैं।

इन स्तम्भों को 'सती का चौरा' कहा जाता है। ऐसे स्तम्भों पर सूर्य और चन्द्रमा के मध्य में हाथ का अग्रभाग (पंजा) अंकित है तथा नागरी लिपि में सम्बन्धित अभिलेख भी उत्कीर्ण हैं। कुछ सती-स्तम्भों के स्थापना-काल इस प्रकार हैं—संवत् 1670, 1686, 1688, 1692, 1695, 1709, 1710, 1716, 1731, 1732, 18....., 1876।

## उपसंहार

इस अध्याय में विवेचित स्मारकों के सर्वेक्षण से कुछ महत्त्वपूर्ण निष्कर्ष निकलते हैं :

1. लगभग सोलह सौ वर्षों की दीर्घ अवधि में निर्मित होते रहने से इन स्मारकों की विन्यास-रेखा आदि में समानता नहीं आ सकी है। उसका स्थितिक्रम भी किसी सरल या सुनियोजित रेखा में नहीं है।
2. इसी प्रकार उनके अंगों और उपांगों की संरचना में भी किसी निश्चित सिद्धान्त का निर्वाह नहीं हो सका है।
3. कुछ मन्दिर, शास्त्रीय विधान के विरुद्ध दक्षिण-मुख भी हैं।
4. ऐसे स्मारक गिने-चुने ही अवशिष्ट हैं जिनका मौलिक तथा सम्पूर्ण रूप अब भी विद्यमान है।
5. कुछ स्मारक पूर्णरूपेण भूमिसात् हो गये हैं, केवल भग्न अधिष्ठान आदि से ही उनके अस्तित्व का अनुमान होता है।
6. कुछ स्मारक अंशतः ध्वस्त हुए हैं जिनमें मन्दिर संख्या तीन उल्लेखनीय है जिसके दो तलों में से एक ही अवशिष्ट है।
7. जीर्णोद्धार यहाँ कई बार हुआ है पर सन्तोष की बात यह है कि जीर्णोद्धार-कर्ताओं ने स्मारकों की मौलिकता को सुरक्षित रखने की ओर पर्याप्त ध्यान दिया है। यह अवश्य है कि उन्होंने पूर्णतः ध्वस्त स्मारकों की सामग्री का उपयोग अन्य स्मारकों के जीर्णोद्धार में कर लिया है।
8. सूक्ष्म सर्वेक्षण से ज्ञात होता है कि मानस्तम्भ जैसे कुछ स्मारक स्थानान्तरित भी किये गये हैं।
9. कुछ स्मारक भट्टारकों के निवास और समाधि के रूप में भी निर्मित हुए थे जिन्हें कालान्तर में मन्दिरों का रूप दे दिया गया।
10. प्रस्तुत सर्वेक्षण में यह स्मरणीय है कि पैमाइश का कार्य सर्वप्रथम किया गया है। श्री कनिंघम ने कुछ मन्दिरों की पैमाइश की थी, पर उसमें कहीं-कहीं त्रुटियाँ पायी गयी हैं। श्री साहनी के निर्देशन में भी कुछ सर्वेक्षण हुआ था, पर वह नगण्य है।



## स्थापत्य

### 1. मन्दिर-वास्तु का उद्भव

#### (अ) सुमेरु : मन्दिर-स्थापत्य का आधार स्रोत

भारत धर्मप्रधान देश है। धार्मिक तृप्ति के लिए अपनाये गये साधनों में अभीष्ट देव के निवास की कल्पना भी थी। सुमेरु के नाम से एक ऐसे पर्वत की कल्पना की गयी, जो लौकिक पर्वतों से आकार-प्रकार में सर्वथा भिन्न था। सुमेरु पर स्वर्गीय सुविधाएँ और वातावरण था। उसके बीच अभीष्ट देव का निवास था। परन्तु भक्त अपने वर्तमान जन्म में वहाँ तक पहुँच नहीं सकता था जबकि उसे अपने उपास्य का दर्शन क्षण-क्षण अनिवार्य प्रतीत होता गया। अतः उसने स्वयं सुमेरु की रचना करने की ठानी, जिस पर अवतीर्ण होकर उसका उपास्य विराजमान होता। सुमेरु की कल्पना के साथ ही मन्दिर स्थापत्य का उपक्रम हुआ।

1. सुमेरु की पहचान के विषय में विद्वानों के अनेक मत हैं। सुमेरु एक ऐसा विशिष्ट पर्वत है, जहाँ से पर्वत श्रेणियाँ निकलकर चारों दिशाओं में फैलती हैं। परिणामस्वरूप अनेक विद्वानों ने इसे पामीर पर्वत का ही प्रतिनिधि माना है। अनेक विद्वान् इसका अभिज्ञान हिमालय की विभिन्न चोटियों से करते हैं। किन्तु डॉ. आर. जी. हर्पे इसकी स्थिति अलताई पर्वत के क्षेत्र में मानते हैं, (मेरु हांगलेण्ड ऑफ दी आरियंस, विश्वेश्वरानन्द भारत-भारती (होशियारपुर, 1974), लेखमाला 109)। यह अलताई पर्वत-श्रेणी एशिया के मानचित्र में पश्चिमी साइबेरिया तथा मंगोलिया में स्थित है। डॉ. बलदेव उपाध्याय पश्चिमी साइबेरिया में स्थित अलताई पर्वत को सुमेरु मानते प्रतीत होते हैं (पुराण विमर्श (वनारस, 1965), पृ. 320)। प्रो. सैयद मुजफ्फर अली ने अनेक तर्कों और प्रमाणों के साथ मध्य एशिया में स्थित पामीर पर्वत को सुमेरु प्रमाणित किया है (दी जाग्रफी ऑफ दी पुराणस् (नयी दिल्ली, 1966), पृ. 47-52 तथा आकृति 2 और 4)।

## (ब) कैलास : शिखर-संरचना का प्रेरक

भक्त जानते थे कि उनका एक उपास्य देव कैलास पर भी निवास करता है। उस तक पहुँचने में असमर्थ भक्तों ने कैलास की भी रचना का सूत्रपात किया। यह परिकल्पना भी मन्दिर-स्थापत्य का सूत्रपात कही जा सकती है।

सुमेरु और कैलास की अनुकृतियों का एक मुख्य अंग शिखर भी माना गया। प्राचीन भारत में इसे विशेष मान्यता दी गयी।

## (स) मुद्राओं पर अंकित मन्दिर आकृतियाँ

ई. पू. 5वीं-4थी शती के सिक्कों पर भी शिखराकृतियाँ अंकित मिलती हैं।<sup>1</sup> कुछ आहत मुद्राओं पर मन्दिरों का प्रारम्भिक रूप देखने को मिलता है। ई. पू. द्वितीय तथा प्रथम शती की मुद्राओं के अतिरिक्त अनेक मूर्तियों पर भी मन्दिर-आकृतियाँ उत्कीर्ण की गयी थीं।

## (द) वेदिकाओं पर अंकित मन्दिर आकृतियाँ

मथुरा की वेदिकाओं पर अंकित मन्दिराकृतियों से उत्तर भारत के मन्दिरों के प्रारम्भिक रूप का ज्ञान होता है।

## (इ) प्राचीन मन्दिर-स्थापत्य की दो विशेषताएँ

ई. पू. द्वितीय-प्रथम शताब्दी के मन्दिरों की दो विशेषताएँ वेदिका और शिखर हैं। वेदिका जिसे वेष्टनी (बाड़) भी कहते हैं, प्रारम्भ में पवित्र-वृक्षों के चारों ओर बनायी जाती थी। ग्रामों और नगरों की रक्षा भी वेष्टनी द्वारा की जाती थी, जिसकी संज्ञा 'प्राचीर' हुई। महावीर का जिन यक्षायतनों में रुकने का उल्लेख मिलता है, वे किसी वृक्ष के नीचे होते थे<sup>2</sup> और उन्हें वेष्टनी द्वारा परिवेष्टित कर दिया जाता था। मन्दिरों की छत पर सादे शिखर का निर्माण करके सुमेरु और कैलाश की भाँति उच्चता, उज्वलता और शान्ति की अपूर्व सृष्टि की जाती थी।

1. द्रष्टव्य—एलन : केटलाग ऑफ क्वाइंस ऑफ एंशेण्ट इण्डिया इन दी ब्रिटिश म्यूजियम (लन्दन, 1936), भूमिका तथा पृ. 297-306।
2. प्रो. कृष्णदत्त वाजपेयी : भारतीय कला में भगवान् महावीर, सन्मति सन्देश (दिल्ली, मई 1961), पृ. 36।

92 :: देवगढ़ की जैन कला : एक सांस्कृतिक अध्ययन

## 2. मन्दिर-स्थापत्य का विकास : ऐतिहासिक दृष्टि

स्थापत्य के रूप में मन्दिरों का निर्माण कदाचित् उत्तर भारत में सर्वप्रथम हुआ। साहित्य में अनेक प्राचीन (ईसवी पूर्व 600 से भी पहले के) मन्दिरों के उल्लेख मिले हैं। मथुरा, काम्पिल्य आदि में पार्श्वनाथ, महावीर आदि के मन्दिर निर्मित हुए थे, ऐसा अनुमान कतिपय साहित्यिक उल्लेखों से होता है। महावीर से सौ वर्ष पूर्व मथुरा के कंकाली टीले पर किसी कुबेरा देवी ने पार्श्वनाथ का मन्दिर बनवाया था।<sup>1</sup> यह पहले सोने का था,<sup>2</sup> बाद में प्रस्तर-खण्डों और ईंटों से आवेष्टित कर दिया गया।<sup>3</sup>

### (अ) मौर्य-शुंग-काल

मौर्य और शुंग काल की मुद्राओं आदि से प्रबल प्रमाण मिलते हैं कि उस समय मन्दिरों का निर्माण बड़ी संख्या में होता था। इनमें बौद्ध-मन्दिर जिनपर चैत्यवृक्ष अंकित होता था, बहुत कम होते थे और जैन तथा वैदिक अपेक्षाकृत अधिक। इस समय के मन्दिरों के साथ वाटिका का निर्माण भी होता था। मन्दिर का निर्माण एक ऊँचे अधिष्ठान पर निर्मित स्तम्भों पर आधारित छत बनाकर होता था। छत प्रायः गोलाकार होती थी। गोल आकार क्रमशः अण्डाकार में परिणत होता गया। छत के आकार का यह परिवर्तन तत्कालीन शैल-गृहों में भी परिलक्षित होता है। बराबर की लोमश ऋषि की गुफा<sup>4</sup> और उदयगिरि (उड़ीसा) की हाथीगुम्फा<sup>5</sup> तथा उड़ीसा की अनेक गुफाओं<sup>6</sup> की छतें अण्डाकार ही हैं। चित्तौड़ के पास वड़ली तथा मध्यमिका

1. जिनप्रभसूरि : विविधतीर्थकल्प : मथुरापुराणकल्प, 9-17।

2. वही।

3. (अ) वही। (ब) प्रो. कृष्णदत्त वाजपेयी : भारतीय पुरातत्त्व में तीर्थकर सुपार्श्वनाथ : अहिंसावाणी (वर्ष 13 अंक 8-9, अगस्त-सितम्बर, 1963), पृ. 287। (स) डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन : जैन साहित्य में मथुरा : अनेकान्त, वर्ष 15, किरण 2, पृ. 65-67।

4. द. - (अ) हेनरिच जिम्मर : दी आर्ट ऑफ इण्डियन एरिथ्या, जिल्ड 1 (न्यूयार्क, 1954), पृ. 247 तथा आकृति पृ. 3 वी। (ब) बेंजामिन रॉलण्ड : दी आर्ट एण्ड आर्चीटेक्चर ऑफ इण्डिया : ब्राह्मिस्ट, हिन्दू जैन (विक्टोरिया, 1959) पृ. 38 तथा फलक 7, आकृति व। (स) विसेण्ट पृ. स्मिथ : ए लिट्टरी ऑफ फाइन आर्ट इन इण्डिया एण्ड सीलोन, फलक 8, आकृति व। (द) दी एज ऑफ इम्पीरियल कन्नोज (वुम्वर्ड, 1960), फलक 7, आकृति 13।

5. द. (अ) हेनरिच जिम्मर : वही, फलक 58, आकृति व। (ब) लुइस फ्रेडरिक : इण्डियन टेम्पल्स एण्ड स्कोल्चर दे. - (लन्दन, 1959), पृ. 57 तथा आकृति 50।

6. द. - (अ) हेनरिच जिम्मर : वही, फलक 46, 52, 56, 57 तथा 58। (ब) लुइस फ्रेडरिक : वही, पृ. 57, आकृति 52, 53 आदि। (स) विसेण्ट पृ. स्मिथ : वही, फलक 24।

नगरी में वासुदेव के मन्दिर (मौर्य-शुंग काल) बनाये गये। इनमें से एक के साथ नारायण नाम की वाटिका भी निर्मित हुई थी। कुछ समय पूर्व विदिशा में की गयी खुदाई से ई. पू. 200 में निर्मित विष्णुमन्दिर के अवशेष प्राप्त हुए हैं।<sup>1</sup> इस मन्दिर के सामने यूनानी राजा अन्तलिक्ति के राजदूत हेलियोदर ने गरुडध्वज की स्थापना करायी थी।

## (ब) शक-सातवाहन काल

शक-सातवाहन काल (ई. पू. 100 से 200 ई.) में मन्दिरों का निर्माण और भी अधिक संख्या में हुआ। इस समय के औदुम्बर, कुणिन्द और आर्जुनायन गणों की मुद्राओं पर जिस प्रकार देवों का विशेष चिह्न बनाया जाता था<sup>2</sup> उसी प्रकार का चिह्न मन्दिरों, उनके स्तम्भों तथा ध्वजाओं पर भी बनाया जाने लगा। उदाहरण के लिए जैन मन्दिरों में तीर्थकर की मूर्ति और शैव मन्दिरों में त्रिशूल तथा परशु के चिह्न उत्कीर्ण हुए। इस काल में प्रदक्षिणा-पथ का निर्माण विशेष रूप से प्रचलित हुआ। प्रदक्षिणा-पथ प्रायः काष्ठनिर्मित वेष्टनी के रूप में निर्मित होते थे, जिन्हें कुषाण-शासकों ने पाषाण से निर्मित कर प्रशस्त रूप दिया।

## (स) कुषाणकाल

कुषाण शासकों ने मन्दिरों के साथ ही साथ देवकुलों को भी बहुत महत्त्व दिया।<sup>3</sup> देवकुल वह भवन होता था, जिसमें मृत राजा की मूर्ति प्रतिष्ठापित होती थी। इस प्रकार एक ही देवकुल में अनेक परम्परागत राजाओं की मूर्तियाँ स्थापित हो जाया करती थीं। कुषाण काल में मथुरा, अहिच्छत्रा, कौशाम्बी, काम्पिल्य ओर हस्तिनापुर अच्छे जैन-केन्द्र माने जाते थे। उत्तर प्रदेश, बिहार और उड़ीसा में भी जैन धर्म के प्रारम्भिक केन्द्र थे। यहाँ अनेक जैन मन्दिर निर्मित हुए थे।

## (द) गुप्तकाल

गुप्तकाल (ई. चौथी से छठी शती) से पूर्व निर्मित प्राचीनतम उपलब्ध मन्दिर

1. प्रो. कृष्णदेन वाजपेयी : भारतीय संस्कृति में मध्यप्रदेश का योग (इलाहाबाद, 1967), पृ. 124।
2. विस्तार के लिए दे.—वी. एन. लूनिया : प्राचीन भारतीय संस्कृति (आगरा, 1966), पृ. 565।
3. प्रो. कृष्णदेन वाजपेयी : कला का इतिहास, हिन्दी साहित्य, त्रिवेदी प्रयाग, 1962 ई., पृ. 228।

94 :: देवगढ़ की जैन कला : एक सांस्कृतिक अध्ययन

(संख्या 17) साँची में है।<sup>1</sup> इसके पूर्व का कोई स्मारक पूर्ण रूप में उपलब्ध नहीं हुआ है। गुप्तकालीन मन्दिर भीतरगाँव, देवगढ़, एरण, नचना, भुमरा, ऊँचेहरा, तिगवाँ, मढ़िया (रीठी), साँची आदि स्थानों में उपलब्ध हुए हैं। इस काल में मिट्टी और लकड़ी आदि अस्थायी माध्यमों के स्थान पर ईंट और पत्थर के स्थायी माध्यम स्वीकार किये गये।<sup>2</sup>

मन्दिरों में सौन्दर्य की ओर अधिक ध्यान दिया गया। द्वारस्तम्भों को मंगलघट, कल्पवृक्ष, युगल-छवि और पत्रावली आदि के द्वारा अलंकृत किया जाने लगा। गंगा-यमुना के अंकन का व्यापक प्रचार भी इसी समय हुआ।<sup>3</sup> तोरण के मध्य, मन्दिर से सम्बद्ध देव की मूर्ति उल्कीर्ण की जाने लगी। गर्भगृह की छत भीतर से सपाट होती थी और उसके ऊपर लघु-शिखर का निर्माण होता था। देवगढ़, भीतरगाँव और साँची में गुप्तकालीन शिखर का अविकसित रूप दर्शनीय है।

इस काल के उत्तरार्ध में मन्दिर स्थापत्य पर्याप्त विकसित हो गया। शिखर का रूप इतना परिवर्तित और विशिष्ट हो गया कि वह गुर्जर-प्रतिहारकालीन तथा चन्देलकालीन शिखर का पूर्वरूप प्रतीत होता है। बाह्य भित्तियों पर मूर्तियों आदि के अंकन तथा प्रदक्षिणा-पथ का अलंकरण भी प्रारम्भ हुआ। सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण उपलब्धि इस युग के मन्दिर की यह थी कि उसके साथ मण्डप भी निर्मित होने लगा।<sup>4</sup> यह मण्डप प्रवेश-द्वार के सामने स्तम्भों पर आधारित छत के रूप में मिलता है। नचना आदि के कुछ मन्दिरों में विभिन्न देवों, यक्षों, गन्धर्वों और अप्सराओं तथा अर्धमानवाकृति किन्नर एवं सुपर्ण आदि के अंकन भी उत्तर गुप्तकाल की विशेषता है।

## (इ) गुप्तोत्तर काल और उसकी चार शैलियाँ

विवेच्यकाल (ई. 600 के पश्चात्) में, उत्तर-भारत में 'नागर शैली' का विशेष रूप से उत्थान हुआ। शिखर के अलंकरण पर अधिकाधिक बल दिया गया। परन्तु मन्दिर-स्थापत्य के शेष सभी तत्त्व किञ्चित् परिवर्तन के साथ वही चलते रहे, जो

1. सर जॉन मार्शल आदि : दी मानुमेण्ट्स ऑफ साँची, जिल्द एक, पृ. 57 तथा जिल्द तीन, फलक (XIV) (व) ए. के. कुमारस्वामी : हिस्ट्री ऑफ इण्डियन आर्ट (लिपजिग, 1926 ई.), पृ. 78 तथा आकृति 151। (स) प्रो. कृष्णदत्त वाजपेयी : भारतीय संस्कृति में मध्य प्रदेश का योग, पृ. 106।
2. बी. एन. लूनिया : प्राचीन भारतीय संस्कृति, पृ. 642।
3. प्रो. कृष्णदत्त वाजपेयी : भारतीय संस्कृति में मध्य प्रदेश का योग, पृ. 126-27।
4. (अ) बी. एन. लूनिया : प्राचीन भारतीय संस्कृति, पृ. 643। (ब) डॉ. सत्यनारायण दुबे : प्राचीन भारत का इतिहास (आगरा, 1967 ई.), पृ. 266।

गुप्तकाल में थे। जो परिवर्तन हुए उनसे मन्दिरों की चार भिन्न-भिन्न शैलियाँ प्रवर्तित हुई : (1) गुर्जरप्रतिहार शैली, (2) कलचुरि शैली, (3) चन्देल शैली और (4) कच्छपघात शैली।

### (1) गुर्जर-प्रतिहार शैली

इस शैली के मन्दिरों को गोलाकार 'पूर्णभद्र'<sup>1</sup> कहा जाता है। कुछ मन्दिर 16 कलाओं के कारण 'षोडशभद्र' भी कहे जाते हैं। इन मन्दिरों के अवयवों का वर्णन परवर्ती वास्तुशास्त्रों में किया गया है। साधारणतः प्रत्येक मन्दिर के आठ अंग होते हैं : अधिष्ठान, वेदिबन्ध, अन्तरपत्र, जंघा, वरण्डिका, शुकनासिका, कण्ठ और शिखर। शिखर के तीन भाग होते हैं, आमलक, आमलिका और कलश।

मन्दिर के भीतर गर्भगृह और सामने एक मण्डप बनता था। मण्डप एक ही होता था। स्तम्भों पर ऊपर की ओर घटपल्लव की रचना मिलती है। अन्य अलंकरणों में खर्जूर-पत्रावलि और कमल आदि मुख्य थे, जिन्हें जगती के चारों ओर अंकित किया जाता था। कुमुद भी चारों ओर बनता था। मत्तवारण और वसन्तपट्टिका के अंकन भी होते थे।

बहिर्भित्तियों पर मूर्तियों का अलंकरण गुप्तकाल की अपेक्षा कुछ अधिक और कलचुरियों तथा चन्देलों की अपेक्षा कुछ कम किया जाता था। द्वार के अलंकरण में घटपल्लव, हंस, कीर्तिमुख और गंगा-यमुना के अंकन गुप्तकाल की ही भाँति चलते रहे। द्वारों पर घटपल्लवों का अंकन इतना आवश्यक और व्यापक था कि वरुवासागर, मढ़खेरा (टीकमगढ़), देवगढ़ और कन्नौज आदि के मन्दिरों के द्वारों की संज्ञा घटपल्लव रूढ़ हो गयी।

### (2) कलचुरि शैली

कलचुरि शासकों ने मन्दिर-वास्तु में जिन तत्त्वों को ग्रहण किया, उनमें से अधिकांश गुर्जर-प्रतिहार तत्त्व हैं। इन्होंने भी बहिर्भाग में अलंकरण को प्रधानता दी, परन्तु गुप्त और गुर्जर-प्रतिहार शासक प्राकृतिक दृश्यों को अधिक महत्त्व देते थे। जबकि इन्होंने मानवाकृतियों, गणों और उपगणों आदि को अधिक प्रधानता दी। इन्होंने उनकी अपेक्षा द्वार के अलंकरण पर भी अधिक बल दिया।

1. विभक्तितलच्छन्दानामूर्ध्वमानं विशेषतः। प्रयुक्ता विविधाश्लन्ध्या वास्तुवेदसमुद्भवाः ॥  
भक्ते विशतिधा क्षेत्रे त्रिभागः कर्णविस्तरः। तत्समश्च प्रतिरथो विस्तरे निर्गमे तथा ॥  
भागा नन्दी च षड्भद्रं द्विभागो भद्रनिर्गमः। चतुर्भागा भवेद् भित्तिः शेषं गर्भगृहं भवेत् ॥  
कर्णं द्विशृंगं तिलकं शिखरं सूर्यविस्तरम्। रथैकशृंगं तिलकमप्यांशा चोरुमञ्जरी ॥  
नन्दिकायां च तिलकमुरःशृंगं पडंशकम्। रथोद्गमस्ततो भद्रे पूर्णमद्रस्य लक्षणम् ॥  
देखिए—भुवनदेवाचार्य : अपराजितपृच्छा, अ. 164. श्लोक 6-10।

'सप्तशाखा-द्वारों' का सूत्रपात इसी समय से हुआ। ऐसे द्वारों के तोरण पर सात पट्टिकाएँ होती हैं, जिनपर क्रमशः नाग, रूप, व्याल (शार्दूल), मिथुन, नवग्रह, दिक्पाल और कमल-कलश (नीचे-ऊपर) के अंकन किये जाते थे। ऐसे द्वार नौहटा (दमोह), बिनेका (सागर), पाली, त्रिपुरी, अमरकण्टक, सांहागपुर, सिंहपुर (शहडोल), रतनपुर (विलासपुर), जाँजगीर, खरोद (विलासपुर) और शिवरीनारायण (विलासपुर) आदि में दर्शनीय हैं।

इस शैली में शिखर की ऊँचाई बहुत होती गयी। सोहागपुर में शिखर ऊपर की ओर अपेक्षाकृत अधिक पतला होता गया है। वैष्णव, शैव और जैन मन्दिरों की निर्माण-विधि में कोई अन्तर नहीं होता था और सिंहपुर (शहडोल), ग्यारसपुर, दूधई, चाँदपुर, सेरोन, कारीतलाई, बिलहरी, पठारी (विदिशा), ऊन (वड़वानी), बड़गाँव, खजुराहो आदि स्थानों पर उक्त तीनों सम्प्रदायों के मन्दिर पास-पास और एक ही प्रकार के हैं।

इस शैली की सबसे बड़ी देन है, 'पंचायतन' शैली का प्रारम्भ। मण्डप तो गुर्जर-प्रतिहारों के समय से ही बनता आया था, इस समय अर्धमण्डप और बनाया जाने लगा जिससे मन्दिर के पाँच भागों (आयतनों)<sup>1</sup> की पूर्ति हो गयी।

### (3) चन्देल शैली

चन्देल काल में पंचायतन-मन्दिरों का पर्याप्त विकास हुआ। शिखर शैली भी इस काल में अपने उत्कृष्ट रूप को प्राप्त हुई। अलंकरणों के अन्तर्गत मूर्तियों का वाहुल्य उल्लेखनीय है। कलचुरि काल की भाँति इस काल में भी वैष्णव, शैव और जैन मन्दिर एक-दूसरे के समान और पास-पास निर्मित हुए। धर्म पर कौल-कापालिकों का प्रभाव बढ़ा। अतः रति-चित्रों का आधिक्य, अप्सराओं का विविध मुद्राओं में आलेखन और युग्म-छवियों के अंकन में वृद्धि हुई।<sup>2</sup>

इसके विपरीत कलचुरि शासकों के समय मत्तमयूर शाखा के साधुओं का प्रभाव बढ़ा, जो नैतिक पक्ष पर अधिक बल देते थे। इसीलिए उस समय ऐसी मूर्तियाँ अधिक नहीं बनीं। कौल-कापालिक आदि वाममार्गी शैव साधुओं के लिए मठों का निर्माण मन्दिरों के समीप ही होता था। गुर्गी, चन्द्रेह आदि में प्राप्त मठों के कई तल (मंजिल) हैं। इन साधुओं का जीवन आनन्दपरक रहा है।

सम्भवतः इनका प्रभाव जैन साधुओं पर भी पड़ा होगा। ये साधु मन्त्र, तन्त्र आदि पर आधिक विश्वास रखते थे, इसीलिए इनके प्रभाव में आनेवाले कलचुरि और

1. पंचायतन शैली का अन्य रूप भी है, जिसमें अधिष्ठातन पर मुख्य मन्दिर के अतिरिक्त चारों कोनों पर एक-एक लघु मन्दिर की योजना होती है।

2. प्रो. कृष्णदत्त नाजपट्टी : चन्देल और उनकी देन : मध्यप्रदेश सन्देश, 1 अगस्त 62, पृ. 26।

चन्देल शासकों के अनेक तान्त्रिक-चिह्न प्राप्त हुए हैं।<sup>1</sup> इस समय आचार्य परम्परा का महत्त्व बढ़ गया था और वे मठाधीशों-जैसे भोगविलास में लिप्त रहने लगे थे। नग्न योगियों तथा योगिनियों और उनके साथ दाढ़ीधारी शैव-साधुओं का आलेखन खजुराहो, भेड़ाघाट, त्रिपुरी, चाँदपुर, चन्देह (सीधी), गुर्गी (रीवाँ), जाँजगीर, उदयपुर आदि में उपलब्ध होता है।<sup>2</sup>

#### (4) कच्छपघात शैली

इस शैली में कला का आलंकारिक पक्ष अत्यन्त प्रचल हो उठा। भित्तियों और स्तम्भों आदि का कोई भी भाग अलंकरणरहित नहीं छोड़ा जाता था। प्राकृतिक दृश्यों के स्थान पर मानव-मूर्तियाँ अंकित होने लगीं, उनमें भी अप्सराओं और योगिनियों आदि के अंकन अधिकांश होते थे। परन्तु मूर्तियों में रूढ़ि और एकरूपता की अधिकता और मौलिकता का अभाव बढ़ता गया। शिखर का प्रायः वही रूप रहा, जो पहले था। उसकी लम्बाई में भी कोई अन्तर नहीं आया।

### 3. देवगढ़ की मन्दिर-वास्तु : स्वरूप और प्रमुख विशेषताएँ

मन्दिर-वास्तु के उद्भव और विकास की विभिन्न युगीन प्रवृत्तियों की पृष्ठभूमि में अब हम देखेंगे कि देवगढ़ में मन्दिर-वास्तु का स्वरूप क्या रहा, उसकी प्रमुख विशेषताएँ क्या हैं और समकालीन प्रवृत्तियों का आदान-प्रदान उसमें कहाँ तक हुआ। इसके लिए, यहाँ के प्रायः सम्पूर्ण स्थापत्य को एक इकाई मानकर उसका तीन दृष्टियों से अध्ययन करेंगे : भूमि तथा उपकरण, निर्माता और निर्माणकाल, शैलीगत विशेषताएँ और अलंकरण।

#### (1) भूमि तथा उपकरण

देवगढ़ के स्थापत्य का निर्माण एक समतल<sup>3</sup> अधित्यका<sup>4</sup> पर हुआ है। उसकी

1. (अ) वही, 11 अगस्त, 62, पृ. 261

(ब) प्रो. कृष्णदत्त वाजपेयी : गुप्त तथा मध्यकालीन मूर्तिकला : मल्हना, जनवरी 1962, पृ. 51।

2. प्रो. कृष्णदत्त वाजपेयी : मध्यप्रदेश का ऐतिहासिक और सांस्कृतिक अनुशीलन : सागर विश्वविद्यालय, पुरातत्त्व पत्रिका, संख्या 1, 1967, पृ. 87।

3. टक्कूर फेरु : वास्तुसार प्रकरण : अध्याय 1, श्लोक 9-10।

4. यह अधित्यका लगभग 1 मील लम्बी और 6 फर्लांग चौड़ी है, जिसके मध्य 8 एकड़ 20 टिसमिल भूमि पर 'त्रिन स्मारक' विद्यमान हैं।



भूमि ठोस है।' सभी मन्दिर और मानस्तम्भ चारों ओर से प्रशंसनीय लताओं और औषधि-वृक्षों से सुशोभित हो रहे हैं।<sup>1</sup> उनका निर्माण पाषाण से हुआ है। पाषाणों की जुड़ाई में चूना, लोहा और सीसा का प्रयोग किया गया है। मिट्टी और लकड़ी आदि अस्थायी सामग्री का प्रयोग मूलतः विलकुल नहीं हुआ है। आधुनिक काल में जीर्णोद्धार के लिए सीमेण्ट और चूना तथा पाँच-छह द्वारों में कपाटों के लिए काष्ठ फलक प्रयोग में लाये गये हैं। पाषाण यहीं से खोदकर निकाला गया था। साधारणतः लाल बलुआ और 'प्रेनाइट' तथा कहीं-कहीं काला और भूरा बलुआ पाषाण प्रयोग में आया है।

## (2) निर्माता और निर्माणकाल

देवगढ़ की वास्तु और मूर्ति-कला आबू और खजुराहो आदि की भाँति किसी एक व्यक्ति या राजवंश की देन नहीं है। इतनी उत्कृष्ट और विपुल कृतियों के निर्माण में जनता का सहयोग, शासक वर्ग का प्रोत्साहन, कलाकारों के स्थानीय होने से सरलता से उपलब्धि और निर्माण-स्थल पर ही पाषाण की प्राप्ति बहुत सहायक सिद्ध हुई होगी।

इन कृतियों का निर्माण लगभग सोलह सौ वर्षों तक चलता रहा। यहाँ प्राप्त हुए एक अभिलेख<sup>2</sup> की लिपि मोर्यकालीन ब्राह्मी लिपि से पर्याप्त समानता रखती है।<sup>3</sup> नाहरघाटी और दशावतार मन्दिर में प्राप्त दो अभिलेख गुप्तकाल के हैं। कुछ जैन मन्दिर<sup>4</sup> तथा मूर्तियाँ<sup>5</sup> भी यहाँ इसी समय की विद्यमान हैं जो यह सिद्ध करते हैं कि उस समय यहाँ निर्माण कार्य चालू था।

संवत् 919 में गुर्जर-प्रतिहार शासक भोज के संरक्षण में भी यहाँ निर्माण होता रहा।<sup>6</sup> संवत् 1121 तक गुर्जर-प्रतिहार शासक राज्यपाल द्वारा एक मठ (मं. सं. 18, चित्र सं. 28) का निर्माण कराया जा चुका था।<sup>7</sup> संवत् 1210 में महासामन्त उदयपाल

1. पं. आशाधर : प्रतिष्ठासरोद्धार : अध्याय 1, श्लोक 19।
2. बगलमिटर : वृहत्संहिता (वंगली, 1947), अध्याय 56, श्लोक 6-8।
3. अद साहू, जैन संग्रहालय में सुरक्षित।
4. दे.-चित्र संख्या 49।
5. मं. सं. 12, 30, 15 आदि। दे.-चित्र संख्या 17, 34 तथा 36।
6. दे.-चित्र संख्या 50, 51, 52, 53, 54।
7. दे.-मं. सं. 12 के अर्धमण्डप में दक्षिण-पूर्वी स्तम्भ पर उत्कीर्ण अभिलेख।
8. डॉ. एन. डी. सांकानिया : जैन चक्रवर्ती एण्ड यक्षिणीपुत्र : कुलेटिन ऑफ द इन्कन कालेज रिसर्च इन्स्टीट्यूट, जिल्द 1, अंक 2-4 (मार्च, 1940), पृ. 162।

ने मूर्तियों के निर्माण में आर्थिक सहयोग दिया था।<sup>1</sup> यह महासामन्त किस शासक का था, इसके बारे में कुछ निश्चित नहीं है। इसके पश्चात् ही प्रत्येक शताब्दी के अनेक अभिलेख प्राप्त हुए हैं। उनसे प्रमाणित होता है कि निर्माण का यह कार्य विक्रम की 19वीं शती तक चलता रहा। यही कारण है कि यहाँ एक ओर मन्दिर के प्रारम्भिक रूप का दर्शन होता है तो दूसरी ओर उत्तर-मुगलकाल की कला भी दृष्टिगत होती है। स्थापत्य के निर्माण की प्रक्रिया अविच्छिन्न रूप से इतने दीर्घकाल तक भारत के गिने-चुने स्थानों में ही मिलती है।

### (3) शैलीगत विशेषताएँ और अलंकरण

अग्निपुराण<sup>2</sup> में 45 मन्दिरों की एक सूची दी गयी है, जिसमें चतुष्कोण, अष्टकोण, षोडशभद्र और पूर्णभद्र मन्दिरों के भी नाम हैं। बृहत्संहिता<sup>3</sup> में मन्दिरों के 20 भेद वर्णित हैं। उन्हीं में चतुष्कोण, अष्टकोण, षोडशभद्र एवं सर्वतोभद्र भी परिगणित हैं। देवगढ़ में इनमें से मं. सं. 15 षोडशभद्र और मं. सं. 28 पूर्णभद्र हैं। शेष मन्दिर चतुष्कोण हैं, जिनमें से कुछ समचतुष्कोण नहीं हैं। अष्टकोण मन्दिर यहाँ उपलब्ध नहीं हुआ है। अग्निपुराण में उक्त उल्लेख के तुरन्त पश्चात् लिखा है कि ये नाम नागर-प्रासादों के भी हैं और लाटप्रासादों के भी। इस दृष्टि से देवगढ़ के सभी मन्दिर नागर-प्रासादों के अन्तर्गत रखे जाएँगे।

समरांगण-सूत्रधार<sup>4</sup> के 63वें अध्याय में 20 प्रकार के मन्दिर परिगणित हुए हैं और उन्हें द्रविड़ प्रासादों (अध्याय 61-62) तथा वाराट-प्रासादों (अध्याय 64) से पृथक् निर्दिष्ट किया गया है। इन उल्लेखों के आधार पर देवगढ़ के सभी मन्दिर 'नागरशैली' के अन्तर्गत आते हैं। केवल मं. सं. 12 में प्रदक्षिणा-पथ शेष है। इसलिए उसे 'सन्धार-प्रासाद' कहेंगे, और शेष को 'निरन्धार'।

इसी प्रकार उक्त मन्दिर में गर्भगृह, प्रदक्षिणापथ, अन्तराल, महामण्डप और अर्धमण्डप की रचना हुई है, अतः उसे पंचायतन शैली का मानेंगे। शेष में से कुछ में गर्भगृह, महामण्डप और अर्धमण्डप, कुछ में गर्भगृह और मण्डप तथा कुछ में केवल गर्भगृह ही है। अतः ये सब पंचायतन शैली के अन्तर्गत नहीं आ सकेंगे। शास्त्रों

1. दे.-मं. सं. 12 के गर्भगृह में दायीं ओर विनि-स्वप्न पर निर्मित देवकृतिका पर उल्कीर्ण अभिलेख। और भी देखिए—एच. हारग्रीव्स : ए. पी. आर.- 1916, पृ. 5 तथा परिशिष्ट 'अ'।
2. (अ) महर्षि वेदव्यास, (आचार्य बलदेव उपाध्याय सम्पादित), वाराणसी, 1966, अध्याय 104, श्लोक 13-20। (ब) गरुडपुराण में भी प्रायः वही क्रम द्रष्टव्य है। दे. गरुडपुराण, डॉ. रामशंकर भट्टाचार्य सम्पादित (वाराणसी, 1964), अध्याय 17, पद्य 19-31।
3. वराहमिहिर : (दंगलौर, 1947), अध्याय 56, श्लोक 17-18।
4. गायकवाड़ और वट्टल सीरीज़, वदोदा में 1924, 1925 में दो किन्दी में प्रकाशित।

100 :: देवगढ़ की जैन कला : एक सांस्कृतिक अध्ययन

के अनुसार पंचायतन शैली को ही मन्दिर का पूर्णरूप माना गया है। जिनमें एक, दो या तीन अंग मिलते हैं, उनके विषय में विस्तृत विवरण प्राप्त नहीं होता है।

अधिकांश मन्दिरों पर शिखर की संयोजना हुई है। कुछ लघु-मन्दिरों पर लघु-शिखर (गुमटी) निर्मित हुए हैं। कुछ मन्दिरों के शिखर अपने प्रारम्भिक स्वरूप से भिन्नता रखते हैं जो जीर्णोद्धार के परिचायक हैं। कुछ शिखर मन्दिरों के गर्भगृह या मण्डप पर न होकर अर्धमण्डप पर संयोजित किये गये हैं। जिन मन्दिरों पर शिखर नहीं हैं, उनकी छतें सपाट हैं। बड़े मन्दिरों की सपाट छतें मूलतः कई पाषाण-शिलाओं की संयोजना करके निर्मित की गयी थीं। कालान्तर में वे ध्वस्त हो गयीं, और अब उन्हें साधारण पाषाण-शिलाओं को सीमेण्ट से जोड़कर बना दिया गया है।

बहुत-सी ऐसी पाषाण-शिलाएँ यहाँ-वहाँ प्राप्त हुई हैं जैसी ऐहोल के गुप्तकालीन लाड़खाँ मन्दिर की छत पर आज भी देखी जा सकती हैं। मं. सं. 30 (चित्र 34) के मण्डप की छत अभी भी उसी प्रकार की शिलाप्रणालिकाओं द्वारा निर्मित देखी जा सकती है। अनुमान है कि एक-दो मन्दिरों की पूरी छत उसी प्रकार की रही होगी। दो लघु-मन्दिरों<sup>1</sup> की छतें एक-एक शिला द्वारा निर्मित की गयी हैं। इनकी तुलना न केवल छत की दृष्टि से अपितु दोहरी कार्निश, प्रवेश-द्वार और उन पर अंकित गंगा-यमुना आदि की दृष्टि से भी तिगवाँ के विष्णु-मन्दिर और पतौरा आदि के गुप्तकालीन मन्दिरों से की जा सकती है।

उक्त विशेषताओं के अतिरिक्त एक विशेषता ऐसी भी है, जो कुछ मन्दिरों को मन्दिर कम और निवास-स्थान अधिक प्रमाणित करती है। जैसा कि कहा जा चुका है देवगढ़ में साधुओं और भट्टारकों के लिए भी कुछ आवास-गृहों का निर्माण हुआ था, जो कालान्तर में मन्दिरों के रूप में परिणत कर लिये गये। इनके उदाहरण हो सकते हैं—मं. सं. 2, 8, 14, 21 और 27।<sup>2</sup>

#### 4. देवगढ़ के जैन मन्दिर

अब हम यहाँ के कुछ विशिष्ट मन्दिरों का पृथक्-पृथक् अध्ययन करके ज्ञात करेंगे कि उनकी प्रमुख विशेषताएँ क्या हैं।

##### (1) मन्दिर संख्या 12

यह मन्दिर<sup>3</sup> देवगढ़ में कई दृष्टियों से सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। कला, शैली

1. दे.—लघुमन्दिर संख्या 6।

2. दे. चित्र संख्या 2, 13, 19 और 21।

3. दे. चित्र संख्या 16 से 25 तक।

और अभिलेखों से निष्कर्ष प्राप्त होता है कि इस सम्पूर्ण मन्दिर का निर्माण तीन या चार बार में हुआ है। जिसे अब इस मन्दिर का महामण्डप (चित्र 17) कहा जाता है, वह सम्भवतः एक स्वतन्त्र मन्दिर के रूप में सर्वप्रथम निर्मित हुआ था।

इसके पश्चात् शिखर-युक्त गर्भगृह (चित्र 24) का निर्माण भी एक स्वतन्त्र मन्दिर के रूप में हुआ होगा, फिर गर्भगृह और महामण्डप के मध्यवर्ती अन्तर को, प्रदक्षिणापथ के निर्माण द्वारा पूरा करके इन तीनों कृतियों में एकत्व की संयोजना की गयी होगी। और इस सबके पश्चात् प्रस्तुत मन्दिर को 'पंचायतन' का परिपूर्ण रूप देने के लिए अर्धमण्डप का निर्माण भी हुआ होगा। इस प्रकार यह सम्पूर्ण मन्दिर एक आकस्मिक और विचित्र संयोग के फलस्वरूप विभिन्न संयोजनाओं के द्वारा अस्तित्व में आया दीखता है। इस तथ्य की पुष्टि के लिए हम इसके अंग-प्रत्यंग पर निर्माण-क्रम से विचार करेंगे।

**महामण्डप :** जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, इस मन्दिर के महामण्डप का निर्माण एक स्वतन्त्र मन्दिर के रूप में हुआ था। इसका प्रथम कारण यह है कि इसका निर्माण कदाचित् चौथी शती में हुआ था जबकि गर्भगृह का, जैसा कि आगे कहेंगे, छठी शती में। महामण्डप को गुप्तकालीन कृति सिद्ध करने में वह शिलालेख (चित्र 49) (ज्ञानशिला) और तीर्थकर मूर्ति (चित्र 50) पर्याप्त है जो यहाँ प्राप्त हुई थीं। इसके मध्यवर्ती चार स्तम्भों के बीच, कुछ वर्ष पूर्व तक एक वेदी थी, जिसमें उक्त अभिलेख जड़ा था। इस अभिलेख की लिपि यद्यपि अनेक 'भारोपीय लिपियों का मिश्रण है, तथापि इसमें अशोककालीन ब्राह्मी के लक्षण भी देखे जा सकते हैं।<sup>2</sup>

**गर्भगृह :** गर्भगृह कदाचित् छठी शती में निर्मित हुआ था। गुप्तकाल के उत्तरार्ध में प्रचलित प्रायः सभी विशेषताएँ इसमें उपलब्ध होती हैं। इस समय तक शिखर का रूप इतना परिवर्तित और अलंकृत हो गया था कि वह गुर्जर-प्रतिहार और चन्देल-काल के शिखर का पूर्व रूप प्रतीत होता है। प्रस्तुत शिखर (चित्र 24 और 25) में यह तथ्य सरलता से दर्शनीय है। बाह्य भित्तियों की अलंकरण-विहीन योजना और दोहरी कार्निंस आदि विशेषताएँ भी इसे गुप्तकाल के उत्तरार्ध की कृति प्रमाणित करती हैं।

जहाँ तक इसके प्रवेश-द्वार (चित्र 18) का प्रश्न है वह अपेक्षाकृत अधिक विकसित और अलंकृत है, परन्तु वह जैसा कि उसके भीतरी वायें पक्ष पर उत्कीर्ण

1. दे.—चित्र संख्या 17।

2. 'इस अभिलेख की प्रथम सात पंक्तियों में वास्तव में विभिन्न वर्णमालाओं के नमूने समाविष्ट हैं, जिनमें अधिकांश द्राविड़ तथा मौर्यकालीन ब्राह्मी भी समाविष्ट हैं, यद्यपि तुर्की और फारसी उसमें नहीं है।'—श्री दयाराम साहनी, ए. प्रो. रि., भाग दो, 1918, पृ. 104।

अभिलेख से ज्ञात होता है, संवत् 1051 में स्थापित किया गया था। इस द्वार की रचना-शैली से यह स्पष्ट है कि यह मन्दिर की मूल योजना का एक अंग नहीं था, प्रवृत्त एक प्राचीन द्वार के स्थान पर बाद में इसकी स्थापना की गयी। वर्तमान द्वार (चित्र 18) की रचना-शैली मन्दिर की रचना-शैली से कुछ नवीन है। इससे भी यही प्रतीत होता है कि संवत् 1051 तक यह मन्दिर (गर्भगृह) इतना प्राचीन हो चुका था कि उसका प्रवेश-द्वार नष्ट-भ्रष्ट हो चुका था और उसे बदलना आवश्यक हो गया था। और फिर इसमें स्थित वह मूर्ति (चित्र 51) तो गुप्तकाल के तुरन्त बाद की है ही, जिसकी मुखाकृति, जटाजूट, अंग-प्रत्यंग का सूक्ष्म अंकन तथा अलंकरण की सहज भव्यता गुप्तकाल में विशेष रूप से प्राप्त होती है।

**प्रदक्षिणापथ :** प्रदक्षिणापथ गर्भगृह के एक या डेढ़ शती पश्चात् निर्मित हुआ होगा। गर्भगृह की कार्निश और उसके ऊपरी भाग को सूक्ष्मता से देखने पर ज्ञात होता है कि उसे काटकर बाद में समाधिष्ट किये गये प्रदक्षिणा-पथ के उष्णीष (उत्तरंग) अपनी असमानता को आज भी नहीं छिपा सकते। इसकी बहिर्भित्तियों में चिनी हुई जालियों<sup>1</sup> और यक्षी-मूर्तियों<sup>2</sup> के अंकन सहित स्तम्भों की कला गुर्जर-प्रतिहार काल की प्रतीत होती है।

यक्षी-मूर्तियों के नीचे उत्कीर्ण उनके नामों की लिपि आठवीं शती से पूर्व की नहीं हो सकती। और फिर किसी भी गुप्तकालीन मन्दिर में प्रदक्षिणा-पथ देखने को नहीं मिलता। डॉ. हंसमुख धीरजलाल साँकलिया ने इसकी बहिर्भित्तियों पर अंकित यक्षी-मूर्तियों को लगभग 600 ई. से पूर्व-चन्देलकाल तक की माना है।<sup>3</sup> इससे भी उपर्युक्त धारणा की पुष्टि होती है।

**अन्तराल :** अन्तराल का निर्माण कदाचित् प्रदक्षिणापथ के साथ या उसके कुछ समय बाद हुआ होगा।

**अर्धमण्डप :** अर्धमण्डप<sup>4</sup> भी प्रदक्षिणापथ के साथ या कुछ बाद की कृति होना चाहिए। उसके दक्षिण-पूर्वी स्तम्भ पर के अभिलेख में संवत् 919 उत्कीर्ण है। इससे इस अर्धमण्डप के निर्माण की उत्तरावधि निश्चित होती है। इस अभिलेख में प्रस्तुत स्तम्भ के निर्माण का उल्लेख है, अर्धमण्डप के निर्माण का नहीं। अनुमानतः यह स्तम्भ के स्थान पर स्थापित किया गया होगा जो किसी कारण टूट गया होगा।

1. जालियों की स्थिति का परिज्ञान चित्र संख्या 24 से हो सकता है।

2. कुल 24 यक्षी-मूर्तियाँ जड़ी हुई हैं। कुछ के लिए दे.—चित्र संख्या 101 और 102।

3. जैन यक्षसु एण्ड यक्षिणीज : ब्रिटेन ऑफ दी डेक्कन कॉलेज रिसर्च इंस्टीट्यूट, जिल्द 1, अंक 2-4, मार्च 1940, आकृति 6, 8, 9।

4. दे.—चित्र संख्या 16।

अतः अर्धमण्डप को उक्त संवत् 919 से लगभग 100 वर्ष पूर्व तक की कृति माना जा सकता है।

निर्माण क्रम के इस विश्लेषण से यह निष्कर्ष निकलता है कि मं. सं. 12, दो मौलिक मन्दिरों का समन्वित और परिवर्तित रूप है और उसका निर्माण चौथी शताब्दी ई. से 9वीं शताब्दी ई. तक होता रहा। अब इस मन्दिर के अर्धमण्डप आदि पाँच अंगों का विश्लेषण प्रस्तुत किया जाता है।

**अर्धमण्डप (चित्र 16)** चार स्तम्भों पर आधारित है। सामने के दो स्तम्भ एक समान हैं और शेष दो असमान। वे मूल स्तम्भों के खण्डित हो जाने से समाधिष्ट किये गये होंगे। उनके अलंकरण और परिधि की असमानता तथा अलंकरणरहित चौकियाँ उक्त अनुमान की पुष्टि करती हैं। उनके शीर्ष मौलिक हैं। सामने के स्तम्भों पर चौकियों के ऊपरी भाग के चारों ओर क्षेत्रपालों का अंकन है और उनके ऊपर शिखराकृतियों से युक्त देवकुलिकाओं में तीन-तीन ओर तीर्थकरों की कायोत्सर्गासन और एक-एक ओर यक्षियों की मूर्तियाँ उल्कीर्ण हैं। उनके ऊपर दोनों स्तम्भों पर प्रत्येक ओर एक-एक कायोत्सर्ग तीर्थकर अंकित हैं, जिनके दोनों ओर एक-एक सुन्दरी का आकर्षक अंकन है। सुन्दरियों के पार्श्व में एक-एक पुरुषाकृति और नारी-आकृति उल्कीर्ण की गयी है।

इस दृश्य के ऊपर पत्रावलि का अलंकरण और उसके ऊपर विभिन्न देव-देवियों का चित्रण है। इसके भी ऊपर नृत्यमण्डली का मनोरम आलेखन हुआ है। जिसके ऊपर जालीदार कटाव, इसके पश्चात् समग्र मण्डप का भार संभालने में दत्तचित्त कीचक दिखाये गये हैं। तोरण पर गोमुख यक्ष के अनन्तर विविध वाद्ययन्त्रों से सज्जित एक लम्बी संगीत-मण्डली (दे. चित्र संख्या 118) का अंकन काफी आकर्षक बन पड़ा है। दक्षिण-पूर्वी स्तम्भ पर एक ऐतिहासिक अभिलेख<sup>1</sup> उल्कीर्ण है, जिससे देवगढ़ का प्राचीन नाम जानने में और प्रतिहार राजा भोजदेव की राज्य-सीमा तथा समय के निर्धारण में सहायता मिलती है।

अर्धमण्डप और महामण्डप के मध्य जो रिक्त स्थान (खुला चयूतरा) पड़ा है, उसका अस्तित्व विचारणीय है। ऐसी कोई परम्परा दृष्टिगत नहीं होती, किन्तु पट्टदकल के विरूपाक्ष-मन्दिर (740 ई.) में यह बात देखी जा सकती है। वहाँ मन्दिर के मुख्य भवन से कुछ दूर हटकर, जैसा कि यहाँ हुआ है, एक स्वतन्त्र अर्धमण्डप का निर्माण हुआ है। यहाँ की भाँति वह भी चार स्तम्भों पर आधारित है।

**महामण्डप :** महामण्डप (चित्र 17) की रचना, जैसा कि सिद्ध किया जा चुका है, चौथी शताब्दी ई. में एक स्वतन्त्र मन्दिर के रूप में हुई थी। मन्दिर का यह रूप सर्वथा अद्वितीय है। 36 स्तम्भों पर आधारित यह महामण्डप वास्तव में 'श्रीमण्डप'

1. दे.--परिशिष्ट दो, अभिलेख क्र. एक।

के रूप में निर्मित हुआ था। श्रीमण्डप, ये प्रकोष्ठ होते हैं जिनकी रचना तीर्थंकर के समवशरण के ठीक मध्य में की जाती है। इनकी संख्या 12 होती है। प्रस्तुत मण्डप में वे इसी संख्या में देखे जा सकते हैं।<sup>1</sup> ये 'श्रीमण्डप' प्रत्येक दिशा में वीथि-पथ को छोड़कर चार-चार भित्तियों के अन्तराल से तीन-तीन होते हैं। इनके मध्य में 'गन्धकुटी' की रचना होती है। गन्धकुटी वह चतुष्कोण प्रकोष्ठ होता है, जिसकी रचना 12 श्रीमण्डपों के मध्य तीन पीठिकाओं पर होती है। इसके मध्य में सिंहासन पर विराजमान होकर तीर्थंकर धर्मोपदेश देते हैं।

प्रस्तुत महामण्डप के मध्य में भी एक चतुष्कोण वेदी थी,<sup>2</sup> जिसे 'गन्धकुटी' के रूप में ही निर्मित किया गया होगा। अब यह वेदी नहीं है,<sup>3</sup> पर उसकी स्थिति रेखाचित्र से देखी जा सकती है।<sup>1</sup> इसी वेदी में जड़ा हुआ जो अभिलेख (चित्र 49) प्राप्त हुआ है, उसमें जैसा कि कहा जाएगा, 18 भाषाएँ प्रयुक्त हुई हैं। तीर्थंकर का धर्मोपदेश 18 महान् भाषाओं (और सात सौ लघु भाषाओं) में होता है,<sup>5</sup> जिनके प्रतीक रूप में यह अभिलेख प्रतिष्ठापित किया गया होगा। इस प्रकार यह महामण्डप मूलतः एक ऐसा मन्दिर है, जिसके समान दूसरा मन्दिर कदाचित् ही कहीं निर्मित हुआ होगा। इस दृष्टि से निःसंकोच कहा जा सकता है कि भारतीय मन्दिर-स्थापत्य को देवगढ़ की इस महामण्डप के रूप में एक अद्भुत देन है।

**अन्तराल :** इस मन्दिर (संख्या 12) का अन्तराल भी उल्लेखनीय है। इसके भीतर दायें-बायें एक-एक लघु-मन्दिर की संयोजना हमें उलझन में डाल देती है। इन लघु-मन्दिरों को गर्भगृह या उसके अंग नहीं कह सकते, क्योंकि उसके और उनके बीच प्रदक्षिणापथ विद्यमान है और ये प्रदक्षिणापथ से सटे हुए नहीं हैं। इनका निर्माण कम-से-कम प्रदक्षिणापथ के पश्चात् ही हुआ था, क्योंकि उसकी बहिर्भित्तियों में संयोजित दो-दो यक्षी-मूर्तियाँ प्रत्येक लघु मन्दिर द्वारा ढक ली गयी हैं, जिससे प्रदक्षिणापथ के प्रभाव में और यक्षी मूर्तियों की पूर्ण (24) संख्या में शोचनीय कमी पड़ी है।<sup>6</sup> इनका निर्माण अन्तराल के साथ भी नहीं, बल्कि उसके कम-से-कम एक

1. दे.—रेखाचित्र क्र. 39।

2. (अ) ए. कनिंघम : आ. स. इ. : जिल्द 10, पृ. 100-101। (ब) ए. फुह्रर : भा. ए. इंश., पृष्ठ 120। (स) दयाराम साहनी : ए. प्रो. रि., भाग दो, पृ. 9। (द) श्री परमानन्द बरवा ने भी इस तथ्य की पुष्टि की है।

3. इसे लगभग तीन वर्ष पूर्व क्षेत्रीय प्रबन्ध-समिति ने इसलिए हटा दिया है कि उससे सम्पूर्ण मन्दिर की संयोजना और आकर्षण में बाधा होती थी।

4. दे.—रेखाचित्र क्र. 39।

5. वसिष्ठभार्य : तिलोयपण्णति, 4-902।

6. यह कभी श्री साहनी जैसे विद्वान् को भी भ्रम में डाले बिना न रही, फलतः उन्होंने इन यक्षी मूर्तियों की संख्या 20 दी है। दे.—ए. प्रो. रि., 1918, पृ. 9।

शती पश्चात् हुआ होगा; कुछ दिन पूर्व तक इन लघु-मन्दिरों में यक्षियों की दो मूर्तियाँ स्थापित थीं,<sup>1</sup> जिससे प्रतीत होता है कि ये किसी ऐसे भट्टारक की प्रेरणा से निर्मित किये गये होंगे जिसके विचार से गर्भगृह में प्रवेश करने से पूर्व विशिष्ट स्थान में स्थापित यक्षी-मूर्ति का दर्शन अनिवार्य होता था। विचारों की यह कटुतरता भट्टारकों में नौवीं शती के पश्चात् आयी थी। अतः कहा जा सकता है कि इन लघु-मन्दिरों का निर्माण भी नौवीं शती के पश्चात् हुआ होगा, जब अन्तराल निर्मित हो चुका था।

**प्रदक्षिणापथ :** प्रदक्षिणापथ गर्भगृह से परवर्ती कृति है। बहिर्भित्तियों में संयोजित जालीदार कटाव तथा चौबीस-यक्षियों की मूर्तियों के कारण यह जैन स्थापत्य में ही नहीं, अखिल भारतीय स्थापत्य में भी अनुपम वन पड़ा है। खजुराहो और भेड़ाघाट में चौंसठ-योगिनियों की मूर्तियों का प्रदर्शन निश्चय ही इस प्रसंग में विचारणीय है। सतना जिले में पतौरा ग्राम के समीप 'पतिवानदाई' नाम का एक मन्दिर है।<sup>2</sup>

उसमें जो मूर्तिफलक प्राप्त हुआ था,<sup>3</sup> उस पर चौबीस-यक्षियों की मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। यक्षियों के साथ उनके नाम भी उन पर अंकित हैं। इस फलक और प्रस्तुत बहिर्भित्तियों की संयोजना की तुलना की जा सकती है। दोनों की यक्षियाँ प्रायः खड़ी और दो हाथोंवाली हैं। दोनों स्थानों पर उनके उपास्य तीर्थंकर भी अंकित हुए हैं, देवगढ़ में यक्षियों के ऊपर मस्तक पर, और उस शिलाफलक पर यक्षियों की पंक्ति को आवेष्टित करनेवाली दूसरी पंक्ति में। दोनों स्थानों पर यक्षियों के नाम उत्कीर्ण हैं और दोनों के ही नामों में भाषागत और क्रम सम्बन्धी अशुद्धियाँ हुई हैं, यहाँ तक कि कुछ नाम छूट गये हैं और कुछ की द्विरुक्ति हो गयी है।

बहिर्भित्तियोंवाली मूर्तियों का आकार लगभग 1 फुट 3 इंच है और उनमें से प्रत्येक पृथक्-पृथक् शिलाफलकों पर उत्कीर्ण हैं, जबकि अन्यत्र वे सब एक ही शिलाफलक पर अंकित हैं और इसीलिए उनका आकार बहुत छोटा है। कला, भावाभिव्यक्ति और लिपि से प्राप्त निष्कर्ष देवगढ़ के अंकन को पूर्ववर्ती सिद्ध करते हैं, यद्यपि यह अन्तर लगभग दो शतियों से अधिक नहीं हो सकता।

1. इन्हें अब वहाँ से जैन धर्मशाला में स्थानान्तरित कर दिया गया है और वहाँ अन्य मूर्तियाँ स्थापित कर दी गयी हैं, जिनमें से एक खड़ी सरस्वती (चित्र 95) की भी है। इनमें पहले स्थापित मूर्तियों के लिए देखिए—चित्र संख्या 99 और 106।
2. इस मन्दिर के विस्तृत परिचय के लिए देखिए—पं. गोपीलाल अमर, 'पतिवानदाई : एक गुप्तकालीन जैन मन्दिर' : अनेकान्त, वर्ष 19, क्रि.पू. 6, पृ. 340-46।
3. अब यह मूर्तिफलक प्रयाग संग्रहालय में प्रदर्शित है। इसके विस्तृत विवरण के लिए देखिए—पं. गोपीलाल अमर, 'पतिवानदाई की अद्वितीय प्रतिमा', जैन सिद्धान्त भास्कर, भाग 25, क्रि.पू. दो, पृ. 40-43।

106 :: देवगढ़ की जैन कला : एक सांस्कृतिक अध्ययन



**प्रदक्षिणापथ का प्रवेश-द्वार :** गर्भगृह के चतुष्कोण होने से प्रदक्षिणापथ भी चतुष्कोण है। उसके चारों ओर एक-एक द्वार है,<sup>1</sup> उनमें से पश्चिमी अर्थात् मुख्य द्वार अपेक्षाकृत विशाल और अधिक अलंकृत है। इस द्वार<sup>2</sup> का तोरण पूर्ववर्ती नहीं है और वर्तमान तोरण इतना कम अलंकृत है कि उसकी समता शेष द्वार से बिलकुल नहीं बैठती। जो भाग अवशिष्ट है उसे ही 'सप्तशाखा द्वार' का उत्कृष्ट निदर्शन मानना होगा। ऐसे द्वारों का प्रारम्भिक रूप गुर्जर-प्रतिहार काल में मिलता है।

कलचुरि काल में इनकी प्रधानता हो गयी। नौहटा, बिनेका, पाली, त्रिपुरी, अमरकण्टक, सोहागपुर, रतनपुर, जाँजगीर, खरोद, शिवरीनारायण आदि में ऐसे ही द्वार देखे जा सकते हैं। चन्देलकाल में इन द्वारों का प्रचलन कदाचित् और बढ़ा। खजुराहो के प्रायः सभी मन्दिरों में इनकी संयोजना दर्शनीय है। विशेष रूप से वहाँ के विश्वनाथ मन्दिर का प्रवेश-द्वार प्रस्तुत द्वार से पूर्णतः समानता रखता है।

**गर्भगृह का प्रवेश-द्वार :** गर्भगृह का प्रवेश-द्वार<sup>3</sup> अलंकरण की दृष्टि से प्रदक्षिणापथ के प्रवेश-द्वार की अपेक्षा कदाचित् अधिक उत्कृष्ट है। जैसा कि कहा जा चुका है, इसका निर्माण गर्भगृह के साथ नहीं हुआ था। पूर्वोक्त द्वार के पाषाण और आकार-प्रकार आदि में इस द्वार<sup>4</sup> से अत्यधिक समानता को देखते हुए कहा जा सकता है कि उन दोनों का निर्माण एक साथ हुआ था। इस प्रवेश-द्वार के सम्पूर्ण अलंकरण का विश्लेषण यहाँ प्रसंगानुकूल होगा।

इचोढ़ी के मध्य में कल्पवृक्ष की उभरी हुई सज्जा के दोनों ओर स्नेह-क्रीड़ा में मग्न सिंह और हाथी तथा बायें पार्श्वयक्ष और दायें लक्ष्मी का अंकन है। उस पर दोनों ओर तीन-तीन शाखाओं वाले द्वार-स्तम्भ स्थित हैं। बाहरी शाखाएँ सिरदल के ऊपरी भाग तक बढ़ती जाती हैं।

उन्में सर्वप्रथम एक-एक देवी का और विभिन्न मुखाकृतियोंवाले शार्दूलों का आलेखन है, जिनमें गजमुख और मनुष्यमुख शार्दूल उल्लेखनीय हैं।

भीतर की बायीं शाखा में गंगा जिसके साथ नाग भी अंकित हैं, अपनी तीन सहायक-देवियों के साथ चित्रित है। यहीं एक पुस्तकधारी उपाध्याय का आलेखन है।

1. प्रदक्षिणापथ में चारों ओर एक-एक द्वार बनाने की पद्धति अन्यत्र भी थी, जैसा कि नचना के एक मन्दिर का वर्णन करते हुए श्री गखालदास वैजजी ने संकेत किया है। दे.—दी एज ऑव द इम्पीरियल गुल्फज़ (बनारस, 1963), पृ. 146।
2. आजकल इसे लोहे के जालीदार 'शटर' से बन्द किया जाता है। इसका दायीं पक्ष चित्र संख्या 23 में देखा जा सकता है।
3. दे.—चित्र संख्या 18।
4. आजकल इसे लकड़ी के कपाटों द्वारा बन्द किया जाता है।

इसके ऊपर पाँच-पाँच देवकुलिकाओं की पाँच शाखाएँ हैं। मध्य की शाखा आगे की निकली है और वह चौड़ाई में आसपास की शाखाओं से दूनी है। मध्य की प्रथम देवकुलिका में (चित्र 22) एक साधु एक शूकर को सम्बोधित कर रहे हैं। उसके ऊपर एक साधु अपनी पीठी कमण्डलु लिये खड़े हैं, और उनके चरणों का स्पर्श करता हुआ एक दाढ़ीधारी युवक झुका है और एक महिला हाथ जोड़े खड़ी है (चित्र 22)।

इसके ऊपर की तीन देवकुलिकाओं में तीन प्रेम-मग्न-दम्पतियों का आलेखन है। आसपास की दोनों शाखाओं में विभिन्न मुद्राओं और वाद्य-यन्त्रों के साथ खड़े हुए स्त्री-पुरुष आलिखित हैं। दायीं ओर यमुना (चित्र 21) और उसकी तीन सहायक देवियाँ तथा उसके ऊपर नागी का अंकन हुआ है। इनके बायीं ओर एक पुस्तकधारी उपाध्याय आलिखित हैं। उसके ऊपर यहाँ भी पाँच-पाँच देवकुलिकाओं की तीन शाखाएँ हैं। मध्यवर्ती शाखा में प्रेमासक्त-दम्पतियों तथा आसपास की शाखाओं में पूर्ववत् स्त्री-पुरुषों के अंकन हैं।

सिरदल के मध्य में कमलाकृति आसन पर द्वितीय तीर्थंकर अजितनाथ<sup>1</sup> का पद्मासन में और उनके दोनों ओर एक-एक तीर्थंकर का कायोत्सर्गासन में अंकन है। उनके भी दोनों ओर तोरण के नीचे उड़ान भरते हुए पाँच-पाँच विद्याधर-युगल और उनके भी ऊपर नवग्रह<sup>2</sup> चित्रित हुए हैं। फिर उनके भी ऊपर एक नवीन शाखा प्रारम्भ होती है, जिसकी मध्यवर्ती देवकुलिका में एक पद्मासन तीर्थंकर और उसके दोनों ओर चार-चार पद्मासन तथा छह-छह कायोत्सर्गासन तीर्थंकरों के अंकन हैं।

इस शाखा के ऊपर तथा मध्यवर्ती देवकुलिका के दोनों ओर तीर्थंकर की माता के सोलह स्वप्नों<sup>3</sup> (चित्र संख्या 19 और 20) का चित्रण हुआ है। इसके बायें महाकाली नाम की नरवाहिनी विद्यादेवी<sup>4</sup> और दायें अम्बिका<sup>5</sup> यक्षी के आलेखन हैं। इसके नीचे सरस्वती<sup>6</sup> और बायें महाकाली विद्यादेवी के नीचे लक्ष्मी<sup>7</sup> के अंकन हैं।

1. दे.—चित्र 20।

2. दे.—चतुर्थ अध्याय की पाठ टिप्पणी।

3. दे.—पंचम अध्याय की पाठ टिप्पणी।

4. दे.—चतुर्थ अध्याय की पाठ टिप्पणी।

5. बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ की शासन देवी।

6. (अ) कामाख्या निलयीभूता बद्धपद्मासनस्थिता। अक्षमाला तथा वीणा पुस्तकं च कमण्डलुः ॥ नीलकण्ठी श्वेतभुजा श्वेतांगी चन्द्रशेखरा। महाविद्या महावाणी भारती च सरस्वती ॥

भुवनदेवाचार्य : अपराजितपृच्छा, 230, 14-15।

(ब) दे.—चतुर्थ अध्याय की पाठ टिप्पणी।

7. दे.—चतुर्थ अध्याय की पाठ टिप्पणी।

गर्भगृह में विशालाकार तीर्थकर मूर्ति<sup>1</sup> और उसके दोनों ओर चँवरधारी इन्द्र तथा अश्विका और द्वार के दोनों ओर (भीतर) अश्विका मूर्तियाँ जड़ी हुई हैं।

## (2) मन्दिर संख्या 30

मन्दिर संख्या 30 (चित्र 34) गुप्तकालीन वास्तु का उत्कृष्ट निदर्शन है। उसका विन्यास (ले आउट) ग्रीक मन्दिरों से अनुप्राणित प्रतीत होता है।

उसका स्तम्भों पर आधारित मण्डप, साधारण अधिष्ठान, सपाट छत और चतुष्कोण गर्भगृह उसे साँची के मन्दिर संख्या 17 के<sup>2</sup> अनुरूप सिद्ध करते हैं। स्तम्भों का आकार चौकियों पर चतुष्कोण और मध्य में षोडशकोण तथा शीर्ष पर गोल है। पाषाणों की जुड़ाई गारे के बिना हुई है और उनपर प्लास्टर नहीं हुआ है। गर्भगृह का प्रवेश-द्वार संकीर्ण है। इन सब दृष्टियों से भी यह साँची के उक्त मन्दिर से समानता रखता है।

इसकी तुलना ऐहोल के लाइखॉ मन्दिर से भी की जानी चाहिए। स्तम्भ, मण्डप और गर्भगृह आदि की दृष्टि से तो इन दोनों में समानता है ही, छत का रूप धारण करने वाली शिला-प्रणालियों की दृष्टि से भी उल्लेखनीय समानता है। ये शिला-प्रणालिकाएँ एक-दूसरे से गारे आदि के बिना ही जोड़ी गयी हैं।

अतः इस मन्दिर के गुप्तकालीन कृति होने में कोई सन्देह नहीं रह जाता।

## (3) मन्दिर संख्या 15

यह (चित्र संख्या 26) देवगढ़ का सर्वसुन्दर मन्दिर है। प्रवेश-द्वार और स्तम्भों का अलंकरण इसकी सुन्दरता के प्रमाण हैं। प्रवेश-द्वार तक एक 'राहापग' में से पहुँचा जाता है, जिसका निर्माण शेष तीन 'राहापगों' से भिन्न है। अधिष्ठान की ऊँचाई को दोनों ओर की भित्तियों से काटकर यह राहापग ऊपरी सौपान से लगभग 6 इंच पर प्रारम्भ होता है। भित्तियों से लगभग 8 इंच दूर दोनों ओर एक-एक अलंकृत स्तम्भ विद्यमान हैं, जिनसे यह राहापग एक लघुमण्डप का रूप ले लेता है। गुर्जर-प्रतिहार काल में प्रचलित हुए मण्डप का प्रारम्भिक रूप इस राहापग के रूप में सरलता से देखा जा सकता है।

ड्योढ़ी के मध्य में उभरा हुआ कल्पवृक्ष उसके दायें ओर युगल-छवि और बायें ओर कीर्तिमुख तथा दोनों ओर सिंह द्वारा आक्रान्त एक-एक पुरुष चित्रित हैं।

1. चित्र संख्या 31।

2. (1) ग्र. जॉन माशेल : दी मानुभूमस आफ साँची, विल्ड तीन, फलक CXIV, और भी 2. विसेण्ट ए. सिमथ : ए हिस्ट्री आफ फाइनल आर्ट्स इन इण्डिया एण्ड सीलोन (वन्मत्त, तृतीय संस्करण), फलक 63, आकृति 31।

द्वार-पक्षों पर अपने-अपने चाहनों पर आरूढ़ गंगा-यमुना सहायक देवियों के साथ प्रदर्शित हैं। उनके घटों पर नाग-नागी के अंकन हैं। फिर प्रत्येक द्वार-स्तम्भ पर तीन शाखाएँ प्रारम्भ होती हैं। प्रथम और तृतीय शाखाओं में पत्रावलि और खर्जूर-पत्रों का आलेखन है। मध्य की शाखाओं में चार-चार कोष्ठकों में तीर्थकरों की पद्यासन मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं। सिरदल के मध्य में निर्मित कोष्ठक में एक और उसके दोनों ओर चार-चार पद्यासन तीर्थकर मूर्तियों के अंकन हैं। गर्भगृह की सज्जा और उसमें स्थित मूर्तियाँ भी महत्त्वपूर्ण हैं।

इन सबके अतिरिक्त इसमें एक ऐसी विशेषता है, जो वास्तुकला की दृष्टि से उसे देवगढ़ के सभी जैन मन्दिरों से पृथक् करके दशावतार मन्दिर के समीप ला खड़ा करती है। वात यह है कि इसके तीन राहापगों में ठीक वैसी ही विशाल देवकुलिकाएँ निर्मित हुई हैं जैसी दशावतार मन्दिर में हैं।

एक देवकुलिका (दक्षिण) में अब मध्यवर्ती मूर्ति नहीं है, उसके स्थान पर एक गवाक्ष निर्मित कर दिया गया है। उत्तरी देवकुलिका में एक विशाल पद्यासन और उसके दोनों ओर अनेक कायोत्सर्गासन मूर्तियाँ अंकित हैं।

पृष्ठवर्ती (पूर्वी) देवकुलिका में उसी की भाँति तीर्थकर मूर्तियाँ हैं, इसके द्वार-स्तम्भों पर गंगा-यमुना का चित्रण उल्लेखनीय है। देवकुलिकाओं के निर्माण, अधिष्ठान की ऊँचाई, द्वारों और स्तम्भों के अलंकरण तथा अन्य समानताओं की दृष्टि से यह और दशावतार मन्दिर एक ही समय निर्मित हुए प्रतीत होते हैं। आश्चर्य नहीं कि इसका प्रेरणा-स्रोत वह या उसका प्रेरणास्रोत यह रहा हो।

जिनकी रूपरेखा शास्त्रीय विधानों से समता रखती हो ऐसे मन्दिरों में देवगढ़ में कदाचित् यह मन्दिर प्रथम है। यह 'षोडशभद्र' मन्दिर है। रेखाचित्र में इसकी सोलह कलाएँ (कोण) स्पष्ट देखी जा सकती हैं।<sup>1</sup> समरांगणसूत्रधार के अनुसार इसे 'नन्दिघोष'<sup>2</sup> नामक प्रासाद कहना होगा। इसके 24 स्तम्भों की ऐसी संयोजना की गयी है कि उससे एक 'त्रास' ( - ) का आकार बन गया है। सम्पूर्ण रूपरेखा, विधान से इतनी अधिक अनुकूलता रखती है कि जैसे समरांगणसूत्रधार के लेखक<sup>3</sup> ने 'नन्दिघोष' प्रासाद के रूप में इसे ही आदर्श माना हो।

1. देखिए—वराहमिहिर : बृहत्संहिता : (बंगलोर, 1947), अध्याय 56, श्लोक 58।

2. देखिए—रेखाचित्र क्र. 40।

3. नन्दिघोष के लक्षण के लिए देखिए—अपराजितपृच्छा, पृ. 503-504।

4. भोजदेव का समय ग्यारहवीं शताब्दी ई. माना जाता है। परिचय, समय आदि के लिए देखिए— (क) डॉ. रामजी उपाध्याय : संस्कृत साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, पृ. 277-78। (ख) डॉ. जगदीशचन्द्र जैन : प्राकृत साहित्य का इतिहास, पृ. 659-661। (ग) अपराजित पृच्छा, भूमिका (अंगरेजी), पृ. 11 तथा 27 आदि।

मन्दिर वास्तु में इन सब दृष्टियों से यह मन्दिर अपनी विशिष्ट स्थिति रखता है। इस मन्दिर के गुप्तकाल या उसके तुरन्त पश्चात् निर्मित हुए होने में कोई सन्देह नहीं, क्योंकि :

(1) इसके मण्डप में स्थित (चित्र 52) तथा गर्भगृह में स्थित मूलनायक की मूर्ति भी उसी समय की कृति है।<sup>1</sup> (2) राहापणों की देवकुलिकाओं के कारण वह दशावतार-मन्दिर का समकालीन प्रमाणित होता है। (3) भित्ति के पाषाणों की घिनाई यहीं के मन्दिर संख्या 4 (छठवीं शती), साँची के मन्दिर संख्या 17 (425 ई.), ऐहोल के लघु (5वीं शती) और हुच्चिमल्लिगुडि (6वीं शती) के मन्दिरों और बादामी के समीपस्थ महाकूटेश्वर मन्दिर (लगभग 6वीं शती) की बहिर्भित्तियों से अत्यधिक समानता रखती है। (4) प्रवेश-द्वार का सीमित अलंकरण, मण्डप का प्रारम्भिक रूप और शिखर का अविकसित रूप गुप्तकाल की विशेषताएँ हैं, जो इसमें प्राप्त होती हैं।

#### (4) मन्दिर संख्या 31

देवगढ़ की गुप्तोत्तरकालीन कृतियों में मन्दिर संख्या इकतीस (चित्र 35 एवं 36) उल्लेखनीय है। अधिष्ठान की सादगी, प्रवेश-द्वार का अलंकरण, दोहरी कार्निश और सपाट छत इसे सातवीं शती में निर्मित हुआ सिद्ध करते हैं। इन्हीं दृष्टियों से इसकी तुलना पतौरा (सतना) के पतियानदाई मन्दिर से की जा सकती है, जो गुप्तकालीन स्थापत्य का अच्छा उदाहरण है।<sup>2</sup>

इसके प्रवेश-द्वार को गुर्जर-प्रतिहारकालीन सप्तशाखा द्वार का प्रारम्भिक रूप कहा जा सकता है। गंगा-यमुना, तोरण के मध्यवर्ती तीर्थकर और नवग्रह का अंकन यहाँ अत्यन्त सूक्ष्मता से हुए हैं। इचोढ़ी पर अंकित मत्तवारण और कल्पवृक्ष आदि तो इसके गुप्तोत्तरकालीन होने में सन्देह नहीं रहने देते।

#### (5) मन्दिर संख्या 4

मन्दिर संख्या 4 (चित्र 4) गुप्तकाल के तुरन्त पश्चात् निर्मित हुआ होगा। अधिष्ठान की सादगी, स्तम्भों का सीमित अलंकरण, अर्धमण्डप और उसके ऊपर का अविकसित लघु-शिखर, दोहरी कार्निश और प्रवेश-द्वार पर गंगा-यमुना का आलेखन इस मन्दिर की प्राचीनता के द्योतक हैं। मण्डप के दायें स्तम्भ में संवत् 1224 का, दायें स्तम्भ में संवत् 1207 का और बहिर्भित्ति पर (सामने दायें) संवत्

1. दे.-चित्र संख्या 51।

2. दे.-गोपीबाल अमर, 'पतियानदाई एक गुप्तकालीन जैन मन्दिर', अनेकान्त, (फरवरी, 1967), पृ. 19, चित्र 6, पृ. 310-311।

1709 के अभिलेख उत्कीर्ण हैं। ये तीनों इस मन्दिर के निर्माण काल की नहीं, बल्कि जीर्णोद्धार की सूचना देते हैं।

गुप्तकालीन वास्तु के अन्य लक्षण भी इस मन्दिर में स्पष्ट रूप से देखे जा सकते हैं। द्वार के अलंकरण में कल्पवृक्ष, युगल-छवि और पत्रावलि उनमें से मुख्य हैं।

इस मन्दिर की सर्वाधिक उल्लेखनीय विशेषता है उसकी भित्तियों के निर्माण में पाषाण चिनने की शैली, जो साँची के 17वें मन्दिर (425 ई.), ऐहोल के लघुमन्दिर<sup>2</sup> (लगभग 5वीं शती) और हुच्चिमल्लिगुडि मन्दिर<sup>3</sup> (6वीं शती), तथा बादामी के समीपस्थ महाकूटेश्वर मन्दिर<sup>4</sup> (लगभग 6वीं शती) की बहिर्भित्तियों से अत्यधिक समानता रखती है।

## (6) मन्दिर संख्या 18

इस मन्दिर (चित्र संख्या 28) में प्राचीनता के वे सभी लक्षण विद्यमान हैं जो उपर्युक्त मन्दिर संख्या 4 में दृष्टिगत होते हैं। जिन मन्दिरों से और जिन दृष्टियों से उसकी तुलना की गयी है, उन्हीं से इसकी भी निःसन्देह की जा सकती है। इसके स्तम्भ और प्रवेश-द्वार उस (मं. सं. 4) की अपेक्षा कहीं कम अलंकृत हैं। इसे गुप्तकाल के तुरन्त पश्चात् की कृति मानने में संकोच नहीं होना चाहिए।

## (7) मन्दिर संख्या 28

उपर्युक्त मन्दिर की भाँति मन्दिर संख्या 28 (चित्र संख्या 32-33) का योगदान भी मन्दिर-वास्तु के विकास में कम नहीं है। यह 'पूर्णभद्र' मन्दिर है।<sup>5</sup> राहापगों के अतिरिक्त अर्धकोणक और कोणक पगों के लघु आकार से सम्पूर्ण रेखाकृति को गोल आकार मिल गया है। अधिष्ठान की ऊँचाई नहीं के बराबर है। बहिर्भित्तियों पर दोहरी कार्निश, मण्डप (जो नष्ट हो चुका है) का सदभाव,<sup>6</sup> प्रवेश-द्वार का सीमित अलंकरण, एक अंग-शिखर की संयोजना, मुख्य शिखर की अलंकरणहीनता और छत से ही पतला होते जाना आदि ऐसी विशेषताएँ हैं जो इस मन्दिर को गुप्तकाल और

1. (अ) लुइस फ्रेडरिक : इण्डियन टेम्पल्स एण्ड स्कल्पचर, पृ. 191, फलक 151। (ब) विमेण्ट ग. स्मिथ : 'ए हिस्ट्री आव फाइन आर्ट्स आव इंडिया एंड सोलोन', फलक 17 (अ)।
2. लुइस फ्रेडरिक : वही, पृ. 209, फलक 180।
3. वही, पृ. 234, फलक 203।
4. वही, पृ. 225, फलक 190।
5. देखिए—विन्यारा रूपरेखा, चित्र क्र. 42।
6. विन्यारा रूपरेखा (चित्र क्र. 42) से भी इसके सदभाव का स्पष्ट ही संकेत है।

गुजर-प्रतिहार स्तूप की कड़ी सिद्ध करती हैं। अनुमानतः यह आठवीं शती में कभी निर्मित हुआ होगा।

जिसे अभी हम मण्डप कह आये हैं उसे यदि अर्धमण्डप कहें तो हमें अंगशिखर के नीचे वाले लघु-कक्ष (3 फुट 3 इंच चौड़े और 10 फुट 2 इंच लम्बे) को मण्डप कहने की सुविधा होगी। यह मण्डप सामने के राहापग में एक अलंकृत प्रवेश-द्वार के साथ संयोजित है। इससे सम्पूर्ण मन्दिर में एक ओर भव्यता का संचार हुआ है तो दूसरी ओर गुजर-प्रतिहारकालीन वास्तुकला का स्वरूप स्पष्टतर हुआ है। प्रवेश-द्वार पर तीन शाखाएँ हैं। गंगा-यमुना और अन्य अलंकरणों से गुप्तकालीन प्रवेश-द्वार का आभास मिलता है।

गभमूढ और उसका प्रवेश-द्वार अलंकृत नहीं है, पर उसमें स्थित मूर्तियाँ प्राचीनता और कलापूर्णता के लिए विशेष रूप से ध्यान देने योग्य हैं।<sup>1</sup>

अंग-शिखर की ऊँचाई (छत से) 11 फुट 8 इंच है। उसमें सर्वप्रथम 4 फुट 2 इंच चौड़ी और 5 फुट 3 इंच ऊँची स्तम्भयुक्त देवकुलिका है। उसका तोरण टूट गया है। मुख्य मूर्ति भी गिरकर टूट गयी थी, अतः उसके स्थान पर दूसरी स्थापित कर दी गयी है। उसके दायें पार्श्वनाथ और बायें सुपार्श्वनाथ की पूर्ववर्ती मूर्तियाँ हैं। मुख्य मूर्ति के अष्टप्रातिहार्य वाला<sup>2</sup> भाग मूलरूप में है जिसके मध्य में उड़ान भरते हुए चतुर्भुज उद्धापक<sup>3</sup> को स्थिति असाधारण है।

उसके दोनों ओर तीन-तीन देवकुलिकाएँ हैं जिनमें से मध्यवर्तियों में पद्मासन और पार्श्ववर्तियों में कायोत्सर्गासन तीर्थकर मूर्तियाँ हैं।

इस विशाल देवकुलिका के दोनों ओर दो-दो श्रीयत्स, उनके ऊपर एक-एक श्रावत्स के साथ कल्पवृक्ष और उनके भी ऊपर (दायीं ओर) धरणेन्द्र-पद्मावती और (दायीं ओर) तीन तीर्थकर मूर्तियाँ अंकित हैं।

इस सबके ऊपर पद्मावती और उसके भी ऊपर लगभग 5 फुट के त्रिकोण पर तोरणकार अंकन है जिसमें सशक्त उड़ान भरता हुआ विद्याधर-युगल दर्शनीय बन पड़ा है।

मुख्य शिखर, जैसा कि कहा जा चुका है, अधिष्ठान से ही प्रारम्भ हो जाता है और छत के लगभग 6 फुट की ऊँचाई पर से अधिकाधिक पतला होने लगता है। 'आमलक' काफी बड़ा है, जिसपर आच्छादन सहित कलश है। उसपर 'आमलिका' और उसपर 'दण्ड' स्थित है। सम्पूर्ण शिखर की ऊँचाई छत से अनुमानतः 25 फुट है।

1. इसमें स्थित एक एसी ही मूर्ति के लिए 3 - चित्र संख्या 62।

2. 'द' - पंचम अक्षर में गिरावणो।

3. पार्श्वर की शक्ति को दर्शाते पञ्चकर त्रिनाक में युक्त देवनाक।

## (8) मन्दिर संख्या 5

यह मन्दिर<sup>1</sup> उपर्युक्त मन्दिर (संख्या 28) का समकालीन प्रतीत होता है, यद्यपि इसका शिखर उसकी अपेक्षा कम ऊँचा और कम विकसित है। प्रवेश-द्वारों पर गंगा-यमुना के अतिरिक्त महामानसी (16वीं विद्यादेवी),<sup>2</sup> गोरी (9वीं विद्यादेवी),<sup>3</sup> महाकाली (8वीं विद्यादेवी)<sup>4</sup> और अम्बिका के आलेखन से भी यह गुर्जर-प्रतिभारकालीन वास्तु सिद्ध होता है।

भीतर समचतुष्कोण (7 फुट 2 इंच) इस मन्दिर में 4 फुट का समचतुष्कोण और 7 फुट 10 इंच ऊँचा एक स्तम्भ स्थित है।<sup>5</sup> कुछ वर्ष पूर्व किये गये जीर्णोद्धार के समय इसकी अस्त-व्यस्त चौकी व्यवस्थित की गयी थी। चौकी 1 फुट 3 इंच ऊँची है, जिसके चारों ओर सिंहासन के सभी आवश्यक लक्षण, कीर्तिमुख, सिंह और यक्ष-यक्षियाँ आदि अंकित हैं। यह दो पाषाणों से मिलकर बनी है। इसके ऊपर 3 इंच की शिला और उसके भी ऊपर 6 इंच की कमलाकृति शिला स्थित है। उसपर भी 2 इंच की एक अलंकरण-रहित शिला स्थित है, जो जीर्णोद्धार के समय वा तो बदल दी गयी है या अतिरिक्त रूप से समाधिष्ट कर दी गयी है। इस पर 5 फुट 6 इंच ऊँची और 2 फुट 9 इंच का (बीच में) समचतुष्कोण पाषाण स्थित है, जो ऊपर जाकर 2 फुट 4 इंच का समचतुष्कोण रह जाता है।

इस पाषाण के चारों ओर समानान्तर 14 (आड़ी) शाखाओं में तीर्थकरों की कायोत्सर्गासन और पद्मासन मूर्तियाँ अंकित हैं। उसके शीर्ष के प्रत्येक पार्श्व में 5-5 देवकुलिकाएँ हैं जिनमें से प्रत्येक दूसरी ओर चौथी में कायोत्सर्गासन और शेष में पद्मासन तीर्थकर मूर्तियाँ अंकित हैं। देवकुलिकाओं के ऊपर साधारण अलंकरण और उसके ऊपर एक कमलाकृति का आलेखन है।

प्रवेश-द्वारों<sup>6</sup> की दृष्टि से यह मन्दिर विशेष महत्त्व रखता है। पूर और पश्चिम में तो पंचशाखा-द्वार हैं ही, उत्तर और दक्षिण में भी कलाकार ने पाषाण में द्वाराकृतियाँ उत्कीर्ण करने का अद्भुत और सफल प्रयत्न किया है।<sup>7</sup> फलस्वरूप यह

1. दे.—चित्र संख्या 5 से 8 तक।
2. इसके लक्षण के लिए दे.—चतुर्थ अध्याय की टिप्पणी।
3. लक्षण के लिए दे.—चतुर्थ अध्याय की टिप्पणी।
4. इसके लक्षण के लिए दे.—चतुर्थ अध्याय की टिप्पणी।
5. दे.—चित्र संख्या 8।
6. दे.—चित्र संख्या 6 और 7।
7. उत्तर की द्वार-आकृति चित्र संख्या पाँच में देखी जा सकती है।

114 :: देवगढ़ की जैन कला : एक सांस्कृतिक अध्ययन



मान्य सवनाभद्रा वास्तु को कोटि में आ सकता है। इसकी द्वाराकृतियाँ वास्तव में अत्यन्त मध्य वन पाई हैं।

उनके तथाकथित कपाट इतनी सूक्ष्मता और यथावन्ता से उत्कीर्ण हुए हैं कि उन्हें वास्तविक होने का भ्रम हुए बिना नहीं रहता। प्रवेश-द्वारों और कपाटों से ऐसे अलंकरण बाट में भी चलते रहे। पूना के निकट (लगभग 20 मील) 'वाई' नामक ग्राम में एक जमींदार के निवास में अत्यन्त अलंकृत प्रवेश-द्वार है। प्रस्तुत द्वार और कपाट वास्तविक नहीं हैं बल्कि पाषाण-निर्मित हैं, जबकि 'वाई' ग्राम में वे वास्तविक आर कार्पाटनिर्मित होने के साथ ही साथ उत्तरवर्ती (अब से लगभग 150 वर्ष प्राचीन) भी हैं। तथापि उन दोनों में अलंकरण समन्धी क्रमिक विकास के लक्षण स्पष्ट रूप से देखे जा सकते हैं।

इस मन्दिर में तीन अभिलेख प्राप्त हुए हैं : (1) पश्चिमी-द्वार के बायीं ओर वर्तिर्भित्ति पर आर (2) पश्चिमी द्वार की ड्योढ़ी पर उत्कीर्ण तथा (3) पूर्वी द्वार के भीतर ऊपर जड़ा हुआ, त्रिनमें क्रमशः संवत् 1120, 1500 और 1503 पढ़ा जा सकता है। प्रथम दो अभिलेखों में यात्रियों के कीर्तिमान हैं, जबकि तीसरे में इस मन्दिर के जीर्णोद्धार का उल्लेख है। मन्दिर के निर्माण का उल्लेख किसी में नहीं है।

## (9) मन्दिर संख्या 11

त्रिचञ्च मन्दिर (चित्र संख्या 15), देवगढ़ के एकमात्र द्वितल मन्दिर के रूप में उल्लेखनीय है। इसकी वर्तिर्भित्तियाँ अलंकृत न होकर भी खजुराहो का पूर्वरूप प्रतीत होती हैं। दोनों तलों के प्रवेश-द्वारों को भी अलंकरण की दृष्टि से खजुराहो का पूर्वरूप कहा जा सकता है। सम्भोगरत युग्म, आकर्षक चोष्टाओं में मग्न सुन्दरियों और मोहक मुद्राओं में प्रस्तुत अप्सराओं की विरल संयोजना भी उक्त तथ्य को पुष्ट करती है। आश्चर्य नहीं कि खजुराहो के स्थापति और मूर्तिकार ने यहाँ प्रशिक्षण प्राप्त करके ही वहाँ अपना कौशल दिखाया हो।

वर्तिर्भित्तियों में अधिष्ठान से 2 फुट 2 इंच की ऊँचाई से 3 फुट 6 इंच ऊँची

1. (अ) अग्निन्दानां त्र्यचक्षुदो नास्ति यत्र समन्ततः।

तद्व्याप्तं सर्वतोभद्रं चतुस्तार-समायुतम् ॥

वर्तिर्भित्ति : वृत्तगोचना : (धंगलौर, 1917), अध्याय 53, श्लोक 31 की टीका में उद्धृत गण का मत। (ब) जाभापुराण : अध्याय 104, पद्य 14। (स) गरुडपुराण : अध्याय 47, पद्य 22। (द) अपराजितपुत्र, 159, 13-16।

2. क्लाउड बायली (Clau Bailey) : दी डिजाइन डेबलपमण्ट ऑव इण्डियन आर्किटेक्चर (लंदन 1918), प्लेट 37।

3. मन्दिर संख्या 3 भी पहले द्वितल था, परन्तु उसके अत्यन्त जीर्ण हो जाने से वर्तमान में उसे एकतल बना दिया गया है।

एक पंक्ति है, जिसमें साधारण स्तम्भों द्वारा देवकुलिकाओं का आभास एकट किया गया है। परन्तु कुछ देवकुलिकाओं में ही तीर्थंकर मूर्तियाँ अंकित हैं, कुछ में मान-स्तम्भों का आलेखन है, शेष अधिकांश अलंकरण-रहित हैं। इसके ऊपर दूसरी पंक्ति है। वह अपेक्षाकृत कम ऊँची है और उसमें कोई अलंकरण नहीं है। तीसरी पंक्ति की ऊँचाई लगभग प्रथम पंक्ति के बराबर है और उसमें सघन स्तम्भाकृतियों के अतिरिक्त कोई अंकन नहीं है।

इसका अर्धमण्डप आठ स्तम्भों पर आधारित है। वह इतना लम्बा है कि उसे अर्धमण्डप कहना उचित नहीं प्रतीत होता। प्रवेश-द्वार का अलंकरण गुर्जर-प्रतिहारकाल से बाद का, कदाचित् कलचुरि-कालीन प्रतीत होता है। महामण्डप काफी विशाल है। गर्भगृह का प्रवेश-द्वार भी अलंकृत है। उसमें 2 फुट 4 इंच ऊँची, 2 फुट 1 इंच चौड़ी और 6 फुट 5 इंच लम्बी वेदी है, उसपर वर्तमान में कोई प्रतिमा नहीं है।

उसके नीचे महावीर की (सिंह का चिह्न अस्पष्ट) विशालाकार पद्यासन मूर्ति रखी है, उसमें संवत् 1105 का तीन पंक्तियों का लेख उत्कीर्ण है। उसमें मन्दिर के निर्माण और प्रतिष्ठा आदि का कोई उल्लेख नहीं है, जैसा कि श्री साहनी ने भ्रमवश लिख दिया है।<sup>1</sup> वैसे भी मन्दिर के निर्माण या प्रतिष्ठा का उल्लेख प्रतिमा पर हो, यह बात असंगत है। महामण्डप के उत्तर-पूर्वी कोने में दूसरे तल के लिए सोपान मार्ग है।<sup>2</sup> सन् 1939 (फरवरी) में गजरथ प्रतिष्ठा के समय इसका जीर्णोद्धार कराया गया था।

दूसरे तल पर अर्धमण्डप के बायें और दायें एक-एक धेंडिका है, जिनकी बाह्यवेष्टनो के रूप में संयोजित शिलाएँ बाहर की ओर स्तम्भाकार अलंकरणों से युक्त हैं। महामण्डप का प्रवेश-द्वार अलंकृत है। उसके बायें द्वापक्ष पर अंकित दर्पणधारिणी शुचिस्मिता<sup>3</sup> हमें खजुराहो की जगत्प्रसिद्ध दर्पणधारिणी सुर-सुन्दरी का स्मरण कराती है। गर्भगृह के प्रवेश-द्वार पर अम्बिका अंकित है, जिससे इस तथ्य की पुष्टि होती है कि दूसरे तल के मूलनायक नेमिनाथ थे। जीर्णोद्धार के समय उनकी मूर्ति नीचे के तल में स्थानान्तरित कर दी गयी, जिसे आज भी वहाँ देखा जा सकता है। इसमें स्थित शान्तिनाथ की मूर्ति (स्थापित संख्या 1995) देवगढ़ की एकमात्र संगमरमर की मूर्ति है।<sup>4</sup>

1. देखिए, दशराम साहनी : ए. प्रो. रि., 1918, भाग दो : प्रागैशिया, पृ. 13, अर्धमण्डप का पृ. 45।

2. देखिए—विन्दास सपरैखा, चित्र संख्या 38।

3. देखिए, चित्र संख्या 117।

4. इन पंक्तियों के लिखे जाने तक यथा निकसती शान्तिनाथ की मूर्ति (अजयपुर) से 1939 प्रागैशिया, अर्धमण्डप भाग दो में कल संगमरमर की पायी।

शैली और अलंकरण आदि की दृष्टि से इसे कलचुरिकालीन (लगभग 900 ईसवी) वास्तु कहा जा सकता है।

## (10) शेष मन्दिर

उपरिलिखित नौ मन्दिरों के अतिरिक्त शेष में से अधिकांश का निर्माण कलचुरियों के शासनकाल में हुआ होना चाहिए। चन्देलकाल में वास्तु कला के जो प्रमुख लक्षण प्रचलित थे वे देवगढ़ में कदाचित् ही मिलते हैं। उनका अविकसित और प्रारम्भिक रूप अवश्य यहाँ दृष्टिगत होता है। इससे स्पष्ट है कि वास्तु-निर्माण की परम्परा देवगढ़ में दसवीं शताब्दी से आगे नहीं बढ़ी। एक-दो मन्दिरों का निर्माण मुगलकाल में हुआ प्रतीत होता है।<sup>1</sup> जीर्णोद्धार का कार्य जैसा कि अभिलेखों से प्रकट होता है, नौवीं शती से चलता रहा है।

इससे मन्दिरों के मूलरूप में कुछ अन्तर अवश्य आया होगा। अभी कुछ वर्षों से इस क्षेत्र की प्रबन्धक-समिति द्वारा जो बड़े पैमाने पर जीर्णोद्धार कराया गया है, उसमें मूलरूप की सुरक्षा का यथोचित ध्यान रखा गया है। सर्वश्री कनिंघम, फुहरर और साहनी आदि पूर्ववर्ती लेखकों ने इन मन्दिरों का जिस रूप में उल्लेख किया है, वे प्रायः उसी रूप में आज भी पर्याप्त जीर्णोद्धार हो चुकने पर भी देखे जा सकते हैं। इससे उक्त कथन की पुष्टि होती है।

## 5. मानस्तम्भ

मानस्तम्भ का निर्माण कदाचित् सर्वप्रथम मथुरा में (शक-कृपाण काल में) हुआ था। उससे पूर्व मौर्य सम्राट् अशोक विशाल और कलापूर्ण स्तम्भों का निर्माण करा चुका था। जैन-परम्परा में स्तम्भों को मानस्तम्भ का रूप देकर मन्दिरों के सामने निर्मित किया जाता रहा है। मन्दिर को समवसरण का प्रतीक माना जाय तो उसकी चारों दिशाओं में एक-एक मानस्तम्भ निर्मित होना चाहिए, यद्यपि ऐसा उदाहरण कदाचित् कहीं प्रस्तुत नहीं किया गया। आचार्य जिनसेन के अनुसार मानस्तम्भ का उद्देश्य जिनेन्द्रदेव के त्रिलोकातीत मान (श्रेष्ठता) को सूचित करना है।<sup>2</sup> मथुरा के अनन्तर सर्वाधिक प्राचीन मानस्तम्भ कदाचित् देवगढ़ में ही उपलब्ध हुए हैं। यह

1. उदाहरणार्थ मन्दिर संख्या 6 का निर्माण अब से लगभग 500 वर्ष पूर्व हुआ होगा और समीपवर्ती ध्वस्त स्मारकों की मूर्तियाँ इसमें स्थापित कर दी गयी होंगी, क्योंकि इसका भवन स्थापत्य-कला की दृष्टि से बहुत ही आधुनिक प्रतीत होता है। देखिए—चित्र संख्या 9।
2. 'मानस्तम्भान् मर्यामानयोगात् त्रैलोक्यमाननात्।  
अन्वयं-सज्ञया तन्त्रैर्मानस्तम्भाः प्रकीर्तितः ॥ --आदिपुराण, 92, 102।

परम्परा देवगढ़ में ही कई शताब्दियों तक चलती रही। अन्य स्थानों पर भी मानस्तम्भों का निर्माण हुआ और आज भी होता आ रहा है।

मानस्तम्भों का स्वरूप प्रायः सर्वत्र एक समान मिला है। भूमि पर एक के ऊपर एक निर्मित तीन पीठिकाओं (अधिष्ठानों) पर स्तम्भदण्ड स्थित रहता है जिसके शीर्ष पर एक 'सर्वतोभद्रिका' स्थापित होती है। पीठिकाएँ कभी-कभी अलंकृत भी होती हैं। स्तम्भदण्ड कहीं अलंकृत मिले हैं और कहीं अल्प-अलंकृत या अलंकरण-विहीन। सर्वतोभद्रिका सर्वत्र अलंकृत ही प्राप्त हुई है। उसके चारों ओर एक-एक स्तम्भयुक्त देवकुलिका अंकित होती है, जिनमें सर्वतोभद्रिका या तो उसी पाषाण में उत्कीर्ण की गयी होती है या पृथक् रूप से स्थापित कर दी जाती है। इस सबके ऊपर एक लघु शिखराकृति का आलेखन होता है। सर्वतोभद्रिका चतुष्कोण ही होती है जबकि स्तम्भदण्ड वृत्ताकार या चतुष्कोण या अष्टकोण होता है। पीठिकाओं का आकार प्रायः स्तम्भदण्ड के समान होता है। सम्पूर्ण मानस्तम्भ कभी एक, कभी दो और कभी तीन पाषाणों द्वारा निर्मित होता है। मानस्तम्भों की ऊँचाई भिन्न-भिन्न तीर्थकरों के समयसरणों के अनुपात में भिन्न-भिन्न होती है। उपलब्ध मानस्तम्भों की ऊँचाई विशेष रूप से उल्लेखनीय नहीं है और न ही सम्बद्ध मन्दिर की ऊँचाई से उसकी ऊँचाई का अनुपात मिलता है।

मध्यकालीन भारत में जैन-मन्दिर के सम्मुख विशाल स्तम्भ बनवाने की प्रथा विशेषतः दिगम्बर जैन समाज में रही है। दक्षिण-भारत और विन्ध्य प्रान्त में ऐसे स्तम्भों की उपलब्धि प्रचुर परिमाण में हुई है।

प्राचीन वास्तु विषयक ग्रन्थों में कीर्तिस्तम्भों की आंशिक चर्चा अवश्य है, पर मानस्तम्भों के विषय में वे मौन हैं। यद्यपि जैन पौराणिक साहित्य तो इसका अस्तित्व बहुत प्राचीन काल से बताता है, पर उतने प्राचीन या सापेक्षतः अर्वाचीन स्तम्भ उपलब्ध कम हुए हैं। उपलब्ध साधनों से तो यही कहा जा सकता है कि मध्यकाल में जैन वास्तुकला का वह एक अंग अवश्य बन गया था। यह मानस्तम्भ इन्द्रध्वज का प्रतीक होना अधिक युक्ति-संगत जान पड़ता है, जो भगवान् के विहार के आगे रहता था। देवगढ़ आदि में पाये गये मानस्तम्भ के अवशेषों से यह फलित होता है कि मानस्तम्भों की मौलिक परम्परा भले ही एक-सी रही हो, पर प्रान्तीय कला विषयक एवं निर्माण शैली सम्बन्धी पार्थक्य उनमें स्पष्ट है। देवगढ़ आदि में पाये जाने वाले अधिक मानस्तम्भ ऐसे हैं, जिनके ऊपर के भाग में शिखर-जैसी आकृति है।<sup>1</sup>

देवगढ़ में इस समय 19 मानस्तम्भ विद्यमान हैं।<sup>2</sup> परन्तु जैसा कि द्वितीय अध्याय के अन्त में स्पष्ट किया गया है, इनमें से सभी को मानस्तम्भ कहना उचित

1. मुनि कान्तिसागर : खँडहरों का वैभव (काशी, 1959 ई.), पृ. 119-20।

2. कुछ प्रमुख मानस्तम्भों के लिए देखिए—चित्र संख्या 43 से 48 तक।

न होगा। कुछ मानस्तम्भ स्पष्ट रूप में स्थानान्तरित किये गये ज्ञात होते हैं। यह कहने में संकोच नहीं होना चाहिए कि देवगढ़ मानस्तम्भों की दृष्टि से उतना महत्त्वपूर्ण स्थान नहीं है, जितना मन्दिरों और मूर्तियों की दृष्टि से। तथापि मानस्तम्भ क्रमांक ग्यारह (चित्र संख्या 45), बारह (चित्र संख्या 46), तेरह (चित्र संख्या 47) और सत्रह (चित्र संख्या 48) को कलागत सूक्ष्मता की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण मानना चाहिए। मानस्तम्भ क्रमांक सत्रह (चित्र संख्या 48) आदि प्राचीनता की दृष्टि से भी उल्लेखनीय हैं।

# मूर्तिकला (तीर्थकर तथा देव-देवियाँ)

## 1. प्रास्ताविक

### मूर्ति-निर्माण-केन्द्र

देवगढ़ में मूर्तियों का निर्माण प्रचुरता से हुआ। उनकी संख्या और विविधता से प्रतीत होता है कि यहाँ बहुत बड़ा मूर्ति-निर्माण-केन्द्र था, अन्यथा तीर्थकरों तथा अन्य देवों-देवियों की सैकड़ों मूर्तियों के एक ही स्थान पर निर्मित होने का कारण दृष्टिगत नहीं होता। मथुरा की भाँति देवगढ़ में निर्मित मूर्तियाँ समीपवर्ती और कदाचित् दूरवर्ती स्थानों को भी भेजी जाती रही होंगी।

यहाँ छोटी-बड़ी बहुसंख्यक मूर्तियों की उपलब्धि तथा कुछ अधगढ़ी मूर्तियों का पाया जाना यही सिद्ध करता है कि देवगढ़ मूर्ति-निर्माण-केन्द्र भी था। देवगढ़ के निकटवर्ती चाँदपुर, जहाजपुर, दूधई, आमनचार, ललितपुर-क्षेत्रपाल, सेरोन, वानपुर आदि स्थानों पर उपलब्ध सहस्रों मूर्तियों और उनके समीप मूर्ति-निर्माण सम्बन्धी किसी चिह्न के उपलब्ध न होने से भी उपर्युक्त मान्यता पृष्ट होती है।

### उपादान

मूर्तियाँ निर्माण करने के लिए पाषाण देवगढ़ के पहाड़ से प्राप्त किया जाता था। साधारणतः यहाँ का 'लाल बलुआ' और 'ग्रे नाइट' पाषाण ही मूर्तियों के निर्माण में प्रयुक्त हुआ है। कुछ मूर्तियाँ काले, पीले और भूरे बलुआ पत्थर की भी प्राप्त होती हैं।

### कलाकार

देवगढ़ के कलाकार स्थानीय थे या कहीं अन्यत्र से आये थे, यह निश्चित

120 :: देवगढ़ की जैन कला : एक सांस्कृतिक अध्ययन

कहना कठिन है। यद्यपि कुछ मूर्तियों पर लेख उत्कीर्ण हैं, परन्तु उनसे प्रस्तुत प्रश्न पर प्रकाश नहीं पड़ता। कुछ मूर्तियों पर केवल नाम उत्कीर्ण हैं, पर वे कलाकारों की अपेक्षा समर्पण-कर्ताओं के प्रतीत होते हैं। यदि वे नाम कलाकारों के भी मान लिए जाएँ, तो भी उनसे कलाकारों के विषय में कोई जानकारी नहीं मिलती।

कलागत विशेषताओं को देखते हुए यह अनुमान अवश्य किया जा सकता है कि देवगढ़ में स्थानीय कलाकारों के साथ बाहरी कलाकार भी काम करते थे। कुछ मूर्तियों पर गान्धार शैली का प्रभाव इस अनुमान को पुष्ट करता है।<sup>1</sup> कुछ मूर्तियों की मुखाकृति चीनी-मुखाकृति से बहुत अधिक मिलती-जुलती है<sup>2</sup> अतः सम्भव है कि किसी चीनी कलाकार ने भी अपना कौशल दिखाया हो। मुगलकाल में निर्मित मूर्तियों के कलाकार निश्चित ही स्थानीय नहीं थे। उनकी छैनी स्थानीय छैनी से स्पष्टतः भिन्न दीखती है।

### विभिन्न कला-शैलियों का प्रभाव

मूर्तियों का निर्माण यहाँ दीर्घकाल तक हुआ। मौर्यकाल की मूर्तियाँ यद्यपि अब यहाँ दृष्टिगत नहीं होतीं या उनके लक्षण यहाँ की मूर्तियों में साधारणतः नहीं पाये जाते, तथापि यह मानना होगा कि उस समय यहाँ मूर्तियों का निर्माण प्रारम्भ हो चुका था।<sup>3</sup> गान्धार कला का प्रभाव तो निश्चित रूप से यहाँ की अनेक मूर्तियों पर देखा जा सकता है।<sup>4</sup> एक विशिष्ट मुखाकृति, जो गान्धार कला की विशेषता है, यहाँ की न केवल तीर्थकर मूर्तियों बल्कि देव-देवियों और स्त्री-पुरुषों की मूर्तियों में भी पर्याप्त सफलता से अंकित की गयी है। प्रत्युत यह मुखाकृति यहाँ की सर्वाधिक लोकप्रिय विशेषता रही है, जिसका प्रभाव परवर्ती मूर्तियों पर भी विद्यमान रहा है, यहाँ तक कि उसी के कारण चन्देलकालीन मूर्ति-कला यहाँ कम ही पनप सकी। गुप्तकाल की अनेक मूर्तियाँ यहाँ उपलब्ध हैं,<sup>5</sup> जिनका विस्तृत और सप्रमाण विवरण हम अग्रिम पृष्ठों में प्रस्तुत करेंगे। कलचुरि और चन्देल युग में यहाँ प्रचुरता से मूर्तियाँ निर्मित हुईं। मुगलकाल तक यहाँ मूर्तियों के निर्मित होते रहने के प्रमाण मिलते हैं।

1. दे.—चित्र संख्या 50।

2. दे.—चित्र संख्या 73।

3. यहाँ के एक अभिलेख में अशोककालीन ब्राह्मी का भी प्रयोग हुआ है। दे.—चित्र सं. 49।

4. दे.—चित्र सं. 50।

5. दे.—चित्र सं. 51, 52, 53, 54 आदि।

## स्वतन्त्र मूर्तिकला

मूर्तिकला की दृष्टि से देवगढ़ की अपनी स्वतन्त्र शैली थी, जो गुप्तकाल में स्पष्टतर हो उठी। इस शैली में मूर्तियों के चेहरे लम्बोतर होते हैं।<sup>1</sup> मधुरा, सारनाथ, अहिच्छत्र और कौशाम्बी से इस शैली में भिन्नता है।

देवगढ़ में ऐसी अनेक मूर्तियाँ विद्यमान हैं, जो मुख्यतया आध्यात्मिक हैं और बाह्य-संसार के प्रति उदासीनता का स्पष्ट भाव अभिव्यक्त करती हैं।<sup>2</sup> कुछ मूर्तियाँ तो अपनी सज्जागत समृद्धि एवं केन्द्रस्थित तथा चारों ओर स्थित मूर्तियों के एकीकरण की दृष्टि से गुप्तकला की सफलता को भी पीछे छोड़ गयी हैं।<sup>3</sup> शासन-देवियों<sup>4</sup> और विद्या-देवियों<sup>5</sup> की मूर्तियों में अलौकिक सौन्दर्य एवं अद्भुत चमत्कार की सृष्टि करने में कलाकार पूर्ण रूप से सफल हुआ है।

मूर्तियों के माध्यम से देवगढ़ में मानव जीवन के प्रायः सभी अंगों (पहलुओं) पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। हम वहाँ एक ओर वीतराग उपदेश देते हुए उपाध्याय परमेष्ठी<sup>6</sup> को देखते हैं तो दूसरी ओर परस्त्री लम्पट को पिटता हुआ<sup>7</sup> भी देखते हैं। पशु-पक्षियों,<sup>8</sup> लता-वृक्षों<sup>9</sup> और प्रतीकों<sup>10</sup> का अंकन करने में भी यहाँ का कलाकार पीछे नहीं रहा।

देवगढ़ की अधिकांश मूर्तियाँ शिलापट्टों पर उत्कीर्ण की गयीं। पाषाण को चारों ओर से कोरकर बनायी हुई स्वतन्त्र मूर्तियाँ यहाँ बहुत कम हैं।

## परिकर और अलंकरण

देवगढ़ की प्रायः सभी मूर्तियाँ अपने परिकरों और अलंकरणों के साथ प्रस्तुत की गयी हैं, इसका कारण यही हो सकता है कि उन्हें शिलापट्टों पर उत्कीर्ण किया गया है। इससे जहाँ मुख्य-मूर्ति में भव्यता और जैन-प्रतिमा-शास्त्र में समृद्धि का

1. दे.—चित्र सं. 53, 54 आदि।

2. दे.—चित्र सं. 51।

3. दे.—चित्र सं. 61, इस मूर्ति का शिर इस समय साहू जैन संग्रहालय में सुरक्षित है।

4. दे.—चित्र सं. 99 से 110 तक।

5. दे.—मन्दिर सं. 5, 9, 12 आदि के द्वारों पर आलिखित विद्या-देवियों की मूर्तियाँ।

6. दे.—दि. जैन चैत्यालय एवं साहू जैन संग्रहालय में प्रदर्शित उपाध्याय-मूर्तियाँ तथा चित्र सं. 83 और 84।

7. दे.—मं.सं. 4 के प्रवेश-द्वार के सिरदल पर बायें तथा चित्र सं. 115।

8. इनके विस्तृत विवरण के लिए दे.—पाँचवाँ अध्याय।

9. इनके विस्तृत परिचय के लिए दे.—पाँचवाँ अध्याय।

10. इनका सविस्तार परिचय दे.—पाँचवाँ अध्याय।



उन्मेष हुआ है वहाँ वह कुछ बोझिल-सी बनकर रह गयी और कभी-कभी कलाकार भी इस अतिरिक्त कार्य से ऊबकर परिकर को मुख्य-मूर्ति की अपेक्षा कम सूक्ष्मता के साथ उत्कीर्ण करता है। शिलापट्टों के पृष्ठ भाग पर तो कलाकार की छैनी नहीं ही चली है, किनारे भी अनगढ़ छोड़ दिये गये हैं। इसलिए कभी-कभी तो यह भ्रम होने लगता है कि अमुक शिलापट्ट किसी बड़े शिलापट्ट का खण्ड तो नहीं है।

अलंकरण और परिकर की मर्यादा का निर्वाह करने में कलाकार को बहुत उलझन हुई है। शिलापट्ट के छोटे होने या अलंकरण और परिकर की अधिकता होने से कलाकार अनेक बार नियोग-पूर्ति-सी करता दीख पड़ता है। परिकर की मूर्तियों को वह अपेक्षाकृत लघु-आकार में और स्थूल रूप में गढ़कर ही छोड़ देता है। इसके विपरीत अनेक मूर्तियों में यह भी हुआ है कि अलंकरण और परिकर को अत्यधिक प्रधानता दे दी गयी है जिसमें मुख्य-मूर्ति छिपी हुई-सी दृष्टिगोचर होती है।

भट्टारक-परम्परा का ही प्रभाव था कि तीर्थकरों की मूर्ति समय के साथ क्रमशः छोटी होती गयी और उनकी शासन-देवियों की मूर्तियाँ बृहदाकार होती गयीं। प्रारम्भ में तीर्थकरों की मूर्ति के साथ शासन-देवियों की मूर्तियाँ या तो अंकित ही नहीं होती थीं<sup>1</sup> या बहुत छोटे आकार में अंकित होती थीं;<sup>2</sup> जबकि भट्टारकों के प्रचार और प्रभाव की वृद्धि के साथ यह पूर्णतः विपरीत होता गया और स्थिति यहाँ तक आयी कि तीर्थकर-मूर्ति की अपेक्षा शासन-देवी की मूर्ति बीस गुनी बड़ी तक बनायी जाने लगी।<sup>3</sup> शासन-देवियों की विराटता की यह परम्परा देवगढ़ में अपने सर्वोच्च रूप में देखने को मिलती है। यहाँ उनकी ऊँचाई मानवाकार तक हो गयी है जबकि उनके अधिष्ठाता तीर्थकर मुकुट का एक अंग या प्रतीक-अंकन मात्र बनकर रह गये हैं।<sup>4</sup>

## च्युतियाँ

कुछ मूर्तियाँ ऐसे कलाकारों द्वारा गढ़ी गयी हैं, जो शास्त्रीय विधानों से या तो अपरिचित थे या असावधान थे। उदाहरण के लिए अम्बिका यक्षी की कुछ मूर्तियों का पेट बहुत बड़ा दिखाया गया है।<sup>5</sup> कलाकार यदि उसे गर्भवती दिखाना चाहता

1. दे.—चित्र सं. 50, 51, 52 आदि।

2. दे.—चित्र सं. 58, 59, 60, 61, 74, 75 आदि।

3. दे.—साहू जैन संग्रहालय में प्रदर्शित चक्रेश्वरी एवं पञ्चावती की मूर्तियाँ तथा जैन चहारदीवारी में जड़ी हुई एवं विभिन्न मन्दिरों में विद्यमान यक्षी-मूर्तियाँ। और दे.—चित्र सं. 99, 100, 106, 103, 109, 104, 107, 108, 110 आदि।

4. दे.—मं. सं. 12 के गर्भगृह में जड़ी हुई अम्बिका-मूर्तियाँ तथा साहू जैन संग्रहालय में प्रदर्शित चक्रेश्वरी-मूर्तियाँ और भी दे.—चित्र सं. 105, 99, 100, 106, 97 आदि।

5. दे.—जैन चहारदीवारी का बाहरी ओर उत्तर में जड़ी हुई अनेक अम्बिका-मूर्तियाँ तथा चित्र सं. 103।

था तो निश्चित ही वह अशास्त्रीय था, क्योंकि जैन-देव-शास्त्र के अनुसार देवियाँ कभी गर्भवती नहीं होतीं।<sup>1</sup> यदि साधारण रूप में ही पेट को बड़ा दिखाया गया है तो वह भी उचित नहीं, देवियों के सौन्दर्य में बड़े पेट का विद्रूप-अंकन बाधक ही होगा। इसी प्रकार कुछ स्थानों पर एक देवी या स्त्री को मुनि-मूर्ति से सटी हुई दिखाया गया है।<sup>2</sup> यह भी शास्त्रीय मर्यादाओं के विरुद्ध है।

कुछ कलाकार अत्यन्त नय-सिखिया रहे प्रतीत होते हैं, उन्होंने मूर्तियों के अंग-प्रत्यंगों के अनुपात का ध्यान नहीं रखा।<sup>3</sup> कुछ कलाकारों को या उनके निर्देशकों को 'चतुर्विंशति-पट्ट' निर्माण करने की सनक सवार थी। उनके निर्माण में कलाकार अत्यन्त असफल रहे। कुछ 'चतुर्विंशति-पट्टों' में मूलनायक की मूर्ति तो अच्छी है, किन्तु शेष मूर्तियाँ कला की दृष्टि से बहुत ही निम्न स्तर की रह गयी हैं।<sup>4</sup> कभी-कभी शिलापट्टों पर स्थानाभाव ने भी कलाकार को असफल बनाया है, जब वह चौबीसवीं मूर्ति को मूलनायक के पैरों के नीचे अंकित करता है<sup>5</sup> और कभी-कभी तो उसे तेईस मूर्तियाँ ही<sup>6</sup> अंकित करके रह जाना पड़ता है। इसका कारण उचित निर्देशन का अभाव, योजनाहीनता अथवा कलाकार का प्रमाद है।

## वर्गीकरण

देवगढ़ में प्राप्त मूर्तियों का वर्गीकरण विविध प्रकार से सम्भव है। आकार की दृष्टि से दो इंच से तेरह फुट तक की मूर्तियाँ उपलब्ध हैं। आसनों और मुद्राओं की दृष्टि से कायोत्सर्गासन, पद्मासन, ललितासन, राजलीलासन, अर्धपर्यकासन तथा धर्मोपदेश मुद्रा, वितर्कमुद्रा, त्रिभंगमुद्रा, कटिहस्तमुद्रा, आलिंगनमुद्रा, नृत्यमुद्रा और सम्भोगमुद्रा आदि उल्लेखनीय हैं।

**कालक्रम की दृष्टि से** उन्हें मुख्यतः तीन श्रेणियों में रखा जा सकता है : (1) छठवीं शती ईसवी तक निर्मित, (2) सातवीं शती ई. से 12वीं शती ईसवी तक निर्मित और (3) बारहवीं शती से अठारहवीं शती ईसवी तक।

**शैली की दृष्टि से**—इन्हें आलंकारिक और अनालंकारिक वर्गों में विभक्त

1. 'देवनारकाणामुपपादः 1'-आ. उमास्वामी : तत्त्वार्थसूत्र (सूरत, 2472 वीर सं.) 2-34।
2. दे.-मं.सं. एक के पृष्ठ भाग में जड़ी हुई मूर्तिमाला तथा मं.सं. 12 के अर्धमण्डप के आगे के स्तम्भों पर निर्मित मूर्तियाँ। और भी दे.-चित्र सं. 80, 16 आदि।
3. दे.-मं.सं. 6, 12 (महामण्डप) तथा जैन चहारदीवारी में जड़ी हुई अनेक मूर्तियाँ, तथा चित्र सं. 55, 63, 70 आदि।
4. दे.-मं.सं. 4, 12, 25, 26 और 29 में स्थापित चौबीस मूर्तियाँ तथा चित्र सं. 64।
5. दे.-मं.सं. 4।
6. दे.-मं. सं. 4, 12, 25, 26 तथा चित्र सं. 65।

कर सकते हैं। कुछ मूर्तियाँ आध्यात्मिक उद्देश्य से और कुछ लौकिक उद्देश्य से निर्मित हुई हैं। इस दृष्टि से भी उन्हें दो भागों में रख सकते हैं। परन्तु यहाँ की मूर्तियों का सुविधाजनक विभाजन हम दस वर्गों में करेंगे :

1. तीर्थकर, 2. देव-देवियाँ, 3. विद्याधर, 4. साधु-साधवियाँ, 5. श्रावक-श्राविकाएँ,
6. युग्म और मण्डलियाँ, 7. प्रतीक, 8. पशु-पक्षी, 9. मुद्राएँ और आसन तथा
10. प्रकृति चित्रण।

अब हम क्रमशः प्रत्येक वर्ग की मूर्तियों का सूक्ष्म अध्ययन करेंगे।

## 2. देवगढ़ की तीर्थकर-मूर्तिकला का सामान्य अनुशीलन

देवगढ़ में अन्य मूर्तियों की अपेक्षा तीर्थकरों की मूर्तियाँ कई गुनी अधिक हैं। मुख्य रूप से आदिनाथ, पार्श्वनाथ, नेमिनाथ, महावीर और शान्तिनाथ की ही मूर्तियाँ हैं। बहुसंख्यक मूर्तियों पर लांछन अंकित नहीं हैं।<sup>1</sup> प्रायः सभी शिलापट्टों पर उत्कीर्ण की गयी हैं। द्विमूर्तिकाएँ,<sup>2</sup> त्रिमूर्तिकाएँ,<sup>3</sup> सर्वतोभद्रिकाएँ<sup>4</sup> और चतुर्विंशतिपट्ट<sup>5</sup> प्रचुरता से उपलब्ध हैं। द्वारों पर भी तीर्थकर मूर्तियों का अंकन हुआ है।<sup>6</sup> प्रायः सभी मूर्तियों के साथ भिन्न-भिन्न रूप से कुछ परम्पराओं का निर्वाह किया गया है।

1. कुछ मूर्तियों पर उत्कीर्ण लांछन शास्त्रीय मान्यताओं के विरुद्ध प्रतीत होते हैं। जैसे—जटाधारी मूर्तियों के साथ बन्दर (दे.—मं.सं. 9, चित्र सं. 59), शंख (दे.—मं.सं. 13, चित्र 68), फणावलि (दे.—मं. सं. दो की कावो मूर्ति) तथा फणावलियुक्त मूर्तियों के साथ चकवा (दे.—जैन बहारदीवारी, चित्र संख्या 56) और अभिका यक्षी (दे.—मन्दिर संख्या 12 का महामण्डप, चित्र सं. 63) एवं आदिनाथ अभिलिखित होने पर भी सिंह लांछन (दे.—दिगम्बर जैन चैत्यालव में पीतल की मूर्ति) उक्त तथ्य की पुष्टि करते हैं।
2. मं. सं. 13, दो (शिलापट्ट क्र. 5-6), 17, 26 आदि में स्थित तथा मं.सं. 12 के अंग शिखर में जड़ी हुई मूर्तियाँ (चित्र 25)।
3. दे. मं सं. एक के मण्डप में जड़ी मूर्ति (चित्र सं. एक) मं.सं. एक के पृष्ठभाग में जड़ी मूर्ति। (चित्र 76), मं. सं. चार के गर्भगृह की पश्चिमी भित्ति में (चित्र 75), और भी देखिए—चित्र सं. 20, 32 आदि।
4. सर्वतोभद्र-मूर्तियाँ यहाँ के मानस्तम्भों पर (दे.—चित्र सं. 43-45 तथा 48) तो हैं ही, जैन बहारदीवारी के ऊपर भी बहुत बड़ी संख्या में देखी जा सकती हैं (दे.—चित्र सं. 47 में बहारदीवारी वाला भाग)।
5. चतुर्विंशति पट्टों के लिए दे. मं. सं. चार, बारह, सत्ताईस, उनतीस और साढ़े जैन संग्रहालय में सुरक्षित मूर्तियाँ तथा चित्र सं. 61, 65 और 75।
6. दे -दुसर कोट का प्रवेश-द्वार, राधो दरवाजा, तथा मं.सं. 4, 5, 8 वें का बायाँ द्वार, 9, 11 के दोनों मीनारों के प्रवेश-द्वार, 12, 15, 16, 19, 20, 24 से 31 तक और लघु मन्दिर सं. 4, 5 तथा 8 के प्रवेश-द्वार और भी दे.—चित्र सं. 6, 18, 35, 81, 82।

## गुप्तकाल

गुप्तकाल तक आते-आते देवगढ़ का कलाकार मूर्तियों में सजीवता और भावना का संचार करने में पूर्ण सफल हो जाता है।<sup>1</sup> यद्यपि अलंकरण की सादगी बनी रहती है। यूनानी प्रभाव लुप्त होकर भारतीय आकृति पूर्ण रूप से सामने आ जाती है।

## गुप्तोत्तरकाल

परन्तु गुप्तोत्तरकाल में कलाकार मूर्ति को अलंकरण और चमत्कार के घेरे में उलझाने लगते हैं, वे आकर्षण के नाम पर अपनी छैनी की सूक्ष्मता तो अवश्य प्रदर्शित करते हैं, परन्तु मूर्ति के मुखमण्डल पर वह शान्ति और वैराग्य का भाव नहीं उभार पाते जो गुप्तकालीन कला की विशेषता है। इस काल की अन्य धर्मों की कला में भी ये ही प्रवृत्तियाँ परिलक्षित होती हैं।

इस तथा ऐसे ही अन्य कलागत दोषों के लिए न केवल कलाकार उत्तरदायी थे, बल्कि उनके आदेशकर्ता भट्टारक या उनसे प्रभावित श्रावक भी थे। तत्कालीन समाज को भी अलंकरण की बोझिलता रुचिकर थी। आभूषणप्रियता, अन्धविश्वास आदि भी इसमें सहायक थे।

चमत्कार को महत्त्व देने की परम्परा भट्टारकों में प्रारम्भ से रही है। अतः वीसों अस्वाभाविक और अवैज्ञानिक कथाओं को गढ़ने<sup>2</sup> के साथ-ही-साथ उन्होंने कला में भी ऐसे ही तत्त्वों का समावेश प्रारम्भ कर दिया। पार्श्वनाथ के साथ फणावलि के अंकन को प्रोत्साहन देना इनकी इसी प्रवृत्ति का परिणाम है। शिव के साथ नागों की फणावलि आदि और विष्णु की शेषशय्या आदि तथा भ. बुद्ध के पृष्ठ भाग में उभरे हुए लहरियादार वस्त्र<sup>3</sup> ने निश्चय ही भट्टारकों को चमत्कार में डाल दिया होगा। अतः उन्होंने सुपार्श्वनाथ और पार्श्वनाथ के साथ सर्प की फणावलि तो दिखायी ही,<sup>4</sup>

1. दे.—चित्र सं. 50, 51, 52, 53, 54 आदि।

2. (अ) पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री : न्यायकुमुदचन्द्रोदय, प्रथम भाग (बम्बई, 1938 ई.), प्रस्तावना पृष्ठ 32। (ब) पं. नाथूराम प्रेमी : जैन साहित्य और इतिहास (बम्बई, 1942 ई.), पृ. 401। (स) पं. महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य : न्यायविनिश्चयविवरण, प्रथम भाग (वाराणसी, 1949 ई.), प्रस्तावना पृ. 61।

3. द्रष्टव्य—साँची पुरातत्त्व-संग्रहालय में ई. चौथी शती की बुद्ध की खड़ी प्रतिमा।

4. यहाँ पर फणावलि सुमतिनाथ (जैन चहारदीवारी के प्रवेश-द्वार के दायीं ओर बाहर ऊपर दूसरे स्थान पर जड़ी हुई) तथा नेमिनाथ (मं. सं. 12 के महामण्डप में दायें से बायें तीसरी) की मूर्तियों के साथ भी दिखायी गयी है। दे.—चित्र सं. 56 और 63।

126 :: देवगढ़ की जैन कला : एक सांस्कृतिक अध्ययन

उनकी तर्किया के रूप में (पृष्ठ भाग में) उसकी कुण्डली भी दिखायी।<sup>1</sup>

इतना ही नहीं, इस सबके अतिरिक्त, देवगढ़ में पार्श्वनाथ की दो ऐसी मूर्तियाँ<sup>2</sup> भी मिली हैं, जिनके आसन के रूप में सर्प की कुण्डली<sup>3</sup> भी दिखाई गयी है।<sup>4</sup> इसे शेषशायी विष्णु का अनुकरण ही मानेंगे।<sup>5</sup>

शेषशायी विष्णु का एक विचित्र किन्तु सराहनीय अनुकरण और किया गया। तीर्थकर की माता एक आकर्षक मुद्रा में लेटी हैं।<sup>6</sup> और देवियाँ विभिन्न प्रकार से उनकी सेवा में संलग्न हैं।<sup>7</sup> माता के गौरव और स्नेह के प्रतीक चौबीसों तीर्थकरों का भी अंकन इसमें द्रष्टव्य है।

कुछ तीर्थकरों के साथ जटाओं के अंकन में तो भट्टारक शिव को भी पीछे छोड़ देते हैं। शिव की जटाएँ लम्बी अवश्य रहती हैं परन्तु वे प्रायः जूड़े में बँधी रहती हैं, जबकि कुछ तीर्थकरों की मूर्तियों के साथ जटाएँ इतनी अधिक और लम्बी

1. (अ) देखिए—चित्र सं. 69 और 70। (व) ऐसी ही कुछ मूर्तियाँ दूधई, क्षेत्रपाल (ललितपुर) और सरान में भी हैं, जो कदाचित् देवगढ़ से भेजी गयी होंगी। (स) इसी प्रकार की एक कायांस्तंग दिगम्बर जैन मूर्ति (11वीं शती) (2 फुट 3 इंच.) दक्षिण कनाडा के लेपीज लाजूली (बैन्दूर) में स्थित है, जिसके पृष्ठ भाग में एक मोटा कोबरा (सर्प) कुण्डली लगाये हुए तीर्थकर के ऊपर सात फणों से छाया किये है। दे.—डॉ. एच.डी. सांकलिया : जैन आइकोनोग्राफी : ए वाल्यूम ऑफ़ इण्डियन एण्ड इरानियन स्टीज (बम्बई), पृ. 342 और फलक 1, 2 तथा 4।
2. मं. सं. 15 के गर्भगृह में मूलनावक के बायें, तथा मं. सं. 25 के गर्भगृह में (अभिलिखित) अवस्थित मूर्तियाँ। दे.—चित्र सं. 71।
3. कुण्डली का विस्तार यहाँ तक बढ़ा कि यह तीर्थकर के आसन में ही समाप्त न होकर पृष्ठ भाग में तर्किया के रूप में भी विद्यमान रहने लगी। देखिए—विदिशा पुरातत्त्व-संग्रहालय में, पापाण प्रतिमा दीर्घा क्र. एक, मूर्ति क्र. 24।
4. देवगढ़ में कुण्डली के मोड़ सघन और सर्प की मोटाई कम और अलंकृत दिखाई गयी है, जिससे उसके अंकन में कलाकार की विशेष अभिरुचि का पता चलता है, दूसरी ओर साँची के पुरातत्त्व संग्रहालय में सुरक्षित नागराज की कुण्डली विरल तथा सघन दिखाई गयी है।
5. हमारे इस कथन की पुष्टि विदिशा पुरातत्त्व-संग्रहालय (के वरामदे में सुरक्षित, प्रतिमा क्र. 24) की उस प्रतिमा से और भी अधिक होती है, जिसकी पृष्ठभागीय कुण्डली के मोड़ों में भी एक-एक नामी लिपटी दिखाई गयी है, जिसकी प्रेरणा स्पष्ट रूप से उन अनेक नागियों से प्राप्त हुई होगी जो शेषशायी विष्णु की सेवा में उपस्थित दिखाई जाती हैं। देखिए—उदयगिरि (विदिशा) की गुफा सं. 6 के शेषशायी विष्णु का दृश्य तथा इस प्रकार की अन्य प्रतिमाएँ।
6. दे.—चित्र सं. 93।
7. यह मूर्ति मं. सं. चार के गर्भगृह की बायीं प्थिति में जड़ी है। ऐसी ही एक अन्य मूर्ति यहाँ के मं. सं. 30 में भी विद्यमान है, और इसी प्रकार की अनेक किन्तु कला की दृष्टि से कम आकर्षक मूर्तियाँ खालियर के किले में भी उक्कीर्ण हैं।

दिखाई गयी हैं कि वे जूड़े में बाँधने के बाद भी बहुत बड़ी मात्रा में कन्धों और पीठ पर विखरी हुई रहती हैं<sup>1</sup> और कभी-कभी तो वे इतनी लम्बी होती हैं कि पिण्डलियों तक आ पहुँचती हैं।<sup>2</sup>

भट्टारकों की एक प्रवृत्ति शासन-देवों और शासन-देवियों को अपेक्षाकृत अधिक महत्त्व देने की भी रही है। प्रारम्भ में तीर्थंकर मूर्तियों के साथ उनकी शासन-देव-देवियों का अंकन नहीं होता था परन्तु भट्टारकों की उक्त प्रवृत्ति के फलस्वरूप ऐसा होने लगा। इतना ही नहीं, जैसा कि पहले कह चुके हैं, स्थिति यहाँ तक आयी कि तीर्थंकर मूर्ति की अपेक्षा शासन-देवी की मूर्ति वीसगुनी बड़ी तक बनायी जाने लगी।<sup>3</sup>

देव-देवियों के प्रति भट्टारकों का यह आग्रह यहाँ तक बढ़ा कि नवग्रहों का अंकन, जो सर्वत्र प्रवेश-द्वारों पर ही उपलब्ध होता है,<sup>4</sup> तीर्थंकर-मूर्तियों के साथ कराना भी प्रारम्भ कर दिया गया,<sup>5</sup> इससे तीर्थंकर-मूर्तियों के ऐश्वर्य में वृद्धि न होकर विद्वृपता ही आयी है।

गुप्तोत्तर काल से चन्देल काल तक और उसके भी पश्चात् मुगलकाल के पूर्व तक तीर्थंकर की मूर्ति में सौन्दर्य और आकर्षण में अभिवृद्धि भले ही हुई हो, पर वैराग्य और शान्ति की अभिव्यक्ति का निरन्तर हास होता गया।

इस प्रकार हमने देवगढ़ की तीर्थंकर मूर्तियों का यह सामान्य अनुशीलन प्रस्तुत किया है। अब हम कुछ प्रतिनिधि मूर्तियों का तुलनात्मक और विश्लेषणात्मक विवरण प्रस्तुत करेंगे।

1. दे.-मं.सं. 13 के मण्डप में (बायें से दायें) वीसवीं मूर्ति तथा गर्भगृह की तीसरी श्रेणी पर अवस्थित मूर्ति, दे.-चित्र सं. 68। मं.सं. 12 के प्रदक्षिणापथ में (बायें से दायें) पचीसवीं मूर्ति, दे.-चित्र सं. 73 तथा जैन चहारदीवारी (दक्षिणी) में जड़ी हुई मूर्तियाँ, दे.-चित्र सं. 69।
2. ऐसी मूर्तियाँ मन्दिर संख्या 12 के प्रदक्षिणापथ में (बायें से दायें) 25वें फलक पर (दे.-चित्र सं. 73) तथा मन्दिर संख्या 13 के मण्डप में (बायें से दायें) 20वें फलक (दे.-चित्र सं. 68) पर निर्मित हैं।
3. दे.-चित्र संख्या 99, 100, 103, 104, 106, 107, 108, 110 आदि।
4. यहाँ के भी अनेक द्वारों पर इनका अंकन हुआ है। दे. चित्र सं. 6, 19-20, 35 आदि।
5. दे.- (अ) मं. सं. 13 के मण्डप में (बायें से दायें) 20वाँ फलक (चित्र सं. 68) मं. सं. 12 के महामण्डप में (दायें से बायें) तीसरा फलक (चित्र संख्या 63) तथा इसी मन्दिर के गर्भगृह के मूलनायक (चित्र सं. 51)।  
(ब) यहाँ तीर्थंकर के अतिरिक्त देवी मूर्तियों में भी नवग्रहों के अंकन का प्रचलन था। दे - जैन चहारदीवारी के बाहरी और उत्तर में (दायें से बायें) पाँचवें स्थान पर ऊपर जड़ी हुई खण्डित दायी मूर्ति।

### 3. तीर्थकर मूर्तियाँ

#### प्राचीनतम मूर्ति

मन्दिर संख्या 12 के महामण्डप में स्थित<sup>1</sup> एक पद्मासन मूर्ति<sup>2</sup> देवगढ़ की प्राचीनतम मूर्तियों में से एक है। इसका आकार 4 फुट 2 इंच × 3 फुट 5 इंच है। इसका शिलाफलक वर्तमान में 3 फुट 8½ इंच ऊँचे और 2 फुट 4½ इंच चौड़े सिंहासन पर स्थित है। और वर्तमान में दोनों को सीमेण्ट से जोड़ दिया गया है।

इस सिंहासन में दोनों ओर एक-एक सिंह एवं उनके मध्य में एक धर्मचक्र उल्लिखित है। इस सबके ऊपर उलटे तिहरे कमल का मनोरम अंकन है। मूर्ति का शिलाफलक 5 फुट 6 इंच × 3 फुट 9 इंच है। आसन उष्णीष-नुमा है तथा उस पर उलटा दुहरा कमल अलिखित है। मूर्ति के दोनों घुटने और नाक अंशतः खण्डित हैं, और भी अनेक स्थानों पर छोटे-छोटे गड़दे पड़ गये हैं। मूर्ति के आसनादि पर कोई चिह्न नहीं है। शरीर अत्यन्त समतल और सूक्ष्म दीख पड़ता है। ग्रीवा में त्रिवलि सूक्ष्म किन्तु स्पष्ट है। ठोड़ी किंचित् आगे को निकली हुई है, होठ मोटे और सटे हुए हैं, नेत्र उभरे, फैले और लम्बे, कान लम्बे किन्तु कन्धों का स्पर्श न करते हुए तथा केश घुँघराले हैं। सज्जा में केवल भ्रामण्डल ही है जो कम अलंकृत और कम उभरा हुआ है।

डॉ. क्लाज ब्रून के शब्दों में—“यहाँ सिर खूब चौड़ा है, स्थूल अधर काफी सटे हुए हैं, तथा अर्ध-निमोलित नेत्र कुछ अधिक बाहर की ओर झुके हुए हैं। उठी हुई भृकुटियाँ दृढ़ता और आन्तरिक एकाग्रता के भाव को पुष्टि प्रदान करती हैं। यहाँ गौण प्रतिमाओं तथा सज्जा-तत्त्वों का प्रायः अभाव है।”<sup>3</sup>

#### एक अद्वितीय पद्मासन तीर्थकर

मन्दिर संख्या 15 के मण्डप में स्थित पद्मासन तीर्थकर की एक मूर्ति<sup>4</sup> गुप्तकाल के तुरन्त बाद की कला का पूर्णतया प्रतिनिधित्व करती है। नासाग्र दृष्टि, सांसारिकता से तीव्र विरक्ति आदि इस मूर्ति की विशेषताएँ हैं। अलंकरण में परम्परा के निर्वाह के साथ एक विशेषता यह है कि उसमें दोनों ओर शार्दूलों का आलेखन

1. वायें से दायें चौथी।

2. दे.-विज सं. 50। इसका निर्माण काल चौथी शती ई. माना जा सकता है, क्योंकि इसमें गुप्तकालीन पेशकता और आध्यात्मिकता का केवल समन्वय ही नहीं है बल्कि अंग-प्रत्यंगों का गठन, भावाभिव्यक्ति की उत्कृष्टता, ध्यानमग्नता आदि भी दर्शनीय हैं।

3. दे.-‘जैनयुग’, मई 1959 में प्रकाशित (‘मध्यदेश के जैनतीर्थ : देवगढ़’)।

4. दे.-विज सं. 52।

हुआ है। यह विशेषता देवगढ़ में भी अत्यन्त विरल है, अन्यत्र तो कदाचित् नहीं ही है।

इस दृष्टि से यह मूर्ति भारतीय मूर्तिकला में अपने ढंग की अद्वितीय मानी जा सकती है। इसके अंग-प्रत्यंग का अंकन और भावों की अभिव्यक्ति बहुत आकर्षक है। ऐसा क्रम साँची, एरण और देवगढ़ के ही दशावतार मन्दिर की मूर्तियों में प्राप्त होता है।

## विशालतम मूर्ति

मन्दिर संख्या 12 के गर्भगृह में इसी शृंखला की एवं देवगढ़ की विशालतम मूर्ति<sup>1</sup> स्थित है। इस मूर्ति की कुल ऊँचाई 12 फुट 4 इंच, पैरों से कमर तक की ऊँचाई 7 फुट 3 इंच, हाथ की नीचे की अँगुली से कन्धे तक की ऊँचाई 6 फुट 1 इंच, एक कन्धे से दूसरे कन्धे तक की चौड़ाई 3 फुट 6 इंच और जटाजूट से छत्र तक की ऊँचाई 1 फुट 8 इंच है।

काल के कराल थपेड़ों से यह महत्त्वपूर्ण मूर्ति बहुत कुछ खण्डित हो गयी है परन्तु भक्तों ने उसकी यथासम्भव जुड़ाई करा दी है, इसे सोलहवें तीर्थंकर 'शान्तिनाथ' की मूर्ति मानकर इस मन्दिर का नाम ही 'शान्तिनाथ मन्दिर' प्रचलित हो गया है जबकि शान्तिनाथ का चिह्न (हिरण) या यक्ष-यक्षी आदि कोई भी यहाँ दृष्टिगत नहीं होते।<sup>2</sup> ऐसा प्रतीत होता है कि चौदपुर,<sup>3</sup> दूधई,<sup>4</sup> बानपुर,<sup>5</sup> मदनपुर,<sup>6</sup> अहार,<sup>7</sup> सेरोन,<sup>8</sup> खजुराहो<sup>9</sup> आदि निकटवर्ती स्थानों पर विद्यमान इसी प्रकार की कायोत्सर्ग और विशालाकार शान्तिनाथ की मूर्तियों की समानता के कारण भक्तों ने इसे भी 'शान्तिनाथ' की मूर्ति कहना प्रारम्भ कर दिया।

1. दे.—चित्र सं. 51।

2. (अ) इस विषय में श्री कनिष्कम पूर्णतः मौन हैं। वे इसे मात्र विशालाकार दिगम्बर प्रतिमा कहते हैं। दे.—ए.एस.आइ.आर., जिल्द 10, पृ. 100। (ब) श्री फुहरर ने, पता नहीं किस आधार पर इसे ऋषभनाथ की प्रतिमा लिखा है। दे.—मानुमेण्टल एंटेक्विटीज़ इन इण्डिया (इलाहाबाद, 1881), पृ. 120। (स) श्री दयाराम साहनी ने, कदाचित् परम्परा के आधार पर ही इसे शान्तिनाथ की प्रतिमा लिखा है। दे.—एनु. प्रो. रि.—1918, पृ. 10।

3. ऊँचाई 16 फुट 2 इंच।

4. ऊँचाई 14 फुट 6 इंच।

5. ऊँचाई 15 फुट।

6. ऊँचाई 11 फुट।

7. ऊँचाई 18 फुट।

8. ऊँचाई 14 फुट 4 इंच।

9. ऊँचाई 15 फुट।



भक्तों ने इसके चिह्न या यक्ष आदि का अन्वेषण या तो किया ही नहीं या वे ऐसा करने में असफल रहे, क्योंकि अभी कुछ वर्ष पूर्व तक इस मूर्ति के सामने 2 फुट 3 इंच के अन्तर से एक भित्ति खड़ी थी जिसमें प्रवेश करने के लिए 1 फुट 9 इंच चौड़ी एक खिड़की थी।<sup>1</sup> इसमें से प्रवेश करके एक अन्धकारपूर्ण, बदबूदार और सकरी कोठरी<sup>2</sup> में मूर्ति का चिह्न खोज निकालने का साहस कदाचित् ही किसी को होता। वर्तमान में इस भित्ति को हटा दिया गया है और एक 'गार्डर' (लोहे के शहतीर) द्वारा टूटी हुई कड़ी को सँभालकर उस भित्ति का उद्देश्य पूरा कर दिया गया है।<sup>3</sup>

इस मन्दिर के महामण्डप में, कुछ वर्ष पूर्व, गर्भगृह की ओर एक भित्ति खड़ी थी, इसमें पूर्व की ओर एक अभिलेख जड़ा<sup>4</sup> हुआ था, जिसमें एक शब्द है—'श्री शान्तिनाथ चैत्यालये'। इस शब्द से भी प्रस्तुत मूर्ति के शान्तिनाथ की होने का भ्रम उत्पन्न हुआ दिखता है। वस्तुतः इस शब्द का प्रस्तुत विशालाकार मूर्ति से कोई सम्बन्ध नहीं, बल्कि यह अभिलेख ही अन्य मन्दिर से सम्बन्धित है। उस मन्दिर के नष्ट हो जाने पर, इसे सुरक्षा की दृष्टि से यहाँ लाकर उस भित्ति में जड़ दिया गया होगा जो उस समय महामण्डप की सुरक्षा की दृष्टि से बनायी जा रही होगी।

दूसरी बात यह है कि इस अभिलेख में संवत् 1493 का उल्लेख है जबकि प्रस्तुत मूर्ति उक्त संवत् से अनेक शताब्दियों पूर्व निर्मित हो चुकी थी। तीसरी बात यह है कि इसी मन्दिर के अर्धमण्डप में संवत् 919 का<sup>5</sup> और गर्भगृह में संवत् 1051 का<sup>6</sup> अभिलेख उत्कीर्ण है, जिनसे स्पष्ट है कि प्रस्तुत अभिलेख (संवत् 1493) में उल्लिखित 'शान्तिनाथ चैत्यालय', मन्दिर संख्या 12 से पृथक् ही कोई मन्दिर था,

1. (अ) ए. कर्नघम : ए.एस.आई.आर. जिल्द 10, पृ. 100। (ब) ए. फ़हरर : मानु. एंटी, इ., पृ. 120।
2. (अ) ए. कर्नघम : उपर्युक्त, पृ. 100। (ब) दयाराम साहनी : एनु. प्रो. रि. 1918, पृ. 10। (स) श्री परमानन्द वरया ने भी इस भित्ति, खिड़की तथा अन्धकार आदि को स्वयं देखा था।
3. इन पक्षितयों के लिखे जाने के पश्चात् अभी-अभी देवगढ़ मेनेजिंग दि. जैन कमटी के मन्त्री ने अपने पत्रांक 161 दि. 15-12-67 द्वारा सूचित किया है कि दिसम्बर 1967 में इस लोहे के 'गार्डर' को गर्भगृह में स्थान, प्रकाश और शोभा आदि के विस्तार की दृष्टि से हटा दिया गया है। तथा टूटी हुई कड़ी को, उसके नीचे ही एक आड़ा 'गार्डर' डालकर सँभाल दिया गया है। मैंने भी अपने जुलाई, 1968 के देवगढ़ प्रवास में उक्त तथ्य की पुष्टि पायी है।
4. अब यह अभिलेख साहू जैन संग्रहालय में सुरक्षित है। दे.—परि. दो, अभि. क्र. पाँच।
5. दे.—मं.सं. 12 के महामण्डप के सामने अवस्थित अर्धमण्डप में दक्षिण-पूर्वी स्तम्भ पर उत्कीर्ण अभिलेख। अभिलेख पाठ के लिए दे.—परिशिष्ट दो, अभिलेख क्र. एक।
6. यह अभिलेख मं.सं. 12 के गर्भगृह के प्रवेश-द्वार की चौखट में बायें भीतरी पक्ष पर उत्कीर्ण है।

जो या तो पूर्णरूपेण धराशायी हो चुका है या वर्तमान मन्दिरों में से अन्य कोई हो सकता है।

इस विशालाकार मूर्ति के दोनों ओर, प्रवेश-द्वार के भीतर दोनों ओर तथा द्वार के बाहर ऊपरी भाग में (दायें) 'अम्बिका' यक्षी की मूर्तियों और द्वार के नीचे (बायें) 'पार्श्व' यक्ष की मूर्तियों के अंकन होने से यह सम्भावना अधिक है कि प्रस्तुत मूर्ति बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ की होगी।<sup>1</sup> इस मूर्ति की प्रमुख विशेषताओं और निर्माण काल के सम्वन्ध में दो उद्धरण पर्याप्त होंगे : उसी मन्दिर के गर्भगृह में शान्तिनाथ की विशाल खड्गासन प्रतिमा की ओर ध्यान दीजिए, जो अपने कलात्मक गुणों के कारण विशेष गौरवशाली है।

भामण्डल की सजावट तथा पार्श्वस्थ द्वारपालों का लावण्य व भाव-भंगिमा गुप्तकाल की कला के अनुरूप है; फिर भी परिकरों के साथ मूर्ति का तादात्म्य नहीं हो पाया। दर्शक के ध्यान का केन्द्र प्रधान मूर्ति ही है, जो अपने गाम्भीर्य व विरक्ति भाव युक्त कठोर मुद्रा द्वारा दर्शक के मन में भयमिश्रित पूज्य भाव उत्पन्न करती है।<sup>2</sup> मन्दिर नं. 12 में रखी हुई खड़े शान्तिनाथ की महान् प्रतिमा (नं. 1) ऊँचाई, समय और अपने कलात्मक गुणों के कारण इन स्मारकों में सबसे अधिक गौरवशालिनी है। इस जिनमूर्ति के भामण्डल पर बने हुए सज्जा-तत्त्व तथा दक्षिण और वाम पार्श्व में स्थित दो-चौरीदारों की लावण्यपूर्ण भंगिमा आज भी गुप्तकला का स्मरण दिलाती है।<sup>3</sup> इस प्रकार इस मूर्ति में गुप्तकाल की अनेक विशेषताएँ परिलक्षित होती हैं। इसका निर्माणकाल छठवीं शती के अन्त या सातवीं शती के प्रारम्भ में निर्धारित किया जा सकता है। इसके परिकर में नवग्रहों का आलेखन विशेष रूप से उल्लेखनीय है।

## मन्दिर संख्या 6 के मूलनायक

मन्दिर संख्या 6 के गर्भगृह में अवस्थित पचासन तीर्थंकर<sup>4</sup> मूर्ति को 700 ई. से कुछ पूर्व<sup>5</sup> निर्मित हुआ मानेंगे। वैराग्य, शान्ति और तपस्या की त्रिवेणी वहाती

1. हमारी इस सम्भावना की पुष्टि के लिए दे.—श्री नीरज जैन : देवताओं का गट : देवगढ़, अनेकान्त, वर्ष 17, किरण 4, पृ. 168।
2. डॉ. हीरालाल जैन : भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान (भोपाल, 1962), पृ. 348।
3. डॉ. क्लॉज ब्रून : मध्यदेश के जैनतीर्थ : देवगढ़, जैनयुग, मई 1959।
4. दे.—चित्र सं. 53।
5. मं.सं. छह, जिसे हमने अब से लगभग 500 वर्ष प्राचीन ही माना है (दे.—पृ. 136), मं स्थित होने पर भी इस मूर्ति को सातवीं शती ई. से पूर्व की कृति मानना होगा क्योंकि देवगढ़ में मूर्तियों का स्थानान्तरण बहुत हुआ है।

हुई यह महान् मूर्ति देवगढ़ की सुन्दरतम मूर्तियों में से एक है। इसमें एक ओर गुप्तकालीन कला की परम्परा का निर्वाह हुआ है और दूसरी ओर पूर्व मध्यकालीन साज-सज्जा के लक्षण दृष्टिगत होते हैं।

## मन्दिर संख्या 15 के मूलनायक

देवगढ़ की सर्वश्रेष्ठ मूर्तियों में से एक पन्द्रहवें मन्दिर के गर्भगृह में मूलनायक के रूप में विद्यमान है।<sup>1</sup> 5 फुट 1 इंच × 2 फुट 11 इंच के शिलाफलक पर निर्मित 2 फुट 10 इंच ऊँची और 1 फुट 7 इंच चौड़ी नेभिनाथ<sup>2</sup> की यह पद्मासन प्रतिमा अनेक दृष्टियों से उल्लेखनीय है। इस मूर्ति में लावण्य, प्रसाद, अनुकम्पा आदि सद्गुण उतने ही सुस्पष्ट हैं जितने ध्यान और विरक्ति के भाव। ज्ञान, ध्यान और लोक-कल्याण की भावना इस मूर्ति के अंग-अंग से फूट रही है। इस मूर्ति की सज्जा, परिकर और इन्द्र आदि बोलते-से प्रतीत होते हैं तथा मूर्ति की सौम्यता और मनोज्ञता में अनन्त-शान्ति के दर्शन होते हैं। इसके भामण्डल के चारों ओर अग्नि-शिखा का अंकन 'ध्यान-अग्नि कर कर्म-कलंक सबै दहै'—का स्मरण दिलाता है।

निस्सन्देह यह प्रतिमा भी गुप्तकाल की कलागत परम्पराओं पर आश्रित है, इसका स्पष्ट प्रमाण सारनाथ में अवस्थित गुप्तकाल की बुद्ध प्रतिमा से इसकी समानता<sup>3</sup> है। साँची के मन्दिर संख्या 45 में स्थित बुद्ध-प्रतिमा (चौथी शती ई.) की प्रभावली का स्मरण प्रस्तुत प्रतिमा की प्रभावली को देखकर सहज ही हो आता है। इसी प्रकार की गुप्तकालीन दो पद्मासन प्रतिमाएँ मथुरा में भी प्राप्त हुई हैं। वे इस मूर्ति से बहुत साम्य रखती हैं।<sup>4</sup>

इस मूर्ति की तुलना मन्दिर संख्या 12 की उपर्युक्त विशालाकार मूर्ति से करेंगे : दोनों मूर्तियों की तुलना करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि गुप्तकाल के पश्चात् कला की एकता का स्थान अपने आपको स्वतन्त्र रूप में अभिव्यक्ति प्रदान करनेवाली प्रवृत्तियों की विविधता ने कैसे ले लिया। निस्सन्देह दोनों मूर्तियाँ आध्यात्मिकता और बाह्य संसार के प्रति उदासीनता का स्पष्ट भाव अभिव्यक्त करती

1. दे.—चित्र सं. 54।

2. श्री नीरज जैन ने इस मूर्ति के यक्ष-यक्षी तथा मन्दिर में जीर्णोद्धार के समय के अभिलेख को कदाचित् बारीकी से देखे बिना ही इसे सन्मति (महावीर) की लिखा है। तथा उसी नाम से इसका चित्र भी प्रकाशित कराया है। दे.—अनेकान्त, वर्ष 17, किरण 4, पृ. 168।

3. दे.—डॉ. क्लॉज ब्रून : वही।

4. दे.—विसेण्ट स्मिथ : दी जैन स्तूप ऐण्ड अदर एण्टिक्विटीज़ ऑफ़ मथुरा (इलाहाबाद, 1901), फलक 92 और 93 तथा लखनऊ संग्रहालय क्र. जे. 104 और जे. 118।

हैं। परन्तु कायोत्सर्गासन मूर्ति अधिक कठोर और निष्क्रिय है, जबकि पद्मासनस्थ मूर्ति अधिक सजीव है, पहली भय का संचार-सा करती है जबकि दूसरी करुणा का मूर्तिमान प्रवाह है। पहली संसार के प्रति स्पष्ट अवहेलना का भाव प्रकट करती है परन्तु दूसरी हर्षोत्फुल्ल और अनुप्राणित मूर्तियों से घिरी हुई है, जिनकी उपस्थिति के प्रति वह रंचमात्र भी असहिष्णु नहीं है। मूर्ति के ऊपरी भाग में विद्याधरों और विद्याधरियों का अंकन अत्यन्त आकर्षक मुद्रा में हुआ है। छत्रों के ऊपर उद्घोषक और उसके दोनों पार्श्वों में उत्कीर्ण हाथी बहुत प्रभावोत्पादक हैं।<sup>1</sup> परिकर में यक्षी अम्बिका और यक्ष पार्श्व के अस्तित्व से स्पष्ट है कि यह मूर्ति नेमिनाथ की है, जबकि श्री नीरज जैन ने इसे सन्मति (महावीर) की लिखा है<sup>2</sup> और इसका चित्र भी इसी नाम से मुद्रित कराया है।<sup>3</sup>

## अभिनन्दननाथ

मन्दिर संख्या नौ के गर्भगृह में स्थित कायोत्सर्ग अभिनन्दननाथ की<sup>4</sup> मूर्ति स्निग्ध पालिश, अंग-प्रत्यंग के समानुपातिक अंकन तथा भावाभिव्यक्ति आदि के कारण गुप्तकाल की कला-परम्पराओं की रक्षा करती है। इसका निर्माण काल ईसा की सातवीं-आठवीं शती प्रतीत होता है।

दो फुट तीन इंच लम्बी इस तीर्थकर मूर्ति के कन्धों पर जटाएँ लहरा रही हैं, जबकि इसके पादमूल में बन्दर का चिह्न स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। जटाओं का अंकन केवल ऋषभनाथ के ही साथ ही,<sup>5</sup> यह परम्परा देवगढ़ में नहीं है। इस मूर्ति की एक और विशेषता यह है कि इसके कन्धों के पार्श्व में तीर्थकर का अभिषेक करने हेतु दो इन्द्र कलश लिये हुए उपस्थित हैं। दुर्भाग्य से उनके सिर खण्डित हो

1. दे.—चित्र सं. 54।

2. दे.—अनेकान्त, वर्ष 17, किरण 4, पृ. 168।

3. (अ) वही, मुखपृष्ठ। (ब) इस मन्दिर का जीर्णोद्धार रायबहादुर आदि अनेक उपाधिधारी सेठ कल्याणमल जी (इन्दौर) की धर्मपत्नी श्रीमती गुलाब बाई द्वारा सन् 1936 में निष्पन्न हुआ। उस समय और उससे पूर्व भी यह मूर्ति नेमिनाथ तथा यह मन्दिर, 'नेमिनाथ-जिनालय' के नाम से विख्यात रहा होगा, तभी तो इसके जीर्णोद्धार सम्बन्धी अभिलेख में 'नेमिनाथ जिनालय' पद का प्रयोग हुआ है। दे.—उसी मन्दिर में रखा हुआ जीर्णोद्धार सम्बन्धी श्रावण सूची 15 वीर नि.सं. 2462, विक्रम सं. 1993, दि. 3 अगस्त 1936 का अभिलेख। यह अभिलेख मेरी पूर्व-मान्यता (मूर्ति नेमिनाथ की है) की सम्पुष्टि करता है। यदि श्री नीरज जैन ने इस अभिलेख पर भी ध्यान दिया होता तो इसे सन्मति (महावीर) लिखने का भ्रम न होता।

4. दे.—चित्र सं. 58।

5. 'चिरं तपस्यतो यस्य जटा मूर्ध्नि बभुस्तराम्।

ध्यानाग्नि-दग्ध-कर्मन्ध-निर्यद्-धूम-शिला इव ॥' —जिनसेन : आदिपुराण, 1-9।

गये हैं। पादपीठ पर भी (दोनों ओर) चँवरधारी इन्द्रों की भावपूर्ण मुखमुद्राएँ दर्शनीय हैं।

## ऋषभनाथ

इसी प्रकार की अनेक मूर्तियाँ देवगढ़ में और भी देखी जा सकती हैं, जिनमें से मं. सं. तीन में अवस्थित कायोत्सर्गासन ऋषभनाथ की मूर्ति का विवेचन प्रस्तुत है। यह मूर्ति 2 फुट 6 इंच ऊँचे और 1 फुट 9 इंच चौड़े शिलाफलक पर उकेरी गयी है। इसके हाथ, परिकर, अष्ट-प्रातिहार्य तथा कुछ अन्य अंश खण्डित हो गये हैं। सिंहासन में यक्ष, श्रावकयुगल, सिंहयुगल और वृषभ का अंकन अत्यन्त सूक्ष्मता और सुन्दरता के साथ किया गया है। पादमूल में दो कमलधारी त्रिभंगी देव (दोनों ओर) खड़े हैं। इन्होंने अपने-अपने हाथ के विकसित कमल ऊपर उठाकर इस ढंग से ले रखे हैं कि वे तीर्थकर की दोनों हथेलियों में ऐसे जा थमे हैं मानो उन्हें स्वयं तीर्थकर ने ले रखा हो। परिकर में दोनों ओर तीन-तीन कायोत्सर्ग तीर्थकरों की तीन-तीन पक्तियाँ हैं।

अनुमान है कि इस शिलाफलक के खण्डित अंश में शेष पाँच तीर्थकर भी अंकित रहे होंगे। इस प्रकार इस शिलाफलक को चौबीसी कहना उपयुक्त होगा। इसका भामण्डल अशोकचक्र की अनुकृति पर बनाया गया है, जो इसकी अपनी विशेषता है। इसकी नाभि के नीचे की त्रिवलि, नाभि की गहराई, श्रीवत्स की लघुता, ग्रीवा की त्रिवलि, मुखमण्डल की सौम्यता और अब भी चमकते हुए 'पालिश' की स्निग्धता—ये सब मिलकर इसे गुप्तोत्तर युग की सिद्ध करते हैं।

सिंहासन पर तीर्थकर के पादमूल में उत्कीर्ण दो पक्तियों के अभिलेख में उल्लिखित संवत् 1209 के बावजूद हम इस मूर्ति की निर्माण-काल-सम्बन्धी अपनी उक्त धारणा कायम रखना चाहते हैं, क्योंकि (1) कला की यह सूक्ष्मता और सौम्यता गुप्तोत्तर काल में दृष्टिगत होती है, (2) बारहवीं शती तक आते-आते श्रीवत्स का अनुपात काफी बड़ा हो जाता है जबकि यहाँ वह बहुत ही छोटे अनुपात में है, (3) लेख निश्चित ही बाद को उत्कीर्ण कराया गया होगा क्योंकि जितनी भी मूर्तियों पर लेख उत्कीर्ण मिले हैं या मिलते हैं, वे सभी सिंहासन के सामने के हिस्से में मिलते हैं, सिंहासन के ऊपर तीर्थकर के पादमूल में नहीं, (4) तीर्थकर-मूर्ति की अपेक्षा गोमुख यक्ष की मूर्ति का लगभग पचासवाँ हिस्सा (लघु आकार में) होना भी इसे गुप्तोत्तर युग की सिद्ध करता है, जबकि भट्टारक प्रथा का प्रचार अधिक नहीं बढ़ा था, जिसके कारण तीर्थकर मूर्ति क्रमशः छोटी होती गयी और यक्ष-यक्षियों की मूर्तियाँ क्रमशः बड़ी होती गयीं।

1. दे.-चित्र सं. 59।

## मन्दिर संख्या 2 में कायोत्सर्ग तीर्थकर

इसी प्रकार मन्दिर संख्या 2 में भी एक कायोत्सर्गासन तीर्थकर मूर्ति विद्यमान है।<sup>1</sup> इसके सिंहासन का अग्रभाग खण्डित है अतः उसे पहचानना कठिन है। उसके कन्धों पर लगभग एक फुट की जटाएँ आ पहुँची हैं। अतः उसे आदिनाथ की मूर्ति कहा जा सकता है, इसके विरुद्ध उसके परिकर में फणावलि सहित देव (धरणेन्द्र) के अंकन से उसे पार्श्वनाथ कहना ही अधिक उपयुक्त होगा।<sup>2</sup> श्रीवत्स की आनुपातिक लघुता और कलागत अंकन की सूक्ष्मता के आधार पर इसे गुप्तकाल की मानना चाहिए।

## पद्मासन तीर्थकर

मन्दिर संख्या 21 के पश्चिमाभिमुख कक्ष में स्थित पद्मासन-तीर्थकर-मूर्ति<sup>3</sup> (बायें से दायें, तीसरी) अपनी सज्जागत समृद्धि और केन्द्रस्थित तथा चारों ओर स्थित मूर्तियों के चित्ताकर्षक एकीकरण की दृष्टि से गुप्तकालीन कला में भी चार-चाँद लगाती प्रतीत होती है। इस मूर्ति के अंग-प्रत्यंगों के गठन में चारुता और कोमलता का अद्भुत समन्वय है। अलंकृत कमलासन पर आसीन तीर्थकर मानो शान्ति और स्निग्धता का विस्तार कर रहे हैं। मस्तक के पीछे अत्यन्त अलंकृत त्रिवृत्त भामण्डल दर्शनीय है। गौण-मूर्तियों के अंकन में भी सुचारुता का प्रदर्शन उल्लेखनीय है। इसे आठवीं शती ई. के आसपास की कृति माना जा सकता है। यह अत्यन्त खेद का विषय है कि इस ऐतिहासिक और सांस्कृतिक महत्त्व की मूर्ति का मस्तक एक मूर्तिभञ्जक द्वारा काट लिया गया है।<sup>4</sup>

## मन्दिर संख्या 28 के मूलनायक नमिनाथ

ऐसी ही एक 8 फुट 3 इंच ऊँची कायोत्सर्ग मूर्ति<sup>5</sup> मन्दिर संख्या 28 में भी विद्यमान है। इसके पैरों से कमर तक की ऊँचाई 5 फुट 1 इंच, पैरों से कन्धों तक

1. यह फलक (बायें से दायें) नवम स्थान पर है तथा इसकी ऊँचाई 4 फुट 8 इंच और चौड़ाई 1 फुट 7 इंच है।
2. जटाधारी तीर्थकर मूर्तियों को आदिनाथ की ही मान लेना (दे.—अनेकान्त, वयं 17, किरण 1, पृ. 43-44) निश्चिन्त नहीं होगा। क्योंकि देवगढ़ में ऐसी अनेक मूर्तियाँ विद्यमान हैं जिनके साथ जटाओं के अतिरिक्त विभिन्न तीर्थकरों के लाठन भी स्पष्ट रूप से अंकित हैं।
3. दे.—चित्र सं. 61।
4. कटा हुआ शिर अब क्षेत्रीय प्रवन्धक समिति को प्राप्त हो गया है, जो शीघ्र ही स्थानीय जैन संग्रहालय में प्रदर्शित किया जाएगा।
5. दे.—चित्र सं. 62।

136 :: देवगढ़ की जैन कला : एक सांस्कृतिक अध्ययन

की ऊँचाई 6 फुट 10 इंच तथा एक कन्धे से दूसरे कन्धे तक की चौड़ाई 2 फुट 10 इंच है। आसन में कमल का चिह्न स्पष्ट है अतः इसे इक्कीसवें तीर्थंकर नमिनाथ की प्रतिमा कहना होगा। इसके परिकर और अलंकरण का संक्षेप, अष्ट-प्रातिहार्यों (भामण्डल के अतिरिक्त) की अनुपस्थिति और कलात्मकता आदि के साथ हाथों और पैरों की समतलता इसे आठवीं शती की कृति सिद्ध करते हैं।

## आदिनाथ

इसी काल (आठवीं शती ई. के आसपास) की, आदिनाथ<sup>1</sup> की एक पद्मासन मूर्ति मन्दिर संख्या दो में (दायें से दायें, नवम स्थान पर, 4 फुट 7 इंच × 2 फुट 7 इंच के शिलाफलक पर उत्कीर्ण) अवस्थित है। अष्ट-प्रातिहार्यों के अतिरिक्त, इसके परिकर में दायें एक अन्य लघु पद्मासन तीर्थंकर का अंकन इस मूर्ति की विशेषता है। इसी मन्दिर के चौथे शिलाफलक (4 फुट 5 इंच × 2 फुट 7 इंच) पर आदिनाथ की ही एक और पद्मासन मूर्ति उल्लेखनीय है। इसके सिंहासन के नीचे एक पंक्ति का लेख है।<sup>2</sup> जिसमें संवत् 1052 और दाता का नाम उत्कीर्ण है।

## आदिनाथ

यहाँ (मं. सं. दो) दसवें शिलाफलक (4 फुट 9 इंच × 2 फुट 10 इंच) पर आदिनाथ की एक और पद्मासन मूर्ति निर्मित है।<sup>3</sup> इसके सिंहासन के नीचे एक पंक्ति के लेख में संवत् 1122 अंकित है तथा परिकर में तीर्थंकरों की दो लघु-आकृतियाँ (पद्मासन में) अभिलिखित हैं। अष्ट-प्रातिहार्यों में, एक दूसरे की ओर सस्नेह देखते हुए दो विद्याधरयुगल हमें वरबस अपनी ओर आकृष्ट कर लेते हैं।

## वृषभनाथ

मन्दिर संख्या एक के मण्डप में सामने की ओर (पूर्व में) मध्य में स्थित वृषभनाथ की पद्मासन मूर्ति भी उल्लेखनीय कही जा सकती है, जिसका लम्बा श्रवत्स उसके बारहवीं शती की होने की पुष्टि करता है।

## चतुर्विंशति पट्ट

चौबीसी (चतुर्विंशति) की दृष्टि से अनेक उल्लेखनीय मूर्ति-फलक मन्दिर संख्या 12 के महामण्डप में जड़े हुए हैं।<sup>4</sup>

1. दे.—चित्र 60।
2. सन् 1917-18 में श्री दयाराम साहनी ने भी इस मूर्ति को इसी मन्दिर में देखा था। द्रष्टव्य—ए. प्रो. रि., परिशिष्ट अ, अभिलेख क्र. 15, पृ. 13।
3. दे.—चित्र सं. 67।
4. एक मूर्तिफलक के लिए दे.—चित्र सं. 64।

## 4. कतिपय विशिष्ट मूर्तियाँ

### (अ) जटाओं की दृष्टि से उल्लेखनीय

1. मन्दिर संख्या 13 के कायोत्सर्ग तीर्थकर : अब हम कुछ ऐसी मूर्तियों का उल्लेख करेंगे जिनका महत्त्व प्राचीनता की दृष्टि से तो है ही, उनकी अपनी कुछ विशेषताओं के कारण भी है। उदाहरण के लिए मन्दिर संख्या 13 के मण्डप में विद्यमान 5 फुट 10 इंच के शिलाफलक (बायें से दायें बीसवाँ) पर उत्कीर्ण शान्तिनाथ की 4 फुट 7 इंच ऊँची कायोत्सर्गासन मूर्ति<sup>1</sup> दर्शनीय है। इस मूर्ति की प्रथम विशेषता यह है कि उसके आसन में बायें सिंह और दायें हिरण का अंकन है जबकि अन्यत्र, दोनों ओर सिंह का ही अंकन मिलता है। सिंह को सिंहासन का प्रतीक और हिरण को तीर्थकर का चिह्न मान लें तो यह मूर्ति सोलहवें तीर्थकर शान्तिनाथ की कही जानी चाहिए। या फिर सिंह और हिरण को एकत्र दिखाकर तीर्थकर की तपस्या के अहिंसात्मक प्रभाव को प्रदर्शित करने की भावना भी इसमें सन्निहित हो सकती है।

जटाओं की विशालता और विचित्रता इस मूर्ति की दूसरी विशेषता है।<sup>2</sup> जटाओं को सँभालने में कलाकार ने कदाचित् सर्वाधिक अभिरुचि दिखायी है। जटाओं को पीछे की ओर सँभालकर उनकी पाँच-पाँच लट्टें दोनों कन्धों पर झुलायी गयी हैं,<sup>3</sup> कुछ लट्टों की ऊपर को उठी हुई चोटी बाँधी गयी है और बहुत-सी जटाएँ पीछे दोनों ओर लटका दी गयी हैं जो इतनी लम्बी हैं कि पिण्डलियों के भी नीचे तक आ पहुँची हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि कलाकार तीर्थकर को हिमालय मानकर उनके जटा-शिखर से ज्ञान-गंगा को भूमण्डल पर अवतीर्ण करना चाहता हो, जैसा कि मध्यकालीन हिन्दी कवि श्री भूधरदास का कथन है:

‘वीर हिमाचल तैं निकसीं गुरु गौतम के मुख-कुण्ड धरी है।  
मोह-महाबल भेद चली जग की जड़ता सब दूर करी है ॥  
ज्ञान-पयोनिधि माँहि रली बहु-भंग-तरंगनि सौं उछरी है।  
ता शुचि शारद गंग-नदी प्रति में अँजुरी कर शीश धरी है ॥<sup>4</sup>

इस मूर्ति में कला-प्रदर्शन को ही नहीं, भावों को भी प्रधानता दी गयी है। यह आश्चर्य की बात है कि ललाट पर दर्शित अलकों की दो छोटी-छोटी घुँघराली

1. दे.-चित्र सं. 68।

2. तुलना के लिए देखिए चित्र सं. 69 और 73।

3. कन्धों पर झूलती हुई जटाओंवाली कुछ मूर्तियाँ मथुरा-संग्रहालय में भी प्रदर्शित हैं।

4. दे.-वृहज्जिनवाणी संग्रह, पं. पन्नालाल बाकलीवाल द्वारा मध्यकालीन कवि भूधरदास के पार्श्वनाथपुराण से संकलित (कलकत्ता, 1937), पृ. 47।



लटें उसके भावात्मक सौन्दर्य में चार चाँद लगा रही हैं। वैसे भी उसका मुख-मण्डल अत्यन्त प्रशान्त और आत्म-सम्मुख बन पड़ा है।

**2. नेमिनाथ :** जटाओं की विचित्रता और लम्बाई की दृष्टि से उल्लेखनीय एक मूर्ति और भी इसी मन्दिर के गर्भगृह में तीसरी वेदी (बायें से दायें) पर स्थित 5 फुट 3 इंच × 1 फुट 11 इंच के शिलाफलक पर अंकित है। मस्तक पर बीसों लटों को एक बड़े ही संयोजित और पेचीदा ढंग से गुँथा गया है। इतने पर भी कलाकार को सन्तोष नहीं हुआ तो उसने दो-दो लटें कन्धों पर और बीसों लटें पीछे दोनों ओर बिखेर दी हैं। यह अवश्य स्वीकार करना होगा कि कलाकार कला के भावपक्ष का भी मर्मज्ञ था। उसने जहाँ जटाओं की संयोजना में अद्भुत कौशल का परिचय दिया है वहाँ मूर्ति के मुखमण्डल पर नासाग्र दृष्टि और वैराग्य की अपूर्व छटा बिखेर दी है।<sup>1</sup>

**3. अन्य उल्लेखनीय मूर्तियाँ :** जटाओं की लम्बाई की दृष्टि से कुछ अन्य मूर्तियाँ भी उल्लेखनीय हैं जिनमें से बारहवें मन्दिर के प्रदक्षिणापथ में अवस्थित पचीसवें (बायें से दायें) शिलाफलक<sup>2</sup> की तथा नवम मन्दिर के गर्भगृह में अवस्थित<sup>3</sup> अभिनन्दननाथ<sup>4</sup> की और छठवें मन्दिर के गर्भगृह में विद्यमान आदिनाथ<sup>5</sup> की तथा चौथे मन्दिर की उत्तरी और पश्चिमी<sup>6</sup> भित्तियों (भीतर) एवं जैन-चहारदीवारी<sup>7</sup> में जड़ी हुई मूर्तियाँ विशेष हैं।

### (ब) फणावलि तथा सर्पकुण्डली की दृष्टि से उल्लेखनीय मूर्तियाँ

**1. पार्श्वनाथ :** कुछ मूर्तियाँ फणावलि और सर्पकुण्डली की दृष्टि से उल्लेखनीय हैं, जिनमें से पचीसवें मन्दिर के गर्भगृह में विद्यमान पाँचवें शिलाफलक की पार्श्वनाथ की<sup>8</sup> पद्मासन मूर्ति दर्शनीय है।<sup>9</sup> इसके सर्प की कुण्डली, अन्य मूर्तियों

1. कुछ अन्य मूर्तियों की भाँति यह मूर्ति भी जटासूक्त होने पर भी आदिनाथ की नहीं, नेमिनाथ की है। क्योंकि उसके सिंहासन पर बायें पार्श्व यक्ष और दायें अम्बिका यक्षी का स्पष्ट अंकन है।

2. दे.—चित्र सं. 73।

3. इस मूर्ति की दूसरी विशेषता यह है कि जटाओं के रहते हुए भी इसका लाठन बन्दर स्पष्ट अंकित है।

4. दे.—चित्र सं. 58।

5. दे.—चित्र सं. 65।

6. दे.—चित्र सं. 75।

7. दे.—चित्र सं. 69।

8. दे.—चित्र सं. 71।

9. तुलना कीजिए—यहीं के पन्द्रहवें मन्दिर के मूलयानक के बायें अवस्थित पार्श्वनाथ की पद्मासन मूर्ति से।

की भाँति<sup>1</sup> पीछे न होकर आसन के रूप में नीचे है। मूर्ति के दायें सर्प की पूँछ दीखती है,<sup>2</sup> फिर छह कुण्डलियाँ लगाकर वह मूर्ति के पीछे से ऊपर पहुँच जाता है और अपने सात फणों की अवलि फैलाकर तीर्थंकर को छाया प्रदान करता है।

सर्प की कुण्डली का विस्तार यहाँ तक बढ़ा कि वह तीर्थंकर के आसन में ही समाप्त न होकर पृष्ठभाग में तक्रिया के रूप में भी दिखायी जाने लगी। इस प्रकार की अनेक मूर्तियाँ विभिन्न मन्दिरों एवं जैन चहारदीवारी में जड़ी हुई हैं।<sup>3</sup> मन्दिर संख्या छह में और बारह के महामण्डप में कुछ ऐसी मूर्तियाँ उल्लेखनीय हैं जिनमें मूर्ति के अनुपात में फणावलि काफी बड़ी अतः भार-स्वरूप मालूम पड़ती है।

**2. सुमतिनाथ :** फणावलि का अंकन केवल पार्श्वनाथ के साथ ही सीमित नहीं रहा बल्कि सुमतिनाथ के साथ भी उसका अंकन हुआ है।<sup>4</sup> इस प्रकार की एक सुन्दर मूर्ति जैन-चहारदीवारी में (मं. सं. सात के पश्चिम में) जड़ी हुई है। इसमें सुमतिनाथ का चिह्न 'चकवा' सुस्पष्ट रूप में देखा जा सकता है।

**3. पार्श्वनाथ : पादपीठ के ऊपर सर्प :** मन्दिर संख्या छह में पार्श्वनाथ की एक ऐसी भी मूर्ति विद्यमान है<sup>5</sup> जिस पर सर्प का आलेखन चिह्न, आसन, तक्रिया या मस्तकाच्छादन के रूप में न होकर पादपीठ के ऊपर मूर्ति के पैरों के दोनों ओर दो स्वतन्त्र सर्पों के रूप में हुआ है। वहाँ सर्प अपनी विकराल कुण्डली लगाये हुए आलिखित हैं।

### (स) द्विमूर्तिकाएँ, त्रिमूर्तिकाएँ और सर्वतोभद्रिकाएँ

देवगढ़ में पचास मात्रा में द्विमूर्तिकाएँ, त्रिमूर्तिकाएँ और सर्वतोभद्रिकाएँ आदि भी निर्मित हुईं।

**1. मन्दिर संख्या 13 की द्विमूर्तिका :** मन्दिर संख्या 13 के मण्डप में स्थित एक द्विमूर्तिका विशेष रूप से उल्लेखनीय है। 7 फुट 7 इंच × 2 फुट 2 इंच के एक शिलाफलक के एक ओर 5 फुट 6 इंच ऊँची तथा उसके ठीक पीछे (दूसरी ओर) 6 फुट ऊँची कायोत्सर्ग मूर्तियाँ निर्मित हुई हैं। दोनों मूर्तियों के पृष्ठ भागों

1. दे.—जैन चहारदीवारी में जड़ी हुई एवं मं. सं. 12 के महामण्डप में स्थित मूर्तियाँ तथा चित्र सं. 69, 70।
2. तुलना कीजिए—तेरापुर (महाराष्ट्र) की गुफा में स्थित पार्श्वनाथ की कायोत्सर्ग मूर्ति सं. इसके चित्र और विवरण के लिए दे.—डॉ.डी.ला. जैन : भारतीय संस्कृति में जैनधर्म का योगदान (भोपाल, 1962), पृ. 312, फलक 24।
3. दे.—चित्र सं. 69, 70।
4. दे.—चित्र सं. 66।
5. दे.—चित्र सं. 55।

140 :: देवगढ़ की जैन कला : एक सांस्कृतिक अध्ययन

के बीच 2.5 इंच का अन्तर छोड़ा गया है। इस द्विमूर्तिका के निर्माण में कलाकार के सामने एक विकट समस्या रही होगी। एक ओर की मूर्ति का निर्माण हो चुकने पर जब उसने उसी शिला के पृष्ठभाग में दूसरी मूर्ति के अंकन का कार्य प्रारम्भ किया होगा, तब पहली मूर्ति को पत्थर की छिलाई की चोट आदि से सम्भावित टूट-फूट से बचा सकना अत्यंत बुद्धिसाध्य रहा होगा।

इस प्रकार की मूर्तियों का अंकन इसवी पूर्व प्रथम शती से मथुरा में होने लगा था, किन्तु अन्यत्र ऐसी द्विमूर्तिकाएँ, कदाचित् देवगढ़ से बाद की, अत्यल्प मात्रा में ही मिलती हैं।

**2. द्विमूर्तिकाएँ और त्रिमूर्तिकाएँ :** एक ही शिलाफलक पर, एक ही ओर एक-दूसरे के पार्श्व में दो मूर्तियों<sup>1</sup> या तीन मूर्तियों<sup>2</sup> को उत्कीर्ण करने की परम्परा भी देवगढ़ में रही है।

**3. सर्वतोभद्रिकाएँ :** सर्वतोभद्रिकाएँ<sup>3</sup> प्रायः स्तम्भों या उनके खण्डित शीर्षों पर ही प्राप्त होती हैं।

### (द) चतुर्विंशति पट्ट

कुछ शिलाफलकों पर चौबीसियों<sup>4</sup> (चतुर्विंशति-पट्टों) का निर्माण भी, स्वतन्त्र रूप<sup>5</sup> में और मूल नायक के परिवार के रूप<sup>6</sup> में हुआ है। कला की दृष्टि से मं. सं. 12 के महामण्डप में स्थित कुछ चतुर्विंशति पट्ट (चित्र 64) विशेष उल्लेखनीय हैं।

1. दे. - मं. सं. एक, दो, सप्त, छब्बीस, जैन चहारदीवारी, साहू जैन संग्रहालय तथा मं. सं. 12 के अंगशिखर में जड़ी हुई मूर्तियाँ (चित्र सं. 35)।
2. दे. - मं. सं. एक, दो, बारह का मलयमण्डप, अद्दांस का अंगशिखर एवं जैन चहारदीवारी आदि। तथा चित्र सं. 1, 76, 75, 20, 32। अद्दांसवे मन्दिर के अंगशिखर में निर्मित देवकुलिका में जो त्रि-मूर्तिका जड़ी है—उसमें उसके बायें सप्त फणावलि-सहित पार्श्वनाथ और बायें पंच फणावलि-सहित सुपार्श्वनाथ कायोत्सर्गसन में दर्शित हैं, जबकि मध्य की मूर्ति के टूटकर गिर जाने से उसके स्थान पर एक अन्य पचासन तीर्थंकर प्रतिमा जड़ दी गयी है। दे. - चित्र सं. 42।
3. इस प्रकार की 27 मूर्तियाँ जैन चहारदीवारी पर एक-दूसरे से बहुत अन्तर पर स्थापित हैं। दे. - चित्र सं. 47। विभिन्न मानस्तम्भों पर भी इसी प्रकार की मूर्तियाँ देखी जा सकती हैं। दे. - चित्र सं. 43-45 तथा 48।
4. मं. सं. 4, 12, 25, 26, 29 एवं जैन चहारदीवारी और जैन धर्मशाला में अनेक चतुर्विंशति-पट्ट देखे जा सकते हैं। चौबीसी के लिए दे. - चित्र सं. 64, 65 और 75।
5. दे. - साहू जैन संग्रहालय में स्थापित चतुर्विंशति-पट्ट।
6. दे. - चित्र सं. 61, 65 एवं 75।

## (इ) 176 मूर्तियों से अंकित स्तम्भ

एक स्तम्भ (संख्या 13) पर चारों ओर छोटी-छोटी 176 मूर्तियाँ निर्मित हैं। मूर्तियों की यह संख्या विचारणीय है, क्योंकि इसकी कोई शास्त्रीय संगति नहीं है। यदि यह संख्या 170 रही होती तो शास्त्रीय संगति मिल जाती<sup>2</sup>। ऐसा प्रतीत होता है कि कलाकार को अभीष्ट रही होगी 170 की ही संख्या, परन्तु स्तम्भ पर स्थान और संयोजना की दृष्टि से विवश होकर उसे 176 की निकटतम संख्या स्वीकार करनी पड़ी होगी। यही अंकन कुछ अन्य स्तम्भों पर भी देखा जा सकता है<sup>3</sup>।

## (ई) सहस्रकूट

एक विशालाकार स्तम्भ<sup>4</sup> (मं. सं. 5 में स्थित सहस्रकूट) पर 1008 लघुकाय पद्मासन और कायोत्सर्गासन तीर्थकर<sup>5</sup> मूर्तियाँ अंकित हैं, जो जिनेन्द्र देव के 1008 नामों<sup>6</sup> का भी प्रतीक माना जा सकता है।

## 5. देव-देवियाँ

जैन देव-शास्त्र में मौलिक और सर्वोपरि पूज्यता पंच-परमेष्ठियों को ही प्राप्त है। प्रारम्भ में तीर्थकरों (अर्हन्त परमेष्ठी) की ही मूर्तियाँ बनती थीं, बाद में हिन्दू देवताओं और कदाचित् बोधिसत्त्वों की मूर्तियों के अनुकरण या प्रतिस्पर्धा के कारण जैन-देव-देवियों की भी मूर्तियाँ बनने लगीं। शास्त्रीय दृष्टि से चूँकि मोक्ष-प्राप्ति

1. दे.--चित्र सं. 47।

2. एक ही साथ यदि आधिक से अधिक तीर्थकर विद्यमान रहें तो वे 170 हो सकते हैं। विदेह क्षेत्र पाँच हाते हैं और प्रत्येक में 32 नगरियाँ होती हैं। इन  $(5 \times 32=160)$  नगरियों में से प्रत्येक में भी एक-एक तीर्थकर एक ही साथ हो सकते हैं। इसी तरह पाँच भक्त क्षेत्रों और पाँच ऐरावत क्षेत्रों में से प्रत्येक में भी एक-एक तीर्थकर उसी समय हो सकते हैं। ये सब  $(160 + 10 =170)$  मिलाकर 170 हो जाते हैं।

3. दे.--स्तम्भ सं. 12, चित्र सं. 46।

4. दे.--चित्र सं. 8।

5. तीर्थकर के शरीर में 108 मुख्य और 900 सामान्य लक्षण (=1008) सामूहिक शास्त्र की दृष्टि से होते हैं। दे.--जिनसेन : महापुराण, पर्व 15, श्लोक 37-44।

6. दे.--उपर्युक्त, पर्व 25, श्लोक 98-99। तुलना कीजिए—(1) शिव सहस्रनाम स्तोत्र; श्लोक 16-17 और 35। (2) विष्णु सहस्रनाम स्तोत्र (गोरखपुर, 2023 वि.), श्लोक 2, 6, 12-13। (3) गणेश सहस्र नाम स्तोत्र (गोरखपुर, 2015 वि.), श्लोक 2-5।

142 :: देवगढ़ की जैन कला : एक सांस्कृतिक अध्ययन

मानव-जन्म से ही सम्भव है, देवजन्म से नहीं<sup>1</sup>। अतः मानव को देवों से अधिक महत्त्व मिलता है।

पंच<sup>2</sup> परमेष्ठी<sup>3</sup> देव नहीं, मानव ही होते हैं। अतः देव-देवियों की मूर्तियाँ बनने तो अवश्य लगीं पर तीर्थकरों के समान न तो उनकी पूजा ही होती थी और न मन्दिर में उन्हें मुख्य स्थान प्राप्त होता था। उन्हें तीर्थकरों के चमरधारी, आसन्नक एवं सेवक आदि के रूप में स्थान दिया जाता था, जैसा कि अब तक होता आ रहा है। हिन्दू-देवताओं की भाँति अधिकांश जैन-देवताओं को भी मन्दिर के प्रवेश-द्वार आदि विभिन्न स्थानों पर भी अंकित किया जाने लगा।

भट्टारकों की उत्तरोत्तर बढ़ती हुई आडम्बरप्रियता और भौतिकता के प्रति आकर्षण के फलस्वरूप अनेक ऐसे देव-देवियों की कल्पना की गयी, जिनका जैन धर्म के प्रारम्भिक और सर्वमान्य आचार्यों ने कोई उल्लेख नहीं किया। ऐसे देव-देवियों में यक्ष तथा यक्षियों अर्थात् तीर्थकर के शासनदेव और शासन-देवियों का विशेष महत्त्व है। कुछ हिन्दू देव-देवियों का जैनीकरण भी हुआ जिनमें सच्चिद्या माता आदि प्रमुख हैं<sup>4</sup>।

भट्टारकों में से अधिकांश मन्त्र-तन्त्र आदि पर विश्वास रखते थे, जिनकी सिद्धि के लिए विभिन्न देवियों की उपासना अनिवार्य बताया गया। फलतः देवियों की मूर्तियों का महत्त्व क्रमशः बढ़ता ही गया। अब ये देवियाँ मन्दिर के प्रवेश-द्वार से आगे बढ़ती-बढ़ती गर्भालय तक जा पहुँचीं। फिर उन्हें तीर्थकर के पादमूल में ही स्थान मिल गया। इस स्थिति में इनकी मूर्ति तीर्थकर की मूर्ति की अपेक्षा काफी छोटी, कदाचित् पचासवाँ भाग होती थी। परन्तु देवियों की शक्ति पर विश्वास और कदाचित् सांस्कृतिक, सामाजिक एवं धार्मिक कमियों तथा दबावों के फलस्वरूप उनका महत्त्व इतना बढ़ा कि भले ही वे तीर्थकर का स्थान न ले सकीं, पर इनकी मूर्ति अवश्य ही तीर्थकर की मूर्ति से पचास-गुनी तक बड़ी बनने लगी।

**सामान्य लक्षण**—अब हम इन देव-देवियों की मूर्तियों के सामान्य लक्षणों पर दृष्टिपात करेंगे। इन मूर्तियों के 'मूर्ति-विज्ञान' सम्बन्धी अध्ययन से ज्ञात होता है कि उनके विकास में तत्कालीन धार्मिक एवं सामाजिक परिस्थितियाँ प्रमुख कारण

1. (1) समन्तभद्र : रत्नकरण्ड-श्रावकाचार, जुगलकिशोर मुख्तार सम्पादित, पृष्ठ 39-41। (2) पं. दोलतराम छहडाला (सोनगढ़, 2017 वि.), पृ. 117 और 175। (3) पं. हीरालाल सिद्धान्त शास्त्री : जैनधर्माभूत (काशी 1960 ई.), पृ. 315।
2. अरिहन्त, सिद्ध, आचार्य, उपाध्याय और साधु। इनके लक्षणों आदि के लिए दे.—द्रव्यसंग्रह, गाथा 50-54।
3. इन्द्रादिक के द्वारा वन्दनीय परमपद में स्थित अरिहन्त आदि महापुरुष। दे.—वही, पृ. 57 तथा रत्नकरण्ड-श्रावकाचार, 6-8।
4. डॉ. प्रेमसागर जैन : जैन भक्ति काव्य की पृष्ठभूमि (काशी, 1963 ई.), पृ. 169-171।

थीं। अतः इनमें से कुछ के एक से अधिक मस्तक बनाये गये, जो उनके विशिष्ट बुद्धि-बल और प्रभाव के द्योतक थे।

इसी प्रकार, एक ही देव या देवी के दो हाथ अपर्याप्त प्रतीत हुए क्योंकि उसे एक ही साथ अपने उपासकों को अभय और वर प्रदान करना था तथा अपने उपासक के शत्रुओं का हनन करना था, साथ ही उसे अपने विशिष्ट चिह्न के रूप में कुछ फल, फूल या आयुध आदि भी रखने होते थे। अतः चार<sup>1</sup>, छह<sup>2</sup>, दस<sup>3</sup>, बीस<sup>4</sup> और यहाँ तक कि 24<sup>5</sup> हाथों वाली देवियाँ भी कलाकार की छैनी से निर्मित होने लगीं। अब देवों और देवियों को पैदल दौड़ाना उनके भक्तों ने उचित न समझा। अतः किसी को गरुड़<sup>6</sup>, किसी को हंस<sup>7</sup>, किसी को महिष<sup>8</sup> और किसी को सिंह आदि वाहनों की योजना की गयी, एक-दो देवियाँ तो पुरुष को ही अपना वाहन बना बैठीं।<sup>9</sup>

**महत्त्व का आरोपण**—इन देवियों के महत्त्व और प्रबल शक्ति पर जन-साधारण का विश्वास प्राप्त करने के लिए भट्टारकों ने तीर्थकर की वीतरागता का पूरा-पूरा लाभ उठाया। शत्रु के चढ़ आने पर किसी राजा की या रोग-शोक आ पड़ने पर किसी दुखिया की मदद के लिए वीतराग तीर्थकर भला क्या दौड़ते, दौड़ते आये—कोई देव, कोई देवी। यह सब कल्पना की वस्तु न रहकर इतिहास-

1. दे.—चित्र सं. 95 और 101। मूर्ति विज्ञान सम्बन्धी कुछ ग्रन्थों में गेलिगी, वज्रशृंखला, नरदत्ता, मनोवेगा, ज्वालामालिनी, महाकाली, मानयो, गौरी, अनन्तमती, महामानसी, विजया, अपराजिता और पद्मावती आदि के चार हाथ वर्णित हैं।
2. प्रजावती, विराटा, मानसी और जया नामक देवियों के छह हाथ होने के उल्लेख अपराजितपृच्छा (पृ. 567-68) में प्राप्त होते हैं।
3. दे.—चित्र सं. 111। चक्रेश्वरी की एक दशभुजी मूर्ति मं.सं. 19 में भी सुरक्षित है। मथुरा संग्रहालय में भी चक्रेश्वरी की दशभुजी मूर्ति प्रदर्शित है। दे.—मूर्ति सं. डी 76।
4. दे.—चित्र सं. 99 और 100। प्रतिष्ठान्तिलक (पृ. 340-41) के अनुसार चक्रेश्वरी के बीस भुजाएँ होना चाहिए। देवगढ़ में इन दोनों मूर्तियों में वह विंशतिभुजी ही है।
5. कहीं-कहीं चौबीस भुजाओंवाली चक्रेश्वरी भी मिलती है।
6. अपराजितपृच्छा (पृ. 566) तथा प्रतिष्ठा सारोद्धार (अ. 3, श्लोक 156) के अनुसार चक्रेश्वरी का वाहन गरुड़ है। अपराजितपृच्छा (पृ. 568) के अनुसार महामानसी का वाहन भी गरुड़ है।
7. वज्रशृंखला तथा अनन्तमती नामक यक्षियों के वाहन हंस हैं। दे.—अपराजितपृच्छा, पृ. 567-68।
8. कालिका नामक सातवीं यक्षी का वाहन महिष है। दे.—अपराजितपृच्छा, पृ. 567।
9. विजया (18वीं यक्षी) (दे.अपरा., पृ. 568), तथा अम्बिका (22वीं यक्षी) (दे.—अपरा., पृ. 568 तथा प्रतिष्ठासारो., 3-176) का वाहन सिंह निरूपित किया गया है और भी दे.—चित्र सं. 103 में 105 तक। महामानसी नामक सोलहवीं विद्यादेवी का वाहन भी सिंह है। दे.—डॉ. दि.ना. शुक्ल : वास्तुशास्त्र, जि. दो., पृ. 275।

144 :: देवगढ़ की जैन कला : एक सांस्कृतिक अध्ययन

प्रसिद्ध तथ्य बन सके, इसके लिए इन देव-देवियों की अद्भुत और चमत्कारपूर्ण कहानियाँ रची गयीं, जिनमें से अधिकांश का सम्बन्ध तीर्थकरों के जीवन से जोड़ा गया।

फिर इन कहानियों के आधार पर सम्बद्ध देव-देवियों की मूर्तियों में तदनुरूप विशेषता लायी जाने लगी। उदाहरण के लिए—पद्मावती<sup>1</sup> के साथ सर्प दिखाया गया,<sup>2</sup> अम्बिका<sup>3</sup> के साथ दो बालक और आम का वृक्ष निर्मित हुआ<sup>4</sup> तथा

1. महाकाली नामक (आठवीं) विद्यादेवी ने अपने वाहन के रूप में पुरुष को स्वीकार किया।  
दे. —वास्तुशास्त्र, पृ. 275।

2. (अ) येषु कूर्कटसर्पणा त्रिफणकोत्तसा द्विषो यात पट्ट-  
पाशादिः सदसत्कृते च धृतशाखास्यादिदो अष्टका।  
तां शान्तामरुणां स्फुरच्छृणिसरोजन्माक्षव्यालाम्बरां,  
पद्मस्थां नवहस्तकप्रभुनतां यायञ्मि पद्मावतीम् ॥

—पं. आशाधर : प्र.सा.अ. 3, श्लोक 177।

(ब) पाशाद्यन्तितपट्टभुजारिजयदा ध्याता चतुर्विंशतिं।  
शाखास्यादियुतान्करास्तु दधती वा क्रूरशान्त्यर्थदा।  
शान्त्यै साङ्केशवारिजाक्षमणिसहानैश्चतुर्भिः करै  
युक्ता तां प्रयजामि पाश्वेविनतां पद्मस्थ पद्मावतीम् ॥

—नेमिचन्द्र देव : प्रतिष्ठा तिलक, परि. 7, पद्य 23।

(स) पाशांकुशो पद्मवरे रक्तवर्णां चतुर्भुजा।  
पद्मासना कृत्कटस्था ख्याता पद्मावतीति च।

—भुवनदेवाचार्य : अपराजितपृच्छा, पृ. 568।

3. दे - चित्र सं. 106 से 110 तक।

4. (अ) सर्व्यन्नाद्भयुपगप्रियङ्करसुतं प्रीत्यै करैर्विभ्रतीं  
दिव्याभ्रस्तवकं शुभंकरकरशिलप्टान्यहस्ताहुतिम्।  
सिंहं भर्तृचरंस्थितां हरितभामाभ्रदुमच्छायगां  
वन्दारु दशकामुकाच्छ्रवजिनं देवीमिहान्वां यजे ॥

—पं. आशाधर : प्र. सा., 3-166

(ब) धने यामकरयो प्रियंकरसुतं वामं करे मञ्जरी  
माभ्रस्यान्यकरे शुभंकरसुतो हस्तं प्रशस्ते हरी ॥  
आरते भर्तृचरे महाभ्रविटपिच्छायं श्रिताभीष्टदा।  
यासी तां नुतनेमिनाथपदयोर्नम्रामिहाप्रां यजे ॥

—नेमिचन्द्र देव : प्र. ति., 7-22।

(स) हरिद्वर्णा सिंहसस्था द्विभुजा च फलं वरम् ।  
पुत्रेणोपागम्यमाना च सुतोत्संगा तथाम्बिका ॥

— भुवनदेवाचार्य : अपरा., पृ. 368

मूर्तिकला :: 145

चक्रेश्वरी' के साथ चक्र दिखाये गये।<sup>12</sup> विभिन्न उद्देश्यों और प्रसंगों के अनुसार इनके आसन और मुद्राएँ भी विभिन्न प्रकार की स्वीकृत हुईं।

स्थापत्य के विकास के साथ मूर्तिकला का भी विकास होता गया। देव-देवियों का सम्बन्ध मन्दिर-स्थापत्य से ही रहा है। उन्हें उनके पद और विशेषता के आधार पर मन्दिर के विभिन्न भागों में स्थान दिया गया। उदाहरण के लिए—इन्द्र-इन्द्राणी को तीर्थकर के सिंहासन पर चमरधारी के रूप में, द्वारपालों को द्वारपक्षों पर तथा दिक्पालों को वेदी के या मन्दिर की बाह्य-भित्तियों के कोणों पर स्थान दिया गया।

देवगढ़ में यक्षियों की अपेक्षा यक्षों की मूर्तियाँ बहुत कम मिलीं और जो भी मिली हैं उनके साथ या समीप सम्बद्ध यक्षी की मूर्ति अवश्य मिलती है। जबकि स्वतन्त्र रूप में यक्षियों की मूर्तियाँ यहाँ सैकड़ों हैं। यह ध्यान देने की बात है कि एक ही तीर्थकर के यक्ष और यक्षी के परस्पर दाम्पत्य का उल्लेख कहीं नहीं मिलता। एक मात्र तेईसवें तीर्थकर के यक्ष धरणेन्द्र और यक्षी पद्मावती के दाम्पत्य के प्रमाण मिलते हैं। यही कारण है कि इन दोनों की मूर्तियाँ भी एक-दूसरे से सटाकर या पद्मावती को धरणेन्द्र की गोद में बैठाकर अंकित की गयी हैं।<sup>13</sup>

**अंकन में शास्त्र-विधि की उपेक्षा :** यह तथ्य विचारणीय है कि अन्य स्थानों की भाँति देवगढ़ का कलाकार भी देव-देवियों के अंकन में शास्त्रीय विधानों का कम और प्रचलित परम्पराओं तथा तात्कालिक परिस्थितियों का अधिक अनुगामी था। यही कारण है कि देवगढ़ या ऐसे ही अन्य अनेक स्थानों पर देव-देवियों की जो मूर्तियाँ मिलती हैं उनमें शास्त्रीय लक्षण शत-प्रतिशत कदाचित् ही घटित होते हैं।

1. (अ) धर्माभायकरद्वयालकुलिशा चक्राङ्कहस्ताष्टका  
सव्यासव्यशयल्लासत्फलवरा यन्मूर्तिरास्तेऽम्बुजे ।  
ताक्ष्ये वा सह चक्रयुग्मरुचकत्यागेश्चतुर्भिः करैः ।  
पञ्चैष्यासशतोन्नतप्रभुनतां चक्रेश्वरीं तां यजे । —पं. आशाधर : प्र.सा., 3-156
  - (ब) या देव्यूर्ध्वकरद्वयेन कुलिशां चक्राण्यधःस्थैः करैः  
अष्टाभिश्च फलं वरं करयुगेनाद्यन्म एवाधवा ॥  
धत्ते चक्रयुगं फलं वरमिमां दौर्भिश्चतुर्भिः श्रितां  
ताक्ष्ये तां पुरुतीर्थं पालनपरां चक्रेश्वरीं संयजे ॥ —नेमिचन्द्र देव : प्र.ति., 7-1
  - (स) पद्मपादा द्वादशभुजा चक्राण्यष्टौ द्विवज्रकम् ।  
मातुलिङ्गाभवे चैव तथा पद्मासनापि च ॥  
गरुडोपरिसंस्था च क्रेशी हेमवर्णिका । —भुवनदेवाचार्य : अपरा., पृ. 566 ।
  - (द) यतिवृषभः तिलोपपण्णत्ति, भाग एक, डॉ. ए.एन. उपाध्ये तथा डॉ. हीरालाल जैन द्वारा सम्पादित (शोलापुर, 1943), 4-927 ।
2. दे.—चित्र सं. 99, 100, 111 तथा 98 ।
  3. (अ) भावदेवसूरि : पार्श्वनाथ चरित्र, सर्ग 6, श्लोक 50-68 । (ब) वादिगजसूरि : पार्श्वनाथ चरित्र, सर्ग 12, श्लोक 42 ।

146 :: देवगढ़ की जैन कला : एक सांस्कृतिक अध्ययन



इतना ही नहीं, एक कलाकार के विचार और शैली दूसरे कलाकार से प्रायः भिन्न ही होते थे तभी तो हमें एक ही देवी कभी दो हाथों सहित, कभी चार हाथों सहित, कभी आठ या सोलह या बीस हाथों सहित भी मिलती है।<sup>1</sup>

कभी-कभी तो शास्त्र-विहित देवी और कलाकार द्वारा प्रणीत देवी में किसी भी प्रकार की समानता नहीं होती, परन्तु हमें फिर भी उन दोनों का समीकरण करना ही पड़ता है। उदाहरण के लिए—हम तेईसवें तीर्थंकर की यक्षी पद्मावती को लेंगे। प्रतिष्ठासरोद्धर<sup>2</sup> के अनुसार यह देवी कुर्कट (Cobra) सर्प पर आसीन, तीन फणों की अवलि सहित और छह हाथों में विभिन्न वस्तुएँ धारण किये हुए तथा अपराजितपृच्छ<sup>3</sup> के अनुसार उसे कुक्कुट (मुर्गा<sup>4</sup>) पर आसीन तथा चार हाथोंवाली होना चाहिए।<sup>5</sup> भैरव-पद्मावती-कल्प<sup>6</sup> के अनुसार अन्य विशेषताओं के साथ उसके तीन नेत्र और तीन फणों की अवलि होना चाहिए।

परन्तु इन सबके विपरीत देवगढ़, चोंदपुर और खजुराहो आदि अनेक स्थानों पर प्राप्त पद्मावती की मूर्तियों में फणावलि कुछ के मस्तक पर और कुछ के साथवाले तीर्थंकर के मस्तक पर मिलती है। प्रायः दो हाथ मिलते हैं, तीन नेत्र किसी के नहीं मिलते तथा सबसे अधिक विचित्र बात यह है कि पद्मावती की प्रायः सभी मूर्तियाँ एक बालक को लिये हुए अंकित की गयी हैं।<sup>7</sup> इससे भी विचित्र बात यह है कि एक तीर्थंकर की यक्षी को दूसरे तीर्थंकर के साथ भी दिखाया गया है।<sup>8</sup> कहने का तात्पर्य यह है कि उपलब्ध मूर्तियों का समीकरण केवल शास्त्रीय विधानों के आधार पर ही नहीं, प्रत्युत कलागत परम्पराओं और तात्कालिक परिस्थितियों के परिप्रेक्ष्य

1. उदाहरण के लिए चक्रेश्वरी के अपरा (पृ. 566) के अनुसार 12, प्र.सा. (3-156) के अनुसार 16 तथा प्रतिष्ठातिलक (7-1) के अनुसार 20 भूजाएँ होना चाहिए।
2. अध्याय तीन, श्लोक 177।
3. भवनदेवाचार्य की यह मूल कृति डॉ. वी.भद्राचार्य द्वारा सम्पादित होकर ओरियण्टल इंस्टीट्यूट, बड़ोदा से 1950 में प्रकाशित हुई है।
4. 'पद्मासना कुक्कुटस्था ख्याता पद्मावतीति च।' सूत्र 211, पद्य 37।
5. मुद्रित प्रति में कुक्कुट के स्थान पर 'कुर्कुट' या 'कर्कट' होना चाहिए था, जिसका अर्थ एक प्रकार का सर्प होता है। इस देवी का सम्बन्ध सर्प से ही है, कुक्कुट (मुर्गे) से नहीं।
6. (सूत्र से प्रकाशित), अध्याय दो, श्लोक ९ और 12।
7. कहीं-कहीं पद्मावती की मूर्तियाँ बिना बालक के भी प्राप्त हुई हैं। उदाहरणार्थ नेवर (त्रिपुरी) से प्राप्त पद्मावती की एक त्रिमूर्तिका, इसके ऊपर के दोनों हाथों में सनाल-कमल, निचला दायाँ अभय मुद्रा में और निचले बायें हाथ में कलश है। देखिए—सागर विश्वविद्यालय पुरातत्त्व-पत्रिका (सं. एक, 1967), फलक 20।
8. दे.-चित्र सं. 63, यह मं. सं. 12 महामण्डप में (बायें से दायें) तीसरी मूर्ति है, जिसमें तीर्थंकर तो फणावलि सहित हैं, किन्तु परिकर में नवग्रह तथा दोनों पाश्वर्कों में अभ्युक्ता यक्षी के आलेखन हैं। यहाँ और भी दे.-फणावलिधारी सुमतिनाथ (चित्र सं. 56)। तथा चित्र सं. 75 में आदिनाथ के साथ एक ओर अभ्युक्ता तथा दूसरी ओर चक्रेश्वरी का अंकन हुआ है।

में भी किया जाना चाहिए।

**वर्गीकरण :** अब हम उक्त पृष्ठभूमि के प्ररिप्रेक्ष्य में देवगढ़ की जैन देव-देवी मूर्तियों का अध्ययन प्रस्तुत करेंगे। सुविधा की दृष्टि से हम इन्हें पाँच वर्गों में विभक्त करेंगे<sup>1</sup>—

(1) यक्ष (शासनदेव)

(2) यक्षी (शासनदेवी)

(3) विद्या देवी

(4) प्रतीकात्मक देव-देवियाँ : लक्ष्मी, सरस्वती, नवग्रह, गंगा, यमुना, नागी और नाग।

(5) अन्य देव-देवियाँ : (अ) इन्द्र-इन्द्राणी, (व) उद्घोषक, (स) परिचारक-परिचारिकाएँ, (द) कीर्तिमुख, (इ) कीचक, (ई) द्वारपाल, (उ) क्षेत्रपाल।

### (अ) यक्ष (शासनदेव)

देवगढ़ में केवल तीन यक्षों की मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं : गोमुख, पार्श्व और धरणेन्द्र।

**गोमुख :** गोमुख एकमात्र ऐसा यक्ष है जिसका मुख मनुष्य के समान न होकर बैल के समान है।<sup>2</sup> इसकी कुछ मूर्तियाँ यहाँ प्राप्त हुई हैं, जिनमें से मं. सं. तीन, बारह (चित्र संख्या 98), उन्नीस और बाईस की उल्लेखनीय हैं। मन्दिर संख्या तीन

1. कूट मूर्तियों का समीकरण सम्भव नहीं था. क्योंकि कुछ बहुत अधिक खराबत हैं। और कुछ न तो प्रायः किसी शास्त्रीय विधान के अन्तर्गत आती हैं और न किसी परम्परा या परिस्थिति से उनका सम्बन्ध जुड़ता है।

2. (अ) सर्वेतरार्ध्वकरदीनपरश्वभाक्षसूत्रं तथाधरणाक्षकफलोत्पदानम्।

प्राग्गोमुखं वृषमुखं वृषगं वृषाक्षमयत्तं वजे कनकमं वृषचक्रःश्रीर्यम् ॥

—पं. आशाधर : प्र. सा., 3-129।

(व) वामान्योर्ध्वकरद्वयेन परशुं धत्तेःक्षमालामधः।

सव्यासव्यकरद्वयेन ललितं यो यौजपूरं यम्।

ते मूर्ध्ना कृतधर्मचक्रमनिशं गोवचक्रकं गोमुखम्।

श्री नामैवाजिनन्द्रपादकमला सोलालगालापये ॥

—नमिचन्द्र देव : प्र. ति., 7-1, पृ. 331।

(स) वराक्षसूत्रे पाशश्च मातुलिङ्गं चतुर्भुजः। श्वेतगणो वृषमुखो वृषभासनसंस्थितः ॥

—भुवनदेवाचार्य : अपरा, पृ. 569।

(इ) चतुर्भुजःसुवर्णाभिः गोमुखो वृषपादनः। हस्तेन परशुं धत्ते वीजपूराक्षसूत्रकम् ॥

वरदानपरः सम्यक् धर्मचक्रं च मस्तके।

—यो.सो. भद्राचार्य : जन आठवनाशार्क्य (लाहौर, 1939), पृ. 94।

की गोमुख यक्ष की मूर्ति, आदिनाथ की जिस मूर्ति के साथ<sup>1</sup> उत्कीर्ण की गयी है, वह इतिहास और कला की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। गोमुख-मूर्ति की आनुपातिक लघुता ने इस सम्पूर्ण मूर्ति-फलक को गुप्तोत्तर काल का सिद्ध करने में बड़ा बल दिया है। मं. सं. 12 की उपर्युक्त गोमुख-मूर्ति (चित्र संख्या 98) 1 फुट 1 इंच ऊँची और 9 इंच चौड़ी है। उसका मुख गौ (बैल) के समान और शेष शरीर मनुष्य के समान है। वह अपने चार हाथों में माला और कलश आदि लिये है। पायल, कटिवन्ध, हार, शीशमुकुट आदि आभूषण तथा यज्ञोपवीत अत्यन्त प्रभावोत्पादक हैं। खजुराहो में इस यक्ष की अनेक मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं, जिनका आकार-प्रकार प्रायः ऐसा ही है।

**पार्श्व** : बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ के यक्ष पार्श्व,<sup>2</sup> का अंकन देवगढ़ में बहुत हुआ है। उसकी कुछ मूर्तियाँ मन्दिर संख्या 12, 13, 15 और 23 में देखी जा सकती हैं। जैन मूर्ति-शास्त्र के ग्रन्थों में इसका नामान्तर गोमेध भी प्राप्त होता है।<sup>3</sup>

**धरणेन्द्र** : तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ के यक्ष धरण या धरणेन्द्र<sup>4</sup> का आलेखन भी यहाँ प्रचुर मात्रा में हुआ है। इसकी मूर्तियाँ मं. सं. 24, 28 और अनेक स्तम्भों के अतिरिक्त स्वतन्त्र रूप से (पद्मावती के साथ) शताधिक निर्मित हुईं।<sup>5</sup>

पद्मावती की गोद में दिखाये गये बालक के अतिरिक्त, कभी-कभी इसकी गोद में भी एक बालक निदर्शित किया गया है।<sup>6</sup> कभी-कभी इसके मस्तक पर फणावलि

1. दे.—चित्र सं. 59।

2. (अ) श्यामस्त्रिवक्रो दृघर्ण कुठारं दण्डं फलं वज्रदरो च विभ्रत् ।

गोमेदयक्षः क्षितशङ्खलक्ष्मा पूजां नृवाहोऽर्हतु पुष्पयानः ॥

—पं. आशाधर, प्र.सा., 3-150।

(ब) घनं कुठारं च विभर्ति दण्डं सव्यैः फलेर्वज्रवरौ च योऽन्यैः ।

हस्तेस्तमाराधितनेमिनाथं गोमेधयक्षं प्रयजामि दक्षम् ॥

—नेमिचन्द्रदेव : प्र. ति., पृ. 337-38।

(स) पार्श्वो धनुर्बाणमृण्डि मुद्गरश्च फलं वरः ।

सर्गरूपः श्यामवर्णः कर्तव्यः शान्तिमिच्छता ॥

—भुवनदेवाचार्य : अपरा., पृ. 570।

3. प्रतिष्ठासारीद्धार (3-150) तथा प्रतिष्ठातिलक (पृ. 337-38) पर।

4. धरण या धरणेन्द्र का लक्षण इस प्रकार प्राप्त होता है :

(अ) ऊर्ध्वद्विहस्तधृतवासुकिरुद्भटाद्यः सव्यान्यपाणिफलपाशवरप्रणन्ता ।

श्रीनागराजककुदं धरणो धूनीलः कूर्मशितो भजतु वासुकिमोलिरिज्याम् ॥

—पं. आशाधर : प्र.सा., 3-151।

(ब) सव्येतराभ्यामुपरिस्थिताभ्यां यो वासुकीपाशवरो पराभ्याम् ॥ घत्ते तमेन फणिमोलिचूलं पार्श्वेशयक्षं धरणं धिनोमि ॥

—नेमिचन्द्रदेव : प्र. ति., पृ. 338।

5. देखिए—चित्र सं. 107 से 110 तक।

6. दे.—मं.सं. 24 में जड़ी मूर्तियाँ तथा चित्र सं. 107 से 110 तक।

भी अंकित की गयी है।<sup>1</sup>

पद्मावती के साथ किये गये इसके अंकन विशेष रूप से विचारणीय हैं।<sup>2</sup>

## (ब) यक्षी (शासनदेवी)

देवगढ़ के कलाकार ने तीर्थंकर-मूर्तियों के पश्चात् सर्वाधिक मूर्तियाँ शासन देवियों की ही निर्मित कीं। शासन देवियों में भी चक्रेश्वरी, अम्बिका और पद्मावती के अतिरिक्त किसी अन्य की मूर्तियाँ वहाँ नहीं मिली हैं। ये मूर्तियाँ तीर्थंकर-मूर्तियों के साथ कम और स्वतन्त्र रूप से अधिक निर्मित की गयी हैं। कुछ को प्रवेश-द्वारों पर और मानस्तम्भों की देवकुलिकाओं में भी उल्कीर्ण किया गया है। सभी एक ही युग की देन नहीं हैं। सभी में, अपने-अपने वर्ग में भी लाक्षणिक समानता नहीं है। प्रायः सभी बहुमूल्य दस्त्रों और रत्नाभूषणों से अलंकृत हैं। अधिकांश को ललितासन या राजलीलासन में आसीन या कुछ को खड़ी हुई दिखाया गया है।

वे वैठी हों या खड़ी, उनके अंग-प्रत्यंग संयम की सीमा नहीं तोड़ सके हैं। खजुराहो या अन्य स्थानों की भाँति उनके शरीर पर यौवन का उभार तो है, पर उन्माद नहीं है। उनके दर्शन से हमारा मन विकारों से नहीं, बल्कि भक्ति से भर उठता है। अपने पति की गोद में वैठी रहकर भी देवी अपने साथ बैठे पुत्र के प्रति जिस वात्सल्य और मातृत्व की भावना को अभिव्यक्त करती है, वह अलौकिक रूप में न सही, पर लौकिक रूप में समाज को निश्चित ही प्राणवान् बनाती है।

इनमें से कुछ मूर्तियों का विस्तृत अध्ययन करेंगे।

**चक्रेश्वरी :** विभिन्न मन्दिरों और स्तम्भों के अतिरिक्त, चक्रेश्वरी<sup>3</sup> की दो मूर्तियाँ स्थानीय साहू जैन संग्रहालय में भी प्रदर्शित हैं,<sup>4</sup> दोनों विंशतिभुजी हैं।<sup>5</sup> दोनों ही मूर्तियाँ (चित्र 99 और 100) साजसज्जा और कला की दृष्टि से अत्यन्त प्रशंसनीय बन पड़ी हैं। दोनों के आसनों पर तिथिरहित लेख हैं। कलागत विशेषताओं और लेखों की लिपि के आधार पर ये दोनों मूर्तियाँ नवमी-दशमी शताब्दी की प्रतीत होती

1. दे.—जैन चहारदीवारी तथा मं.सं. 24 आदि में जड़ी हुई मूर्तियाँ तथा चित्र सं. 109, 110।

2. दे.—आगे पद्मावती का विवरण, पृ. 189 से 193 तक।

3. दे.—चित्र सं. 99 और 100।

4. मं.सं. 2 के सामने (पूर्व में) ध्वंसावशेषों में भी विंशतिभुजी चक्रेश्वरी की एक शिरहीन किन्तु ऐसी ही मनोज्ञ मूर्ति पड़ी है।

5. म. प्र. के देवास जिले के गन्धावल नामक स्थान में भी विंशतिभुजी गरुडासना चक्रेश्वरी की एक ऐसी ही मूर्ति उपलब्ध है।

हैं।' दोनों का वाहन गरुड़ और परिकर विस्तृत है। दोनों के ऊपर तीर्थकर की पर्यासन लघु आकृति अंकित है। दोनों के गरुड़ों की सशक्त उड़ान और ओजस्वी आकृति मानों सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को क्षण-भर में ही नाप लेने की ठान बैठी है।

स्वयं देवियाँ, एक ओर सौन्दर्य और गरिमा की साक्षात् मूर्ति बनी हैं, दूसरी ओर वे प्रचण्ड तेज और विश्व-नियामक शक्ति की अवतार प्रतीत होती हैं। उनके हाथों के गतिमान् चक्र मानों सम्पूर्ण विश्व से पापियों का दमन करके ही चैन लेंगे जबकि अक्षमाला के साथ अभयमुद्रा में दिखनेवाले एक देवी के हाथ मानों समग्र चराचर विश्व के सन्ताप और दारिद्र्य को क्षण-भर में ही शान्त कर देंगे।

**चक्रेश्वरी की अनुपम मूर्ति** : देवगढ़ में चक्रेश्वरी का अंकन अनेक स्थानों पर हुआ है पर वारहवें मन्दिर के अन्तराल की बायीं मढ़िया से लाकर साहू जैन संग्रहालय में स्थापित की गयी मूर्ति<sup>2</sup> में जो अलौकिक भाव-भंगिमा समाविष्ट है वह देवगढ़ में ही नहीं, कदाचित् सम्पूर्ण भारतीय कला में दुर्लभ है। चार फुट ऊँचे एवं दो फुट छह इंच चौड़े शिलाफलक पर उत्कीर्ण दो फुट ग्यारह इंच ऊँची और एक फुट ग्यारह इंच चौड़ी यह गरुड़वाहिनी देवी अपने एक हाथ में अक्षमाला, एक में शंख और सात में चक्र धारण किये हैं। उसके शेष 11 हाथ खण्डित हो गये हैं। गरुड़ की आकृति पंखधारी मनुष्य के समान है। उसका श्मश्रुयुक्त तेजस्वी मुखमण्डल, उसकी सशक्त उड़ान का परिणाम प्रतीत होता है। बायें हाथ और मस्तक द्वारा वह देवी को धारण कर रहा है। विभिन्न आभूषणों के अतिरिक्त उसका यज्ञोपवीत और सेनापति की-सी टोपी उल्लेखनीय हैं।

देवी के परिकर में ऊपर दायें लक्ष्मी और बायें सरस्वती तथा मालाधारी विद्याधर-युगल उल्लेखनीय हैं। संगीतमण्डली द्वारा पूजित होते हुए तीन तीर्थकर इस यक्षी के मस्तक पर विराजमान हैं। चक्रेश्वरी स्वयं भक्ति की अवतार प्रतीत होती है। उसके आभूषण और वेशभूषा के कलात्मक अंकन दर्शक की दृष्टि को आकृष्ट किये बिना नहीं रहते।

**चक्रेश्वरी की सुन्दर मूर्ति** : साहू जैन संग्रहालय में ही स्थित एक अन्य शिलाफलक पर अंकित चक्रेश्वरी भी कला का श्रेष्ठ निदर्शन है। 4 फुट 4 इंच ऊँचे और 2 फुट 7 इंच चौड़े शिलाफलक पर उत्कीर्ण इस गरुड़वाहिनी यक्षी<sup>3</sup> के सभी (बीस) हाथ सुरक्षित हैं, जिनमें चक्र, खड्ग, मुद्गर, त्रिशूल, धनुष आदि विविध

1. इनकी तुलना मथुरा—पुरातत्त्व-संग्रहालय में प्रदर्शित चक्रेश्वरी की दशभुजी मूर्ति (सं. डी. 6) (9वीं-10वीं शती) से की जा सकती है। और भी द्रष्टव्य—नीलकण्ठ पुरुषोत्तम जोशी : मथुरा की मूर्तिकला (मथुरा, 1965), पृ. 34 तथा आकृति 93।

2. दे.—चित्र सं. 99।

3. दे.—चित्र सं. 100।

आयुध दिखाये गये हैं। परिकर में दोनों ओर एक-एक चँवरधारिणी परिचारिका अंकित है। मस्तक पर पद्मासन तीर्थंकर को मालाधारी विद्याधरों द्वारा अर्चित दिखाया गया है। ऊपर के दोनों कोणों पर एक-एक कायोत्सर्गासन तीर्थंकर मूर्ति आलिखित हैं।

**मं. सं. 19 की दशभुजी चक्रेश्वरी :** मन्दिर संख्या 19 में स्थित चक्रेश्वरी मूर्ति का भी उल्लेख यहाँ आवश्यक है। इस दशभुजी देवी के सभी हाथ खण्डित हो चुके हैं। उसका वाहन गरुड़ अपनी विशिष्ट मुखाकृति के कारण हमारा ध्यान आकृष्ट करता है। परिकर आदि की दृष्टि से यह ऊपर वर्णित दोनों मूर्तियों से समानता रखती है।

**मानस्तम्भ पर चक्रेश्वरी :** स्तम्भ संख्या 11 (चित्र 45) पर पूर्वी ओर दशभुजी चक्रेश्वरी का मनोरम अंकन है (दे. चित्र 111)। इसके गरुड़ की सशक्त उड़ान दर्शनीय है।

**अम्बिका :** अम्बिका को हम मातृत्व की देवी कहें तो अत्युक्ति न होगी। बाईसवें तीर्थंकर नेमिनाथ की शासन-देवी यह यक्षी कदाचित् देवगढ़ की भी अधिष्ठान्त्रु देवी रही है, तभी तो उसकी मूर्तियों की संख्या यहाँ कई सौ है<sup>1</sup> और तभी तो वह केवल नेमिनाथ के साथ न दिखायी जाकर ऋषभनाथ<sup>2</sup> और पार्श्वनाथ<sup>3</sup> के साथ भी अंकित की गयी है।<sup>4</sup>

**मं. सं. 12 की अम्बिका मूर्तियाँ :** मन्दिर संख्या 12 के गर्भगृह में प्रवेश द्वार के दायें सात फुट ऊँचे और तीन फुट दो इंच चौड़े शिलाफलक पर निर्मित पाँच फुट सात इंच ऊँची तथा दो फुट नौ इंच चौड़ी अम्बिका की मूर्ति<sup>5</sup> अनेक दृष्टियों से उल्लेखनीय है। इसका वाहन सिंह अपेक्षाकृत विशाल, सशक्त और स्वाभाविक बन पड़ा है। पार्श्व में खड़ा उसका एक बालक वस्त्राभूषणों से भव्यता के साथ अलंकृत दिखाया गया है। गोद में स्थित दूसरा बालक एक हाथ में आम्रफल धारण किये है और दूसरे से अपनी माँ के कर्णाभरण से खेल रहा है। यक्षी के आभूषण और वस्त्र आदि तो कलागत समृद्धि के द्योतक हैं ही, उसकी क्षीण कटि, भावपूर्ण मुद्रा आदि भी अत्यन्त प्रभावोत्पादक है। पृष्ठभाग में आम्रगुच्छक भी सूक्ष्मता के साथ आलिखित है, जिसके ऊपर पद्मासन में एक तीर्थंकर (लघु आकृति) निर्मित है। इस

1. कुछ उल्लेखनीय अम्बिका मूर्तियों के लिए दे.—चित्र सं. 103 से 105 तक तथा 109।

2. दे.—मं.सं. 4 की भीतरी पश्चिमी दीवार में जड़ी हुई एवं चित्र सं. 75।

3. दे. मं.सं. 12 के महामण्डप में (दायें से दायें) तीसरी मूर्ति तथा चित्र सं. 63।

4. ऋषभनाथ के साथ अम्बिका का अंकन कम के कम छठी शती में भी होता था। अकोटा में प्राप्त मूर्ति-समूह में से एक कांस्य-प्रतिमा ऐसी ही है। विशेष विवरण के लिए द्रष्टव्य—डॉ.उ.प्रे. शाह : स्टडीज इन जैन आर्ट (वनारस, 1955), पृ. 19।

5. दे.—चित्र सं. 105।

लघु-तीर्थकर आकृति के दोनों ओर मालाधारी विद्याधरों की सशक्त उड़ान भी दर्शनीय है।

इस मूर्ति के अतिरिक्त, इसी गर्भगृह में इस यक्षी की तीन मूर्तियाँ और भी हैं। कला की दृष्टि से ये भी प्रथम श्रेणी में रखी जाएँगी। इन तीनों की टोपियाँ, उक्त अम्बिका की टोपी से, जो सेनापति की टोपी से मिलती-जुलती है, भिन्न हैं। इन्होंने उक्त यक्षी के समान चूड़ियाँ न पहनकर कंकण पहन रखे हैं। इनके अधोवस्त्र (साड़ियाँ) विशेष आकर्षण की वस्तु हैं।

**अम्बिका यक्षी की अन्य मूर्तियाँ :** इस यक्षी की सैकड़ों मूर्तियाँ जैन चहारदीवारी,<sup>1</sup> विभिन्न मन्दिरों में तथा उनके द्वारपक्षों पर और स्तम्भों आदि पर देखी जा सकती हैं।<sup>2</sup> इसकी बहुत-सी मूर्तियाँ द्वितीय कोट के प्रवेश-द्वार से मन्दिरों की ओर जानेवाले मार्ग के दोनों ओर प्रस्तर-निर्मित छोटे-छोटे चबूतरों पर भी दर्शनीय हैं। कुछ मूर्तियाँ साहू जैन संग्रहालय में प्रदर्शित हैं।

**पद्मावती :** देवगढ़ के कलाकार ने, यक्षियों में अम्बिका के पश्चात् पद्मावती की ही मूर्तियाँ सर्वाधिक उत्कीर्ण की हैं। यहाँ उनकी भी संख्या कई सौ तक पहुँच गयी है।<sup>3</sup> ये सभी मूर्तियाँ दो भागों में रखी जा सकती हैं : एक वे जिनमें केवल पद्मावती गोद में एक बालक को लिये हुए बैठी होती है<sup>4</sup> और दूसरी वे जिनमें वह अपने पति के वाम-पार्श्व में या गोद में बैठी होती है<sup>5</sup> तथा उन दोनों की गोद में या उनमें से किसी एक की गोद में एक-एक बालक होता है। कभी-कभी इन दोनों<sup>6</sup> प्रकार की मूर्तियों में वे खड़े भी दिखाये जाते हैं।

जैसा ऊपर कहा जा चुका है, कलाकार ने धरणेन्द्र-पद्मावती के मूर्त्यकन में अत्यधिक स्वेच्छाचारिता से काम लिया है। उसने धरणेन्द्र-पद्मावती के शास्त्रीय स्वरूप को पूर्ण रूप से तिलांजलि देकर उसका एक सर्वथा नवीन परन्तु अत्यन्त व्यावहारिक रूप गढ़ डाला है। धरणेन्द्र-पद्मावती के इस रूप-परिवर्तन ने अनेक कला-मर्मज्ञों और इतिहासकारों को भी भ्रम में डाल दिया है। उन्होंने इसके समीकरण में कुछ विचित्र कल्पनाओं का आश्रय लिया है। श्री दयाराम साहनी ने इन्हें कल्पद्रुम के नीचे स्थित सुषमा-सुषमा काल (अवसर्पिणी काल का प्रथम भाग) का सुखी युगल माना है, पर यह निरी कल्पना है क्योंकि इस प्रकार की मूर्तियाँ बनाने का न तो कोई विधान है और न परम्परा।

1. कुछ उल्लेखनीय अम्बिका मूर्तियों के लिए देखिए—चित्र सं. 103-105 तथा 109।
2. एक सुन्दर अम्बिका मूर्ति के लिए दे.—चित्र सं. 104।
3. कुछ उल्लेखनीय पद्मावती-मूर्तियों के लिए देखिए—चित्र सं 106 से 110 तक।
4. दे.—चित्र सं. 106।
5. दे.—चित्र सं. 107 से 110 तक।
6. एनुअल प्रो.रि., भाग दो (लाहौर, 1918 ई.), पृ. 9।

श्री साहनी का ध्यान उस वृक्ष के शिखर पर अंकित तीर्थकर-मूर्ति की ओर गया प्रतीत नहीं होता, अन्यथा उसके रहते हुए एक साधारण वृक्ष को वे कल्पवृक्ष की संज्ञा न देते। डॉ. स्टैला क्रेमरिश ने, चाँदपुर (ललितपुर) में उपलब्ध एक ऐसे ही युगल को गोमेध और अम्बिका माना है।<sup>1</sup> उन्होंने देव और देवी दोनों की गोद में एक-एक बालक को देखकर यह समीकरण कर दिया है। परन्तु यह विचारणीय है कि अम्बिका के दो बालक (कभी-कभी एक ही) केवल उसी के साथ दिखाये जाते हैं और वह स्वयं किसी अन्य देव के साथ बैठी हुई कभी नहीं दिखायी जाती। इसका कारण यह है कि तेईसवें तीर्थकर के यक्ष-यक्षी धरणेन्द्र-पद्मावती परस्पर पति-पत्नी भी थे, जबकि अम्बिका और गोमेध (पाश्र्व) नहीं। अतः यहाँ एक सम्मान्य और उत्तरदायित्वपूर्ण देवी को, विशेष रूप से साक्षात् तीर्थकर के चरणों में (वृक्ष पर तीर्थकर की तीन मूर्तियाँ) एक पराये देव के साथ सटकर बैठा हुआ दिखाया जाना भारतीय संस्कृति और परम्परा के सर्वथा विरुद्ध है।

डॉ. उमाकान्त प्रेमानन्द शाह के अनुसार यह युगल-मूर्ति तीर्थकर के माता-पिता की होनी चाहिए।<sup>2</sup> यह कल्पना उस समय हास्यास्पद लगती है जब पति और पत्नी दोनों की गोद में एक-एक बालक होता है जबकि तीर्थकर अपने माता-पिता की इकलौती सन्तान होते हैं। डॉ. क्लॉज ब्रून ने इस युगल का सम्बन्ध संकोच से अम्बिका और गोमेध से जोड़ा है,<sup>3</sup> पर वे इसके लिए कोई तर्क नहीं दे सके हैं। डॉ. उर्मिला अग्रवाल ने भी कदाचित् डॉ. स्टैला क्रेमरिश के अनुकरण पर इस युगल को गोमेध-युगल कहा है।<sup>4</sup>

डॉ. हीरालाल जैन ने नैगमेश की मूर्तियों के प्रसंग में देवगढ़ की इस युगल-मूर्ति पर भी उल्लेखनीय विचार दिया है।<sup>5</sup> किन्तु नैगमेश से इसका सम्बन्ध स्थापित करना सम्भव नहीं, क्योंकि उसकी कल्पना केवल श्वेताम्बर जैन साहित्य में है। और देवगढ़ में केवल दिगम्बर जैन धर्म का प्रचार रहा है।

वास्तव में ये मूर्तियाँ<sup>6</sup> धरणेन्द्र-पद्मावती की ही हैं। क्योंकि—(1) देवगढ़, खजुराहो और चाँदपुर आदि स्थानों पर प्राप्त ऐसी अनेक मूर्तियों पर सर्प की फणावलि द्रष्टव्य है, (2) इनके पृष्ठवर्ती वृक्ष के शिखर पर अंकित तीर्थकर के मस्तक पर भी प्रायः फणावलि देखी गयी है, (3) गोद में स्थित बालक से देवी की पुत्रदायिनी

1. दी हिन्दू टेम्पल, जिल्द दो (कलकत्ता, 1946), पृ. 397, फलक 54।
2. स्टडीज़ इन जैन आर्ट (बनारस, 1955), पृ. 21, फलक 17, आकृति 45-46।
3. सन् 1956 के देवगढ़-मेला में पढ़े गये एक भाषण से, (पृ. 5)।
4. खजुराहो स्कल्पचर्स एण्ड देयर सिग्नीफिकंस (दिल्ली, 1964), पृ. 110, आकृति 82।
5. भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान (भोपाल, 1962), पृ. 361, आकृति 33-34।
6. ऐसी कुछ मूर्तियों के लिए द्रष्टव्य चित्र सं. 106 से 110 तक।



शक्ति का बोध होता है, भैरव-पद्मावती-कल्प में उसे वन्ध्या को भी पुत्र देनेवाली कहा गया है।<sup>1</sup>

**धरणेन्द्र और पद्मावती की मूर्तियाँ :** धरणेन्द्र की मूर्तियाँ अधिकांशतः पद्मावती के साथ ही प्रदर्शित की गयी हैं। यह राजलीलासन में आसीन होता है और उसकी बायीं गोद में पद्मावती आसीन होती है। इसका बायाँ हाथ कभी-कभी पद्मावती के दायें या बायें कन्धे पर स्थित रहता है। दोनों के एक-एक हाथ में नारिकेल या मातुलिंग होता है और कभी-कभी दोनों की या केवल पद्मावती की गोद में एक बालक होता है।

**मं. सं. 24 में जड़ी मूर्तियाँ :** (धरणेन्द्र-पद्मावती) : मं. सं. 24 की पश्चिमी बहिर्भित्ति में जड़े हुए एक शिलाफलक पर यह युगल<sup>2</sup> अत्यन्त भव्यता से आलिखित है। दोनों की परस्पर स्नेहसिक्त किन्तु इष्टदेव के प्रति समर्पण की मुद्रा और भव्य वेश-भूषा दर्शनीय बन पड़ी है। दोनों की गोद में बालक और दायें हाथ में नारिकेल है। पृष्ठभाग में आलिखित वृक्ष पर फणावलि-सहित पार्श्वनाथ का अंकन है। इसी मन्दिर के गर्भगृह में स्थित इस युगल की एक अन्य मूर्ति<sup>3</sup> भी इसलिए उल्लेखनीय है कि धरणेन्द्र और पद्मावती दोनों की गोद में आसीन बालक अधोवस्त्र (धोती) पहने हैं। इस युगल की इन दोनों मूर्तियों को देवगढ़ की ऐसी शताधिक मूर्तियों का प्रतिनिधि माना जा सकता है।<sup>4</sup>

**पद्मावती की स्वतन्त्र मूर्ति :** पद्मावती की स्वतन्त्र (धरणेन्द्र के बिना) मूर्तियाँ भी देवगढ़ में बहुत हैं। साहू जैन संग्रहालय में स्थित उसकी एक मूर्ति<sup>5</sup> 2 फुट 5 इंच ऊँचे और 2 फुट 2 इंच चौड़े शिलाफलक<sup>6</sup> पर अंकित है। उसका वाहन सिंह और गोद में बैठा बालक सदा की भाँति उपस्थित हैं। वह ललितासन में दर्शित है। वह बायें हाथ से बालक को सँभाले है और दायें हाथ में वज्र धारण किये है। भाव-भंगिमा और

1. मल्लिषेण : पद्मावती दण्डक : के.बी. अभ्यंकर सम्पादित (अहमदाबाद, 1937), परिशिष्ट 5, पृ. 36।

लक्ष्मी-सौभाग्यकरा जगत्सुखकरा वन्ध्यापि पुत्रायिता,  
नानारोगविनाशिनी अघहरा (त्रि) कृपाजो रक्षिका।  
रङ्गानां धनदायिका सुफल्ल वाञ्छार्थि-चिन्तामणिः,  
त्रैलोक्याधिपतिर्भद्रार्णवत्राता पद्मावती पानुः वः ॥12॥

2. दे.—चित्र सं. 110।

3. दे.—चित्र सं. 107।

4. इस युगल की अन्य आकर्षक मूर्तियों के लिए द्रष्टव्य—चित्र सं. 108 तथा 109।

5. दे.—चित्र सं. 106।

6. जैसा कि उल्लेख किया जा चुका है, यह प्रतिमा मं.सं. 12 के अन्तराल की दायीं मढ़िया से यहाँ स्थानान्तरित की गयी है।

वेशभूषा उच्चकोटि की है। आसन पर दोनों ओर एक-एक स्त्री-आकृति, उसके ऊपर एक-एक चमरधारी पुरुषाकृति और उसके भी ऊपर उड़ान भरता हुआ मालाधारी विद्याधर-युगल आलिखित हैं। इन सबके ऊपर, मध्य में पार्श्वनाथ और उनके दोनों ओर एक-एक कायोत्सर्गासन और एक-एक पद्मासन तीर्थकर मूर्तियाँ अंकित हैं। पद्मावती की यह मूर्ति इस सम्पूर्ण संयोजना के परिप्रेक्ष्य में इतनी भव्य बन पड़ी है कि उसे भारतीय कला के कतिपय निदर्शनों में से एक मानना होगा।

**चौबीस यक्षियों की मूर्तियाँ :** इन सबके अतिरिक्त देवगढ़ में मं. सं. 12 की बाह्य भित्तियों पर यक्षी मूर्तियों के अलग-अलग 24 शिलाफलक<sup>1</sup> जड़े हुए हैं। प्रत्येक शिलाफलक पर ऊपर तीर्थकर की पद्मासन मूर्ति और नीचे यक्षी की खड़ी मूर्ति अंकित है। कुछ के वाहन भी प्रदर्शित हैं, जिनपर देवी को आसीन दिखाया गया है या जो देवी के निकट ही कहीं आलिखित हैं। यक्षी के नीचे उसका नाम और कभी-कभी तीर्थकर के नीचे उसका नाम उत्कीर्ण है। इनमें से कुछ अस्पष्ट हो जाने से पढ़े नहीं जा सकते, और जो पढ़े जा सकते हैं, वे क्रमशः अग्रलिखित हैं—

1. चक्रेश्वरी<sup>2</sup>, 4. भगवती सरस्वती, 6. सुलोचना<sup>3</sup>, 8. सुमालिनी<sup>4</sup>,
9. बहुरूपिणी, 10. श्रीयदेवी, 11. वाहिनी, 12. अभोगरोहिणी, 13. सुलक्षणा,
14. अनन्तवीर्या, 15. सुरक्षिता, 16. श्रीयदेवी (अनन्तवीर्या), (मयूरवाहिनी),
17. अरकरमी, 18. तारादेवी, 19. भीमदेवी, 20. (नामरहित), 21. (नामरहित),
22. अम्बिका, 23. पद्मावती 24. सिद्धिदायिका।

**इन यक्षी मूर्तियों का महत्त्व :** यक्षियों की यह सूची कई कारणों से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। प्रथम कारण यह है कि यक्षियों की मूर्तियों के साथ उनके नाम भी उत्कीर्ण मिलनेवाले केवल दो स्थानों में से यह एक है, दूसरा स्थान सतना जिले के पतौरा ग्राम के निकट पतियानदाई-मन्दिर है,<sup>5</sup> जिसमें प्राप्त हुई अम्बिका-मूर्ति<sup>6</sup> के

1. बहिर्भित्तियों पर इसी ढंग से जड़ी हुई मूर्तियों वाले मन्दिरों में 'पट्टदकल' के 'संगमेश्वर मन्दिर' और 'मल्लिकार्जुन-मन्दिर' उल्लेखनीय हैं। देखिए—लुइस फ्रेडरिक : इण्डियन टेम्पल्स एण्ड स्कल्पचर, पृ. 213 और 215, आकृति 193 और 199। इसी परम्परा में और भी देखिए—'पट्टदकल' में ही 'विरूपाक्ष' के दो मन्दिर, जिनका निर्माण क्रमशः 680 ई. और 740 ई. में हुआ था। द्रष्टव्य—आर्क्योलॉजी इन इण्डिया (दिल्ली, 1950), फलक 29 तथा 30।
2. ये अंक तीर्थकरों के क्रमांक हैं।
3. दे.—चित्र सं. 101।
4. दे.—चित्र सं. 102।
5. इस मन्दिर और उसमें प्राप्त यक्षी मूर्तियों के विस्तृत विवरण के लिए देखिए—पं. गोपीलाल अमर : पतियानदाई : एक गुप्तकालीन जैनमन्दिर, अनेकान्त, वर्ष 19, किरण 6, पृ. 340-46।
6. यह मूर्ति अब प्रयाग-संग्रहालय में प्रदर्शित है।

156 :: देवगढ़ की जैन कला : एक सांस्कृतिक अध्ययन

साथ अंकित यक्षी मूर्तियों के नाम भी उत्कीर्ण हैं। इन नामों से यक्षियों की विभिन्न ग्रन्थों से प्राप्त नामावली से तुलना करने पर कई तथ्य सामने आते हैं।

यह नामावली प्रस्तुत करनेवाले प्रतिनिधि ग्रन्थ तिलोयपण्णत्ति, प्रतिष्ठासारोद्धार, प्रतिष्ठातिलक और अपराजितपुच्छा आदि ग्रन्थों की तथा यहाँ उत्कीर्ण नामावली में यक्षियों के नामों, क्रम, वाहनों, हाथों की संख्या और आयुधों आदि में अत्यधिक विषमता है। इस विषमता को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि इन मूर्तियों के कलाकार के सामने कोई ऐसा ग्रन्थ रहा होगा, जो अब अप्राप्त है। दूसरी ओर यह सन्देह भी होता है कि उक्त कलाकार पर्याप्त शिक्षित और सावधान नहीं था, क्योंकि उसने कुछ नामों को अशुद्ध उत्कीर्ण किया है और कुछ को दो-दो बार उत्कीर्ण कर दिया है। नामों के अक्रम से पाये जाने का एक कारण यह भी हो सकता है कि कलाकार द्वारा तैयार किये जाकर एकत्र रखे हुए मूर्ति-फलकों को स्थापति ने ही अक्रम से जड़ दिया हो।

### (स) विद्या-देवियाँ

देवगढ़ के कलाकार ने विद्यादेवियों<sup>1</sup> के अंकन में भी पर्याप्त अभिरुचि दिखायी है। महाकाली नामक आठवीं विद्यादेवी को तो उसने तीन बार अंकित किया है। मं. सं. पाँच के पूर्वी द्वार के ऊपर दायें<sup>2</sup> इस महाकाली<sup>3</sup> नामक आठवीं, नरवाहिनी

1. (अ) विद्या प्रियाः षोडश दृग्विशुद्धि-पुरोगमाहंत्वकृदर्थरागाः।

यथायथं साधु निवेश्य विद्या-देवीर्यजे दुर्जययोश्चतुष्काः ॥

—पं. आशाधर : प्र.सा., 3-32।

(व) स्फुरितकरचतुष्कास्तीर्थकृन्नामपुण्यावहविदितविशिष्टद्वयष्टसद्भावनात्काः।

प्रकटितजिनमार्गाः संहतैकान्तमार्गाः, विबुध-विनुत-विद्यादेवताः व्याहरामः ॥

—पं. नेमिचन्द्रदेव : प्रतिष्ठातिलक (बम्बई, 1914), पृ. 283।

2. दे. —चित्र सं. 6।

3. (अ) महाकाली तमालाभा पुरुषवाहनस्थिता।

अक्षसूत्रं तथा वज्रं धत्तेऽभयं च घण्टिकाम् ॥

—डॉ. द्विजेन्द्रनाथ शुक्ल : वास्तुशास्त्र, जिल्द 2, संस्कृत पाठ (लखनऊ, मुद्रणवर्ष नहीं दिया), पृ. 275।

(व) चक्रधिकं साधुषु यः समाधिं तं संवमाना श्रमधिर्बुद्धा।

श्यामा धनुः खड्गफलास्त्रहस्ता वलिं महाकालि जुषस्व शान्त्यै ॥

—पं. आशाधर : प्र.सा., 3-44

(स) भक्त्यान्विता साधुसमाधि-रूप-सद्भावनासिद्धजिनाङ्घ्रि पद्मे।

चापं फलं वाणमसिं बभार या तां महाकालिमहं कजामि ॥

—पं. नेमिचन्द्रदेव : प्र. ति., पृ. 286-87।

विद्यादेवी का अंकन है। उसके तीन हाथों में वज्र, घण्टिका और फल विद्यमान हैं जबकि चौथा अभयमुद्रा में है।

**गौरी** : इसी (मं. सं. 5) द्वार के बायें गौरी<sup>1</sup> नामक नौवीं विद्यादेवी का आलेखन है, जिसके हाथों में कमल, अक्षमाला, कुम्भ और मूसल हैं। उसका वाहन गोधा भी दिखाई देता है।

**महाकाली** : मन्दिर संख्या 9 के प्रवेश-द्वार के सिरदल पर मध्य में महाकाली विद्यादेवी उत्कीर्ण है। उसके ऊपर के दायें हाथ में वज्र, बायें में घण्टिका तथा नीचे दायाँ हाथ अभयमुद्रा में और बायें में अक्षमाला है। उसका वाहन नर भी अंकित हुआ है। इसी देवी का एक और अंकन मं. सं. 12 के गर्भगृह के प्रवेश-द्वार के सिरदल पर (बायें)<sup>2</sup> दर्शनीय है, वहाँ इसका एक हाथ अभयमुद्रा में और दूसरा कुछ खण्डित हो गया है। उसके शेष दो हाथों में वज्र और घण्टिका हैं। वाहन नर स्पष्ट देखा जा सकता है।

**महामानसी** : मन्दिर संख्या पाँच के पश्चिमी द्वार के सिरदल पर (बायें)<sup>3</sup> महामानसी नामक सोलहवीं विद्यादेवी अंकित हुई है। उसके ऊपर के दायें हाथ में कृपाण और बायें में खेटक (ढाल) एवं नीचे के बायें में कलश है तथा दायाँ वरद मुद्रा में है, और उसके दायें सिंह बैठा है।

1. (क) गौरी कनकवर्णाभा गोधावाहनसंस्थिता ।  
वरदमूसलाक्षब्जसमन्वितचतुष्करा ॥

—डॉ. द्वि. ना. शुक्ल : वही, पृ. 275 ।

- (ख) तपस्विनां संवमबाधवर्जं प्रतिव्यधत्तात्मवदापदो यः ।  
गोधागता हेमरुगव्जहस्ता गौरि प्रमोदस्व तदर्धनाशेः ॥

—पं. आशाधर : प्र.सा., 3-15 ।

- (ग) यस्तीर्थकृन्नाम बबन्ध वैयावृत्त्ये स्फुरद्वावनयाग्रपुण्यम् ।  
तं सेवमानामरविन्दहस्तामाराधयामो वरगौरि-देवीम् ॥

—पं. नेमिचन्द्रदेव : वही, पृ. 287 ।

2. दे.—चित्र सं. 18 और 19 ।

3. (क) सिंहासन-समासीना धवला महामानसी ।  
वरासि-खेटकैर्युक्ता कुण्ड्या चैव चतुर्भुजा ॥

—डॉ. द्वि. ना. शुक्ल : वही, पृ. 275 ।

- (ख) योधात् सधर्मस्थितिवत्सलत्वं रक्ता महामानसि तत्रणामे ।  
रक्ता महाहंसगतेश्मूत्र-वराङ्कुशसिक्खसहितां यजे त्वाम् ॥

—पं. आशाधर : वही, 3-52 ।

- (ग) सधार्मिकेष्वहितवत्सलत्वमाराधयन्ती विभुमक्षमालाम् ।  
मालां वरं चोङ्कुशमादधानां मान्ये महामानसि मानये त्वाम् ॥

—पं. नेमिचन्द्रदेव : वही, पृ. 279 ।

158 :: देवगढ़ की जैन कला : एक सांस्कृतिक अध्ययन

## (द) प्रतीकात्मक देव-देवियाँ

अन्य स्थानों की भाँति देवगढ़ में भी कुछ ऐसे देव-देवियों की भी मूर्तियाँ गढ़ी गयी हैं, जिन्हें हम प्रतीकात्मक कह सकते हैं। उदाहरण के लिए लक्ष्मी को सम्पत्ति का और सरस्वती को श्रुतदेवता का प्रतीक कहा जा सकता है।<sup>1</sup>

### (अ) सरस्वती की मूर्तियाँ<sup>2</sup>

1. मं. सं. एक के पीछे की सरस्वती मूर्ति : मं. सं. एक के पृष्ठभाग में बायें से दायें (उत्तर से दक्षिण) जो सातवीं मूर्ति जड़ी है, उसके बायें पार्श्व में उत्कीर्ण की गयी मूर्ति सरस्वती (खड़ी) है।<sup>3</sup> उसके ऊपर के हाथों में अक्षमाला और कमल हैं तथा नीचे के बायें में पुस्तक और दायें अभयमुद्रा में है।<sup>4</sup> मं. सं. 11 के

1. (अ) धीरायिनि नमस्तुभ्यं ज्ञानरूपे नमोऽस्तु ते। सुरार्चिते नमस्तुभ्यं भुवनेश्वरि ते नमः ॥  
—जिनप्रभसूरि : भैरव पद्मावतीकल्प (शारदा स्तवन), (अहमदाबाद, 1937), परिशिष्ट 15, श्लोक 9।  
(ब) देवि श्रीश्रुतदेवते भगवति त्वत्पादपङ्केरुह-  
दण्डे यामि शिलीमुखत्वमपरं भक्त्या मया प्रार्थ्यते।  
मातश्चेतसि तिष्ठ मे जिनमुखोद्भूते सदा त्राहि माम्।  
दृग्दानेन मयि प्रसीद भवतीं सम्पूजयामोऽधुना।  
—देवशास्त्र गुरु पूजा : गृहज्जिनयाणी संग्रह, पं. पन्नालाल याकलीवाल सम्पादित (कलकत्ता, 1937), पृ. 83-84।
2. यहां मं.सं. 12 की बाह्य भित्तियों पर जो चौबीस यक्षियों का अंकन हुआ है, उनमें से चौथी (अनन्तनाथ की) यक्षी का नाम भी 'सरस्वती' उत्कीर्ण है। इसके अतिरिक्त जयसेन प्रतिष्ठा पाठ (शालापुर, वी.सं. 2452) के अनुसार श्री आदि 10 देवियों में 'दसवीं' देवी का नाम भी 'सरस्वती' (श्लोक सं. 752) दिया गया है।
3. दे.—चित्र सं. 76।
4. (अ) यह देवी वीणाधारिणी न होने पर भी सरस्वती ही है, जैसा कि निम्नलिखित लक्षण से स्पष्ट है :  
'अभयज्ञानमुद्राक्षमालापुस्तकधारिणी। त्रिनेत्रा पातु मां वाणी जटाबालेन्दुमण्डिता ॥'  
—मल्लिषेण : सरस्वतीकल्प : भैरवपद्मावतीकल्प (अहमदाबाद, 1937), परिशिष्ट 11, पृ. 61।  
(ब) मुनि कान्तिसागरजी को बिलहरी (म.प्र.) से प्राप्त हुई सरस्वती-मूर्ति भी ऐसी ही है। उन्होंने महाकोसल की मूर्तियों का परिचय देते हुए उल्लेख किया है कि इस ओर की सरस्वती-मूर्तियों में वीणा नहीं पायी जाती।—द्रष्टव्य—खंडहरों का वैभव (काशी, 1959), पृ. 404। (स) इसी प्रकार की सरस्वती की एक खड़ी धातु मूर्ति, जो वीणा धारण नहीं किये है, केन्द्रीय संग्रहालय इन्दौर में भी सुरक्षित है। वहाँ इसका आकार 3 फुट 4 इंच × 8 इंच है। इसके दायें निचले वरदमुद्रावाले हाथ में अक्षमाला है तथा

→

मूर्तिकला :: 159

दूसरे खण्ड के प्रवेश-द्वार पर बायें आलिखित सरस्वती के हाथों में पुस्तक, वीणा और कलश हैं तथा एक हाथ अभयमुद्रा में है।

2. मं. सं. 12 के गर्भगृह के प्रवेश-द्वार पर सरस्वती : मं. सं. 12 के गर्भगृह के प्रवेश-द्वार<sup>1</sup> पर दायें जो सरस्वती उत्कीर्ण हैं, वह अत्यन्त प्रभावोत्पादक, कलामय तथा भव्य बन पड़ी है।<sup>2</sup> इसके ऊपर के दायें हाथ में सूत्र से मजबूती के साथ लपेटी गयी पुस्तक और नीचेवाले में वीणा के तार हैं। ऊपर का बायाँ हाथ वीणा साधे हुए है और दायें में कलश विद्यमान है। इसके आभूषणों में पग में पायल, पाँव-पोश, करधनी, हथफूल, बघमा के चूरा, वाजूवन्द, मोहनमाला, बोरला,<sup>3</sup> कण्ठश्री, कर्णफूल और बैदी तथा वस्त्र सूक्ष्मता के साथ निदर्शित हैं। इसकी केशराशि घुँघराली है और जूड़ा ऊपर को सँभाल कर बाँधा गया है।<sup>4</sup>

ऊपर के हाथ में सनाल कमल, बायें नीचे के हाथ में पुस्तक है जबकि ऊपरी हाथ की वस्तु अस्पष्ट है।—देखिए—प्रभाकर गोविन्द परांजपे : केन्द्रीय संग्रहालय इन्दौर की संक्षिप्त मार्गदर्शिका (1961), पृ. 5 तथा फलक 7। (द) सरस्वती की खड़ी, संगमरमर की अत्यन्त सुन्दर एक प्रतिमा वीकानेर में भी प्राप्त हुई है जो (आजकल न्यू एशियन एण्टिक्वेरियन म्यूजियम, दिल्ली में सुरक्षित) वीणाधारिणी नहीं है। इसके दायें निचले हाथ में माला, ऊपरी में सनाल कमल तथा बायें निचले हाथ में कलश और ऊपरवाले में पुस्तक प्रदर्शित हैं। पादपीठ पर इसका वाहन हंस आलिखित है। इसकी एक और उल्लेखनीय विशेषता यह है कि इसके पादपीठ के दोनों पाश्वों में एक-एक सेविका वीणा सँभाले हुए प्रदर्शित हैं। इसके लिए और भी देखिए—आर्क्योलॉजी इन इण्डिया (दिल्ली, 1950), फलक 57, चित्र (ब)। (इ) बानपुर (झाँसी) के सहस्रकूट-जिनालय में एक ऐसी सरस्वती आलिखित है, जिसके केवल दो हाथ हैं। यद्यपि वह वीणा-धारिणी है किन्तु उसका वाहन और पुस्तक अदृश्य है। (ई) राजनापुर खिनखिनी (अकोला) से प्राप्त सरस्वती की एक धातुमूर्ति सम्प्रति नागपुर के संग्रहालय में प्रदर्शित है। इसके केवल दो हाथ हैं। वह बायें हाथ में पोथी और दायें में वर्तिका धारण किये है। वह ललितासन में कमलासीन है। उसके शरीर पर कोई आभूषण नहीं दिखाया गया है। उपर्युक्त अंकनों के परिप्रेक्ष्य में यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि कलाकार 'जैन वास्तुशास्त्र और मूर्ति विज्ञान' की रक्षा करते हुए, सामयिक परिवर्तन करते गये हैं।

1. प्रवेश-द्वारों पर सरस्वती की मूर्ति अंकित करने की परम्परा देवगढ़ में तो थी ही (दे.-मं.सं. 12 के अतिरिक्त 11 और 31 के प्रवेश-द्वार) निकटवर्ती कलाकेन्द्रों पर भी इसका प्रभाव पड़ा था। देखिए—बानपुर के सहस्रकूट-जिनालय का उत्तरी प्रवेश-द्वार।
2. दे.—चित्र सं. 18 और 20।
3. एक प्रकार का मारवाड़ी आभूषण।
4. बुन्देलखण्ड के शिल्पी की रूपसज्जा और अलंकरण-चारुता को प्रदर्शित करने वाली ऐसी ही एक प्रतिमा, अहार (टीकमगढ़) शान्तिनाथ संग्रहालय में सुरक्षित है। वह ललितासन में आसीन है। चतुर्भुजी है। उसके दायें ऊपरी हाथ में ग्रन्थ, नीचे में कलश तथा बायें ऊपरी में सनाल कमल है जबकि नीचे का हाथ खण्डित हो गया है।

160 :: देवगढ़ की जैन कला : एक सांस्कृतिक अध्ययन

3. मं. सं. 19 में स्थित सरस्वती मूर्ति : मन्दिर संख्या 19 में सरस्वती<sup>1</sup> की एक विशाल (5' x 2' 2") खड़ी मूर्ति अवस्थित है। इस अत्यन्त सुन्दर देवी का शिर मूर्ति-भंजक द्वारा खण्डित कर दिया गया है, तथापि उसकी मनोहर वेश-भूषा और प्रभावोत्पादक अलंकरण आदि उसकी पूर्वस्थिति का आभास देने में पूरी तरह समर्थ हैं। इसके पादपीठ में हंस वाहन के रूप में दिखाया गया है। उसके पार्श्व में एक दम्पती देवी की उपासना में रत है।

उसके ऊपर दो-दो चौरीधारी सेविकाएँ सेवा में प्रवृत्त अंकित की गयी हैं। उनके भी ऊपर (दायें) अपने दायें हाथ में ग्रन्थ और बायें में माला धारण किये आचार्य और (बायें) पीछी-सहित आर्यिका उपासना में लीन हैं। उनके ऊपर दोनों ओर एक-एक कायोत्सर्गासन और उनके भी ऊपर एक-एक पद्मासन तीर्थकर अंकित हैं। तत्पश्चात् दोनों ओर सशक्त उड़ान भरते हुए मालाधारी विद्याधरों के मध्य पद्मासन में एक तीर्थकर का मनोरम आलेखन हुआ है। देवी के पायल, पाजेब, कटिबन्ध, भुजबन्ध, चन्द्रहार और स्तनहार के अतिरिक्त मुकुट भी भव्यता से निदर्शित है। इसके चारों हाथ खण्डित हो गये हैं।

4. सरस्वती की खड़ी मूर्ति : सरस्वती की एक खड़ी मूर्ति<sup>2</sup> मन्दिर संख्या 12 के अन्तराल की दायीं मढ़िया में अभी-अभी, पास के किसी ध्वस्त अवशेषों में से लाकर स्थापित कर दी गयी है। इस चतुर्भुजी देवी के दायें ऊपरी हाथ में माला है और नीचे का वरद मुद्रा में है, बायें ऊपरी हाथ में सनाल कमल है जबकि नीचे का ताड़पत्रीय ग्रन्थ सँभाले हुए है। इसके पायल, पाजेब, कटिबन्ध, कंगन, बोंहटा, आरसी, कण्ठश्री, स्तनहार, कर्णाभरण और मुकुट अत्यन्त सुन्दरता से निदर्शित हैं। पादपीठ के ऊपर इसके पार्श्व में दोनों ओर दो-दो सेविकाएँ उल्कीर्ण हैं। ऊपर तीन पद्मासन तीर्थकरों का अंकन है। देवी की मुखमुद्रा सौम्य और प्रसन्न है।

5. अन्य सरस्वती मूर्तियाँ : सरस्वती के उक्त मूर्त्यकनों के अतिरिक्त यहाँ के साहू संग्रहालय में विद्यमान विंशतिभुजी चक्रेश्वरी की एक अत्यन्त सुन्दर मूर्ति के ऊपरी भाग में (बायें) सरस्वती की भी एक मनोज्ञ और नयनाभिराम मूर्ति आलिखित है।<sup>3</sup>

इसी प्रकार यहाँ के मन्दिर संख्या 11 और 31 (दे. चित्र 35) के प्रवेश-द्वारों पर भी सरस्वती की सुन्दर मूर्तियाँ अंकित हुई हैं।

1. दे.-चित्र सं. 96।

2. दे.-चित्र सं. 95।

3. दे.-चित्र सं. 99।

## (ब) लक्ष्मी

लक्ष्मी<sup>1</sup>, धन-धान्य आदि सर्व-प्रदात्री देवी मानी गयी है।<sup>2</sup> प्राचीनकाल से ही इसकी उपासना और मान्यता प्रमुख देवियों में होती आयी है। कला में इसका अंकन बहुत प्राचीनकाल से प्राप्त होता है। साँची, भरहुत, मथुरा, कौशांबी, भाजा, बसाढ़ (वैशाली), अमरावती, देवगढ़, बेसनगर, राजघाट, एलोरा प्रभृति अनेक प्राचीन कला-केन्द्रों में लक्ष्मी के मनोरम अंकन उपलब्ध हुए हैं।<sup>3</sup> विदेशों में भी लक्ष्मी से सम्बन्धित मूर्तियों तथा मन्दिरों का निर्माण हुआ।<sup>4</sup> इससे निष्कर्ष निकलता है कि सुदूर पूर्व तक इसकी पूजा का प्रचार हुआ था।

उपनिषद्,<sup>5</sup> पुराणों,<sup>6</sup> साहित्यिक ग्रन्थों,<sup>7</sup> अभिलेखों<sup>8</sup> और मूर्ति-विज्ञान-सम्बन्धी ग्रन्थों<sup>9</sup> में लक्ष्मी के मूर्ति-निर्माण विधान का विस्तृत विवेचन उपलब्ध होता

1. इसके विस्तृत और प्रामाणिक परिचय के लिए देखिए—डॉ. राव गोविन्दचन्द्र : प्राचीन भारत में लक्ष्मी प्रतिमा (वाराणसी, 1964 ई.), सम्पूर्ण शोध-प्रबन्ध।
2. (अ) भोज : समरांगण सूत्रधार, म.य.टी. गणपति शास्त्री सम्पादित (वडौदा, 1924 ई.), खण्ड एक, प. 122, 8। (ब) प्राचीन भारत में लक्ष्मी प्रतिमा, पृ. 37 तथा 114।
3. प्रो. कृष्णदत्त वाजपेयी : भारतीय साहित्य और कला में लक्ष्मी : त्रिपथगा (नवम्बर, 1955), पृ. 25-26।
4. विदेशों में विद्यमान लक्ष्मी-मूर्तियों और मन्दिरों के विवरण के लिए देखिए—(अ) डॉ. वासुदेवशरण अग्रवाल : लम्पसकस से प्राप्त भारत लक्ष्मी की मूर्ति : नागरी प्रचारिणी पत्रिका, विक्रमांक (वैशाख-माघ, 2000 विक्रम सं.) पृ. 39-42। (ब) हेनरिक जिम्मेर : दी आर्ट ऑफ इण्डियन गण्डिया (न्यूयार्क, 1955), भाग दो, फलक 564 बी। (स) मिश्रु चिम्पनलाल : जब शिवजी ने जापान को चीन के हमले से बचाया : धर्मगुण (12 फरवरी, 1961 ई.), पृ. 9 पर मूर्तित लक्ष्मी की मूर्ति।
5. सौभाग्यलक्ष्म्युपनिषद् : ईशाद्यष्टोत्तरशतोपनिषद् (बम्बई, 1925 ई.), 1, 28-29।
6. दे.—डॉ. राव गोविन्दचन्द्र : पुराणों में लक्ष्मी का स्वरूप : प्राचीन भारत में लक्ष्मी प्रतिमा, पृ. 33-57।
7. दे—(अ) प्राचीन बौद्ध तथा जैन साहित्य में लक्ष्मी का स्वरूप : वही, पृ. 29-32। (ब) प्राचीन संस्कृत साहित्य में लक्ष्मी का स्वरूप : वही, पृ. 58-75।
8. दे.—(अ) भारतीय मुद्राओं और मोहरों पर तथा अभिलेखों में लक्ष्मी तथा श्री : वही, पृ. 76-78। (ब) भारतीय अभिलेखों में लक्ष्मी : वही, पृ. 89-91।
9. (1) भोज : समरांगणसूत्रधार, खण्ड 1, पृ. 47-298। (2) पी.कं. आचार्य : मानसार जान आर्किटेक्चर एण्ड स्कुल्चर (लन्दन, 1932), परिवार विधान अध्याय 32-72 (पृ. 197), तथा अध्याय 54, 19-31 (पृ. 356-57)। (3) सोमेश्वर दत्त : मानसोल्लास (वडौदा, 1939 ई.) प्रथम प्रकरण 77-97। (4) श्रीकृमार : शिल्परत्नम् : कं. साम्बशिव शास्त्री सम्पादित (त्रिवेन्द्रम, 1929 ई.), पृ. 143-44। (5) टी.ए. गोपीनाथ राव : एलीमेण्ट्स ऑफ हिन्दू आर्किटेक्चर, प्रथम खण्ड (मद्रास, 1914 ई.), पृ. 235-37।

162 :: देवगढ़ की जैन कला : एक सांस्कृतिक अध्ययन



हे।' किन्तु उनमें विविधता दिखाई पड़ती है।

**देवगढ़ में उपलब्ध लक्ष्मी-मूर्तियाँ :** लक्ष्मी<sup>2</sup> की मूर्तियाँ<sup>3</sup> देवगढ़ में कुछ ही स्थानों पर प्राप्त हुई हैं।<sup>1</sup> उनमें से मन्दिर संख्या 12 के प्रवेश-द्वार के सिरदल पर (बायें) उत्कीर्ण मूर्ति (चित्र संख्या 19) बहुत ही मनोरम और महत्त्वपूर्ण है। इस प्रसन्नमुख देवी का आलेखन वेशभूषा, रत्नाभरण आदि की दृष्टि से भी अत्यन्त प्रभावोत्पादक है। चतुर्भुजी देवी के ऊपर के दायें हाथ में सनाल कमल है जबकि नीचे का वरदमुद्रा में है। इसका बायाँ ऊपरी हाथ खण्डित है और नीचेवाले में सुन्दर कमल है। सुन्दर वस्त्रों के अतिरिक्त इसके पायल, पाँवपोश, कटिबन्ध, चूड़ियाँ, भुजबन्ध, चन्द्रहार, एकावली, स्तनहार, कण्ठश्री, कर्णकुण्डल और रत्नजटित मुकुट दर्शनीय बन पड़े हैं। वरद मुद्रा में स्थित उसके दायें हाथ से मानों भक्त आशान्वित हो उठते हैं। जैसा भाव हाथ की मुद्रा से प्रदर्शित किया गया है वैसा ही भाव मुख पर भी कलाकार ने उत्पन्न किया है, अंग-लावण्य भी उसी के अनुरूप प्रदर्शित है।

### (स) नवग्रह

नवग्रहों का अंकन भारतीय कला में प्रचुरता से उपलब्ध होता है। देवगढ़

1. कभी इसे द्विभुजी और कभी चतुर्भुजी कहा गया है। कहीं-कहीं इसकी स्वतन्त्र मूर्तियाँ निर्माण करने के विधान हैं जबकि अन्यत्र उसकी मूर्ति, विष्णु के पार्श्व में उत्कीर्ण करने के उल्लेख मिलते हैं। दे.—पी.के. आचार्य : मानसार आन आर्किटेक्चर एण्ड स्कल्पचर, पृ. 356-57। इसके वर्ण, आसन तथा हस्तस्थित-धस्तुओं के सम्बन्ध में भी विभिन्नताएँ दृष्टिगोचर होती हैं। दे.—मत्स्य महापुराणम् (पूना, 1907 ई.), अध्याय 260, पद्य 40-50।
2. (अ) जैन दर्शन में इस नाम की एक भवनवासी कुमारी देवी का उल्लेख मिलता है—“तन्निवासिन्यो देव्यः श्रीहीधृतिकीर्तिबुद्धिलक्ष्म्यः पत्न्योपभस्थितयः ससामानिक-परिषत्काः।” दे.—आ. उमास्वामी : तत्त्वार्थसूत्र, पं. पन्नालाल (साहित्याचार्य) सम्पादित, सूरत, 2472 वीर नि.सं., अध्याय 3, सूत्र 19।  
(ब) जयसेन : प्रतिष्ठापाठ में भी श्री आदि 10 देवियों में इसे छठवें स्थान पर गिनाया गया है। दे.—वही : (शीलापुर, 1925 ई.), श्लोक सं. 742।
3. दे.—चित्र सं. 19।
4. मं.सं. 12 के प्रवेश-द्वार के सिरदल पर बायें तथा जैन धर्मशाला में चक्रेश्वरी (चित्र 99) के ऊपर दायें आदि।
5. नवग्रह अग्रलिखित हैं—रवि, सोम, मंगल, वृध, गुरु, शुक्र, शनि, राहु और केतु। (1) इनके लक्षण और महत्त्व आदि के लिए दे.—(अ) अपराजितपृच्छा, पृ. 547-48। (ब) प्रतिष्ठासारेन्द्रार, अ. 2, श्लोक 27-36। (स) टक्कर फेरु : वास्तुसार प्रकरण, पृ. 172-74। (द) दि. जैन प्रतीघाषनसंग्रह : फूलचन्द्र सूरचन्द्र दोशी सम्पादित (इंडर 1954), पृ. 290-330। (इ) अगरचन्द्र नाहशः भारतीय वास्तु शास्त्र में जैन प्रतिमा सम्बन्धी ज्ञातव्य, अनेकान्त, वर्ष 20, कि. 5, पृ. 314-15। (2) इनकी गति, मान तथा मूहत्त आदि के विस्तृत विवरण के लिए दे.—अपराजितपृच्छा, पृ. 41-42।

में इनका आलेखन मन्दिरों के प्रवेश-द्वारों पर<sup>1</sup> तो हुआ ही है, मूर्तिफलकों<sup>2</sup> पर भी प्राप्त होता है। ये कभी खड़े<sup>3</sup> और कभी बैठे<sup>4</sup> अंकित किये गये हैं। नवग्रहों को मूर्तिफलकों पर, देवगढ़ के अतिरिक्त अन्य जैन कला केन्द्रों पर कदाचित् ही पाया गया है।<sup>5</sup>

मन्दिरों के प्रवेश-द्वारों और तोरणों पर इन्हें अंकित करने की प्रथा मध्यकाल में बहुत प्रचलित थी। उदयगिरि की अमृत-गुफा (संख्या 9) तथा रहली (सागर) के सूर्य मन्दिर<sup>6</sup> के अतिरिक्त सेरोन,<sup>7</sup> बानपुर,<sup>8</sup> बजरंगगढ़,<sup>9</sup> खजुराहो<sup>10</sup> आदि के जैन-मन्दिरों में इन्हें स्थान दिया गया है।

### (द) गंगा-यमुना और नाग-नागी

गंगा-यमुना और नाग-नागी का स्थापत्य से सम्बन्ध लगभग 300 ई. से द्वार-स्तम्भों पर प्राप्त होता है। महाकवि कालिदास ने गंगा और यमुना के मूर्तरूप का उल्लेख किया है :

“मूर्ते च गङ्गा-यमुने तदानीं, समाचरे देवमसेविषताम् ॥”<sup>11</sup>

अतः स्पष्ट है कि उनके युग में गंगा-यमुना के मूर्त्यंकन होने लगे थे। यद्यपि पौराणिक दृष्टि से गंगा-यमुना के साथ नाग-नागी का कोई सम्बन्ध नहीं है, तथापि गंगा-यमुना के साथ नाग-नागियों का सामीप्य भी गुप्तकाल से विशेष रूप से मिलने

1. दे.—मं.सं. चार, पाँच (चित्र सं. 6), ग्यारह, बारह (चित्र सं. 18-20), तीस, इकतीस (चित्र सं. 35) आदि।
2. दे.—चित्र सं. 51, 63, 68।
3. खड़े प्रायः द्वारों और तोरणों पर।
4. बैठे प्रायः मूर्तिफलकों पर।
5. (अ) मथुरा संग्रहालय में एक ऐसी मूर्ति (सं-वी. 75) प्रदर्शित है जिसके पृष्ठभाग में कुवेर और नवग्रहों का आलेखन हुआ है।  
(व) सिंहपुर (जिला शहडोल, म.प्र.) के एक जैन मन्दिर (नौवीं शती) में स्थित मूर्तिफलक पर भी नवग्रह अंकित हैं।
6. प्रां. कृष्णदत्त वाजपेयी : सागर श्रृ. दी एजेज (सागर, 1935), फलक 10, आकृति (अ)।
7. दे.—मं.सं. पाँच के प्रवेश-द्वार का तोरण।
8. दे.—सहस्रकूट जिनालय के पूर्वी और पश्चिमी द्वारों के तोरण।
9. दे.—बजरंगगढ़ (गुना) के जैनमन्दिर का प्रवेश-द्वार।
10. दे.—पार्श्वनाथ मन्दिर आदि।
11. कुमारसम्भव : कालिदास-ग्रन्थावली, पाण्डेय नेजराम शास्त्री सम्पादित (काशी, 1961 ई.), सग 7 पद्य 42।

लगता है।<sup>1</sup> गुप्तकाल के द्वार-स्तम्भों पर गंगा-यमुना की मूर्तियाँ बनाने की प्रथा रूढ़-सी हो गयी थी।<sup>2</sup>

गंगा-यमुना दो धाराओं में बहती हुई उदयगिरि, एरण प्रभृति में दिखाई गयी हैं और अन्त में उनका विलय समुद्र में हुआ है। गुप्तकाल में यह भावना जाग्रत हुई थी कि अन्तर्वेदि पर जिसका अधिकार होगा, वही 'एकराट्' हो सकता है। अतः गंगा और यमुना की मूर्तियाँ वास्तुकला में राष्ट्रीय चिह्न बन गयी थीं।

गुप्तकालीन कतिपय प्राचीन मन्दिरों तथा उदयगिरि, साँची, तिगवाँ आदि और देवगढ़ के ही दशावतार मन्दिर में गंगा-यमुना के अंकन प्रवेश-द्वार के सिरदल के किनारों या द्वारपक्षों के ऊपरी भाग पर हुए हैं। देवगढ़ के दशावतार मन्दिर और जैन मन्दिर संख्या 4, 5, 11, 12, 28 और 31 में उनके अत्यन्त महत्त्वपूर्ण, अनोखे और प्रभावोत्पादक चित्रण हैं।<sup>3</sup> उनके केशपाश और मुखाकृतियाँ बहुत सुन्दर हैं।

जैन स्थापत्य में भी इन प्रतीकात्मक देवियों का समावेश प्रारम्भ से ही हुआ है, जैसा कि हम देवगढ़, चाँदपुर, दूधई, खजुराहो, पतियानदाई (पतौरा, सतना), भूमरा, नचना, मढ़ई, पाली और बानपुर आदि में देखते हैं। देवगढ़ की जैन कला में गंगा-यमुना के अंकन—मं. सं. 4, 5 (2 बार), 9, 11 (2 बार), 15 (2 बार), 16, 18 (2 बार), 19, 20, 23, 24, 28, 31 तथा मढ़िया संख्या 4 में आकर्षक ढंग से हुए हैं। इसी प्रकार नाग और नागी के अंकन यहाँ के मं. सं. 12, 15, 18, 19 और 31 में प्रभावोत्पादक बन पड़े हैं। नाग-नागियों का अंकन प्रवेश-द्वार की पूरी पट्टिकाओं पर भी कहीं-कहीं मिलता है।<sup>4</sup> मथुरा में प्राचीन काल से ही नाग-नागियों के अंकन आकर्षक ढंग से हुए हैं। वहाँ इनकी अनेक मूर्तियाँ विभिन्न रूपों में तो मिली ही हैं, ब्रज में इनके स्वतन्त्र मन्दिर बनाने का भी प्रचलन था।<sup>5</sup>

## (इ) अन्य देव-देवियाँ

यक्ष-यक्षियों, विद्या-देवियों, सरस्वती, लक्ष्मी, नवग्रह, गंगा-यमुना और नाग-नागी की मूर्तियों के अतिरिक्त भी देवगढ़ में देव-देवियों की ही कुछ ऐसी मूर्तियाँ विद्यमान

1. आनन्दकुमार कुमारस्वामी : यक्षाज : भाग एक (वाशिंगटन, 1928ई.)
2. प्रो. कृष्णदत्त वाजपेयी : म.प्र. की कला का ऐतिहासिक परिशीलन : मध्यप्रदेश सन्देश (दि. 26 जनवरी, 1963 ई.), पृ. 16।
3. दे.—चित्र सं. 6, 18, 32, 35 और 117।
4. मथुरा में एक ऐसी द्वार-शाखा प्राप्त हुई है जिस पर झील में स्नान करते हुए नाग-नागी आलिखित हैं। दे.—प्रो. कृष्णदत्त वाजपेयी : मथुरा कला में नाग : त्रिपथगा (जुलाई, 1962 ई.), पृ. 65 से पूर्व मुद्रित चित्र।
5. वही, पृ. 63-66।

हैं, जिन्हें हम दृष्टि से ओझल नहीं कर सकते। तीर्थकर के दोनों ओर (1) चँवर डुलाते हुए यक्षेन्द्र और उनकी इन्द्राणियाँ, (2) तीर्थकर की वाणी को दुन्दुभि पीट-पीटकर तीन लोक में गुँजा देनेवाला उद्घोषक<sup>1</sup>, (3) उच्च श्रेणी के देव-देवियों की, ठाया की भाँति साथ रहकर सेवा-टहल करनेवाले परिचारक-परिचारिकाएँ, (4) स्तम्भों, गवाशों और देवकुलिकाओं आदि के अलंकरण में महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह करनेवाले कीर्तिमुख, (5) भवन की छत का विपुल भार धारण करनेवाले शक्तिशाली कीचक, (6) अनधिकारियों और आततायियों को मन्दिर के भीतर प्रवेश का निषेध करनेवाले दण्डधारी द्वारपाल और (7) समग्र तीर्थ-क्षेत्र की रक्षा करनेवाले क्षेत्रपाल<sup>2</sup> आदि की मूर्तियाँ अन्य स्थानों की भाँति देवगढ़ में भी यथास्थान प्राप्त होती हैं।

इस प्रकार, इस अध्याय में देवगढ़ में मूर्तिकला के क्रमिक विकास और मुख्य विशेषताओं का प्रदर्शन करके तीर्थकरों तथा देव-देवियों की मूर्तियों पर प्रकाश डाला गया है। शेष मूर्तियों और प्रतीकों का विश्लेषण तथा इस प्रकरण का उपसंहार अग्रिम अध्याय में किया जाएगा।

1. (अ) उद्घोषक के साधारणतः दो हाथ दिखाये जाते हैं, परन्तु यहाँ के मं.सं. 28 के शिखर पर (दक्षिण की ओर) एक उद्घोषक के चार हाथ भी दिखाये गये हैं।
- (व) देवगढ़ के ही एक प्रतिनिधि उद्घोषक के विवरण सहित चित्र के लिए देखिए—प्रो. स्टेला क्रैमरिश : दी हिन्दू टेम्पल : जिल्द दो, पृ. 397 तथा फलक 55।
2. (अ) देवगढ़ में इसकी दो मूर्तियाँ मिली हैं, (1) मं.सं. एक के पीछे स्थित मानस्तम्भ पर (दे.—चित्र सं. 113) और (2) मं.सं. 12 के अर्धमण्डप के स्तम्भ पर।
- (ब) क्षेत्रपाल की मूर्ति के शास्त्रीय लक्षण के लिए देखिए (1) 'ओम् नमः क्षेत्रपालाय कृष्णगौर-काञ्चनधूसरकपिलवर्णाय विंशतिभुजदण्डाय बर्बरकेशाय जटाजूटमण्डिताय वासुकिकृतजिनो-पवीताय तक्षककृतमेखलाय प्रेतासनाय कुक्कुरवहनाय विलोचनाय च।' (2) 'क्षेत्रपालं क्षेत्रानुरूपानामानं श्यामवर्णं बर्बरकेशमावृतपिंगनयनं विकृतदंष्ट्रं पादुकाधिरूढं नग्नं कामचारिणं षड्भुजं मुद्गरगपाशाडमरुकान्वितदक्षिणपाणिं श्वानांकुशगेडिकायुतवामपाणिं श्रीमद्भगवतो दक्षिणपाश्वर्ये ईशानाश्रितं दक्षिणाशामुखमेव प्रतिष्ठाप्यम्।'।

—डॉ. द्विजेंद्रनाथ शर्मा : वास्तुशास्त्र (भाग 2), आचार दिनकर से उद्धृत, पृ. 275।

166 :: देवगढ़ की जैन कला : एक सांस्कृतिक अध्ययन

## मूर्तिकला (अन्य मूर्तियाँ)

### 6. विद्याधरों की मूर्तियाँ

विद्याधर<sup>1</sup> वे मनुष्य होते थे, जो साधना या तपस्या के फलस्वरूप आकाशगामिनी आदि विद्याएँ सिद्ध कर लेते थे। ये, जैसा कि धर्मकथाओं के अध्ययन से प्रकट होता है, अत्यन्त रसिक और पर्यटन-प्रेमी होते थे। पर जिनेन्द्र-देव के भक्त भी ये बहुत होते थे। देवगढ़ में उनका यही रूप अंकित किया गया है। उन्हें उड़ान भरते हुए<sup>2</sup> तथा तीर्थकर के मस्तक पर चँवर डुलाते हुए<sup>3</sup> अंकित किया गया है। कभी-कभी वे अपनी प्रेयसियों के साथ<sup>4</sup> यह कार्य करते थे। उस समय वे स्नेहासक्त दृष्टि से एक-दूसरे को निहारते भी जाते थे। कुछ स्थानों पर उनके हाथों में चँवर न देकर माला दी गयी।<sup>5</sup>

खजुराहो की भाँति अपनी प्रेयसियों के साथ उड़ान भरते-भरते विभिन्न आकृतियों और चेष्टाओं में संलग्न विद्याधरों की लम्बी-लम्बी पंक्तियाँ यहाँ चाहे न हों, पर तोरणों आदि पर अंकित पंक्तियों में विद्याधरों की सशक्त उड़ान कभी भक्तिविभोर और कभी स्नेहाधीन-दृष्टि तथा उनके अंग-प्रत्यंग की भंगिमा निश्चय

1. पावार गोउरद्वल चरियारवरण विराजिया तत्थ ।

विज्जाहस ति विज्जा यत्तंति छक्कम्मसंजुत्ता ॥

—नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती : त्रिलोकसार (बम्बई, 1918 ई.), गाथा 709।

2. मं.सं. 12 के गर्भगृह के प्रवेश-द्वार के तोरण पर (दे.—चित्र सं. 19-20) तथा मं.सं. 28 के अंगशिखर पर (दे.—चित्र सं. 32)।

3. मं.सं. एक तथा चित्र सं. 62।

4. मं.सं. दो के दत्तवें फलक पर। और भी दे.—चित्र सं. 66, 67, 74 आदि।

5. जैन चहारदीवारी (मं.सं. 8 के दायें) भीतर की ओर। और भी दे.—चित्र सं. 52, 53, 54, 57, 60, 61 आदि।

ही आकर्षण की वस्तु है। इससे स्पष्ट है कि देवगढ़ का कलाकार विद्याधरों के अंकन के प्रति आसक्ति नहीं, अपितु अभिरुचि रखता था।

## 7. साधु-साधिव्यौ

साधु-साधिव्यौ को मूर्तरूप देने का विधान जैन प्रतिमा-शास्त्रों में नहीं मिलता। उनकी 'चरणपादुकाओं' और 'निसई' (निषेधिका) के निर्माण का विधान अवश्य है।<sup>1</sup> जैन ग्रन्थों में प्रयुक्त निसिदिया, निषीदिका, निसीधि, निशिद्धि, निषिद्धि और निषिद्धिगे आदि शब्द उक्त एक ही अभिप्राय को व्यक्त करते हैं।<sup>2</sup> इस विधान का सर्वप्रथम अपवाद तीर्थंकर ऋषभनाथ के द्वितीय पुत्र बाहुबली की मूर्ति-रचना में हमें मिलता है। द्वितीय अपवाद भी कदाचित् उनके अग्रज भरत की मूर्ति-रचना में प्राप्त होता है। भरत और बाहुबली की युगल-मूर्तियाँ देवगढ़ में अनेक स्थानों पर प्राप्त हुई हैं।<sup>3</sup>

गालियर में इन दोनों भाइयों की जो युगल-मूर्ति है, वह सम्भवतः संसार की सबसे बड़ी युगल-मूर्ति है। ये दोनों भाई उसी शरीर से मुक्त हो गये थे।<sup>4</sup> उक्त अपवादात्मक परम्परा तब और भी अधिक स्पष्ट हो जाती है, जब हमें राम-लक्ष्मण, सप्तर्षियों तथा कुछ अन्य मुनियों, जो चरम शरीरी थे, की भी मूर्तियाँ उपलब्ध होती हैं। और फिर देवगढ़ के कलाकार के समक्ष तो शास्त्रीय विधान से बढ़कर भक्ति का उद्रेक था। उसकी छैनी जब चलती थी तब भक्ति की अथाह और अटूट गंगा बहा देती थी, उसकी राह में परम्पराओं एवं शास्त्रीय विधानों के छोटे-मोटे पर्वत क्या करते। तभी तो वह भरत-बाहुबली की महान् प्रेरक मूर्तियाँ गढ़ता है,<sup>5</sup> आचार्य महाराज को उपदेशरत दिखाता है,<sup>6</sup> अध्यापन में संलग्न उपाध्याय परमेष्ठी को

1. ध्यात्वा यथास्वं गुर्वादीन् न्यसेत् तत्पादुकायुगे।

निषेधिकायां संन्यास-समाधिमरणादि च ॥

—पं. आशाधर : प्रतिष्ठासारोद्धार। (बन्वई, विक्रम सं. 1974), पृ. 1.108।

2. मुनि कान्तिसागर : खंडहरों का वैभव, पृ. 81।

3. देखिए—मं. सं. दो आदि।

4. (अ) जिनसेन : महापुराण (आदिपुराण), चूंकि पन्नालाल साहित्याचार्य सम्पादित (काशी, 1951 ई.) भाग दो, 36। 203 तथा 47। 388।

(ब) रविषेण : पद्मपुराण, पं. पन्नालाल जैन सम्पादित (काशी, 1958 ई.), प्रथम भाग, 4। 77।

5. मं. सं. दो, ग्यारह, साहू जैन संग्रहालय आदि में सुरक्षित। और भी दे.—चित्र सं. 86, 87, 88, 89।

6. मं. सं. एक, चार, तथा मं. 12 के सामने के अवशेष और मानस्तम्भ सं. 11 एवं द्वितीय कोट का प्रवेश-द्वार। और भी दे.—चित्र सं. 77, 78, 79, 80, 81, 82।

अंकित करता है' और आत्मसाधना में तन्मय साधु-साधियों को भी मूर्तरूप प्रदान करता है।<sup>2</sup>

कलाकार की इस अद्भुत, अपूर्व भक्ति-भावना ने देवगढ़ को, अन्य तीर्थक्षेत्रों की अपेक्षा कहीं अधिक आकर्षण प्रदान किया है। निस्सन्देह साधु-साधियों की इतनी अधिक और विविध मूर्तियाँ किसी भी तीर्थक्षेत्र में उपलब्ध नहीं हुई हैं।

### (अ) आचार्य

देवगढ़ में आचार्य<sup>3</sup> परमेष्ठी को प्रायः उपदेश मुद्रा में प्रस्तुत किया गया है।<sup>4</sup> उनके समक्ष साधु-साधियाँ और कभी-कभी श्रावक-श्राविकाएँ भी बैठकर उपदेशामृत का पान करती थीं।<sup>5</sup> चतुर्विध-संघ को उनके समक्ष भक्तिपूर्वक बैठ देखकर उनके आचार्यत्व अर्थात् सन्मार्ग पर स्वयं चलते हुए दूसरों को भी चलाने की योग्यता पर कोई सन्देह नहीं किया जा सकता। ज्ञान के भण्डार उपाध्याय परमेष्ठी को जब हम उनकी वन्दना करते हुए देखते हैं तब हमारी भक्ति-भावना उमड़ ही पड़ती है।

### (ब) उपाध्याय

देवगढ़ में आचार्यों के अतिरिक्त उपाध्यायों<sup>6</sup> की मूर्तियाँ भी दर्शनीय बन पड़ी

1. हाथी दरवाजा, द्वितीय कोट का प्रवेश-द्वार, मं. सं. एक, चार, साहू जैन संग्रहालय आदि तथा चित्र सं. 75 और 77 से 85 तक।
2. मं. सं. 10 के विभिन्न स्तम्भों पर। दे.—चित्र सं. 86 से 89 तक तथा 92, 94।
3. (अ) आचरन्ति यस्माद् व्रतानि इत्याचार्यः। यस्मात् सम्यग्ज्ञानादियुगाधारदाहृत्य व्रतानि स्वर्गापवर्गसुखामृतबीजानि भव्या हितार्थमाचरन्ति स आचार्यः। अकलंकदेवः तत्त्वार्थ वार्तिक (राजवार्तिक) : पं. महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य सम्पादित (काशी, 1957 ई.), द्वितीय भाग, पृ. 623।  
(ब) 'दंसणणाण पहाणे, वीरिय चारित्त-व्रतवायारे।  
अप्यं परं चर्जजइ, सो आइरियो मुणी ज्ञेओ।'  
नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती : द्रव्यसंग्रह (जबलपुर, 2492 वीर नि. संयत्), गाथा 52।  
(स) 'पञ्चधाचरन्त्याचारं शिष्यानाचरयन्ति च।  
सर्वशास्त्रविदो धीरास्तेऽत्राचार्याः प्रकीर्तिताः ॥'  
—मुनि आदिसागर : त्रिकालवर्ती महापुरुष, (वारासिवनी, 1959 ई.), पृ. 224।
4. दे.—द्वितीय कोट का प्रवेश-द्वार, मं. सं. एक, चार आदि तथा मानस्तम्भ सं. 11। और भी दे.—चित्र सं. 77 से 82 तक।
5. मं. सं. एक, चार, द्वितीय कोट का प्रवेश-द्वार तथा विभिन्न मानस्तम्भः। और भी दे.—चित्र सं. 77 से 82 तक।
6. (अ) 'उपेत्य यस्मादधीयते इत्युपाध्यायः। विनयोपेत्य यस्माद् व्रतशीलभावनाधिष्ठानादागमं श्रुताख्यमधीयते स उपाध्यायः।'  
—अकलंकदेव : तत्त्वार्थवार्तिक (राजवार्तिक), द्वि. भाग., पृ. 623।

हैं।<sup>1</sup> उनके हाथ का ग्रन्थ उनके उपाध्याय पद का प्रतीक है। वे कभी स्वयं पढ़ते दिखाई देते हैं,<sup>2</sup> कभी दो या अधिक मिलकर तत्त्वचर्चा करते हुए दिखाये गये हैं।<sup>3</sup> और कभी साधुओं तथा श्रावकों को धर्मोपदेश देते हुए अंकित हैं।<sup>4</sup> तो कभी पाठशालाओं में शिक्षा देते हुए दृष्टिगत होते हैं।<sup>5</sup> उनकी पाठशालाओं में विनयावनत साधुओं से लेकर बालकों की टोली भी उपस्थित होती थी,<sup>6</sup> परन्तु कभी भी वे उद्विग्न होकर क्रुद्ध नहीं होते थे। उनके इन सभी क्रियाकलापों से प्रकट होता है कि वे स्वाध्याय नामक तप के पाँचों अंगों का भली-भाँति पालन करते थे।<sup>7</sup>

## (स) साधु

साधुओं<sup>8</sup> के अंकन देवगढ़ में बहुत हैं। साधुओं में जिनकी मूर्ति का उल्लेख

(ब) 'जो खणत्तयजुत्तो, णिच्चं धम्मोवएसणे णिरदो।  
सो उवझाओ अप्पा, जदिवरवसहो णमो तस्स ॥'

—नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती : द्रव्यसंग्रह, गाथा 53।

(स) 'दिशन्ति द्वादशाङ्गादि शास्त्रं लाभदिवर्जिताः।  
स्वयं शुद्धव्रतोपेता उपाध्यायास्तु ते मताः ॥'

—मुनि आदिसागर : त्रिकालवती महापुरुष, पृ. 125।

1. साधु जैन संग्रहालय, दि. जैन चैत्यालय, मं. सं. एक, चार आदि तथा विभिन्न मानस्तम्भ और हाथी दरवाजा। और भी दे.—चित्र सं. 83, 84, 85, तथा 77 से 82 तक।
2. द्वितीय कोट का प्रवेश-द्वार, मं. सं. एक, चार तथा मं. सं. 12 के सामने पड़े हुए अवशेष। दे.—चित्र सं. 79, 81 और 82।
3. मं. सं. एक का पृष्ठभाग, चार तथा मं.सं. 22 के सामने पड़े हुए अवशेष और विभिन्न मानस्तम्भ। और भी दे.—चित्र सं. 75, 82।
4. मं. सं. एक, चार तथा मं.सं. 12 के सामने पड़े हुए अवशेष, द्वितीय कोट का प्रवेश-द्वार एवं विभिन्न मानस्तम्भ। दे.—चित्र सं. 77 से 82 तक।
5. दे.—चित्र सं. 77 से 82 तक।
6. द्वितीय कोट का प्रवेश-द्वार, मं.सं. चार तथा मं. सं. 12 के सामने पड़े हुए अवशेष। दे.—चित्र सं. 79, 81 और 82।
7. 'वाचनापृच्छनानुप्रेक्षाम्नायधर्मोपदेशाः।' —उमास्वामी : तत्त्वार्थसूत्र, अ. 9 सूत्र 25।
8. (अ) 'चिरप्रव्रजितः साधुः। चिरकालभावितप्रव्रज्यागुणः साधुरित्याम्नायते।' —अकलंकदेव : तत्त्वार्थवार्तिक (राजवार्तिक), पृ. 623।
- (ब) 'दंसणणाणसमग्गं, मग्गं मोक्खस्स जो हु चारितं।  
साधयदि णिच्चसुद्धं, साहू सो मुणी णमो तस्स ॥'

—नेमिचन्द्र सि.च. : द्रव्यसंग्रह, गाथा 54।

(स) 'ये व्याख्यान्ति न शास्त्रं न ददन्ति दीक्षादिकं च शिष्याणाम्।  
कर्मान्मूलनशक्ता ध्यानरतास्तेऽत्र साधवो ज्ञेयाः ॥'

—मुनि आदिसागर : त्रिकालवती महापुरुष, पृ. 225।

170 :: देवगढ़ की जैन कला : एक सांस्कृतिक अध्ययन



सर्वप्रथम होना चाहिए, वे हैं चक्रवर्ती<sup>1</sup> भरत<sup>2</sup> और कामदेव<sup>3</sup> बाहुबली<sup>4</sup> भरत की मूर्ति के साथ उनकी चक्रवर्तित्व की सूचक नौ निधियों<sup>5</sup> (नौ घड़ों के रूप में) (दे. चित्र संख्या 89) अंकित की गयी हैं। यह स्मरणीय है कि उनकी मूर्ति जहाँ भी मिली है, प्रायः द्विमूर्तिका के रूप में ही है।<sup>6</sup> जिनमें दूसरी उनके अनुज बाहुबली की होती है।<sup>7</sup> इसके विरुद्ध बाहुबली की मूर्ति स्वतन्त्र रूप से भी, बल्कि अपेक्षाकृत अधिक मिली है।<sup>8</sup> ये कामदेव के अवतार माने जाते हैं।

भरत ने अपनी दिग्विजय के सन्दर्भ में जब इनपर भी आक्रमण कर दिया<sup>9</sup> तब विजेता होकर<sup>10</sup> भी ये संन्यासी बन गये।<sup>11</sup> और फिर इन्होंने निरन्तर एक-वर्ष<sup>12</sup>

1. छह खण्ड पृथ्वी के स्वामी। चक्रवर्ती से सम्बन्धित अन्य ज्ञातव्य बातों के लिए देखिए—  
(अ) त्रिकालवर्ती महापुरुष, पृ. 174-186। (ब) बृहत् जैन शब्दार्णव, द्वितीय खण्ड, पृ. 451।
2. 'मनुश्चक्रभूतामाद्यः षट्खण्डभरताधिपः।  
राजराजोऽधिराट् सम्राडित्यस्योद्घोषितं यशः ॥'  
—जिनसेन : महापुराण (आदिपुराण), पं. पन्नालाल साहित्याचार्य सम्पादित (काशी, 1951 ई.), भाग दो, 37-20।
3. अनुपम सौन्दर्य सम्पन्न महापुरुष। इनके नामों तथा अन्य विशेषताओं के लिए द्रष्टव्य—  
(अ) मुनि आदिसागर; त्रिकालवर्ती महापुरुष, पृ. 200-204।  
(ब) बृहत् जैन शब्दार्णव, द्वितीय खण्ड, पृ. 419।
4. 'तत्कालकामदेवोऽभूद् युवा बाहुबली वली। रूपसम्पदमुत्तुङ्गा दधानोऽसुमतां मतान्।'  
दे.—जिनसेन : वही, भाग 1, पृ. 16-9। कामदेव—बाहुबली के सौन्दर्य वर्णन के लिए द्रष्टव्य—वही, 16, 10-26।
5. (अ) 'कालाख्यश्च महाकालो नैस्सर्प्यः पाण्डुकाह्वयाः। पद्मानाणव-पिङ्गाब्ज-सर्वरत्न-पदादिकाः।  
—जिनसेन : म. पु., 37-73।  
(ब) नमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती : त्रिलोकसार, पं. मनोहरलाल शास्त्री सम्पादित (बम्बई, 1918 ई.), गाथा 682। (स) नवनिधियों के विस्तृत परिचय के लिए द्रष्टव्य—जिनसेन : महापुराण (आदिपुराण), 37, 73-82।
6. साहू जैन संग्रहालय में चक्रवर्ती भरत की अकेली मूर्ति भी प्रदर्शित है। दे.—चित्र सं. 89।
7. मं. सं. दो, दे.—चित्र सं. 88।
8. मं. सं. दो, 11, साहू जैन संग्रहालय आदि में दे.—चित्र सं. 86, 87।
9. (अ) महापुराण (आदिपुराण), भाग दो, 36-60। (ब) रविषेण : पद्मपुराण, पं. पन्नालाल जैन सम्पादित (काशी, 1958 ई.), प्रथम भाग, 4-68।
10. (अ) महापुराण (आदिपुराण), भाग दो, 36-60। (ब) पद्मपुराण, प्रथम भाग, 4-72।
11. वही, दोनों, क्रमशः 36-104 और 4। 74-75।
12. (अ) 'गुरोरनुमतेऽधीती दधदेकविहारिताम्। प्रतिमायोगमावर्षम् आतस्थे किल संवृतः ॥'  
—दे.—महापुराण (आदिपुराण), भाग दो, 36-106।  
(ब) 'संत्यज्य स ततो भोगान् भूत्वा निर्वस्त्रभूषणः। वर्ष प्रतिमया तस्थी मेरुवन्निःप्रकम्पकः ॥'  
दे.—पद्मपुराण, प्रथम भाग, 4-75।

पर्यन्त मेरु-पर्वत की भाँति अडिग<sup>1</sup> रहकर जो अनुपम तपस्या की, उसके मूल्यांकन में दक्षिण<sup>2</sup> का कलाकार कितना ही सफल रहा हो, पर देवगढ़<sup>3</sup> के कलाकार की सफलता पर भी सन्देह नहीं किया जा सकता। वह उनके शरीर का आलिंगन करती हुई लताएँ<sup>4</sup> तो अंकित करता है, उसपर रेंगते हुए सर्प, वृश्चिक और छिपकलियाँ<sup>5</sup> आदि भी अंकित करता है।

1. साहू जैन संग्रहालय में प्रदर्शित बाहुबली : बाहुबली की एक मूर्ति<sup>6</sup> यहाँ ऐसी बन पड़ी है कि उसकी समानता कदाचित् कहीं न मिलेगी।<sup>7</sup> बाहुबली के दोनों ओर एक-एक स्त्री (खड़ी हुई) उनके शरीर पर चढ़ी हुई लताओं को एक-एक करके दूर कर रही हैं।<sup>8</sup> अपने भक्तों की इस तन्मयता का तनिक भी भान उन्हें नहीं है। यह दृश्य देखकर हमें भगवान् महावीर के समय की उस कथा का स्मरण हो आता है, जिसके अनुसार अपने पति महाराज श्रेणिक द्वारा डाले गये मृत सर्प को एक तपस्वी मुनि के गले से महारानी चेलना बड़ी ही भक्ति और सावधानी से अलग कर रही है।<sup>9</sup> कन्धों तक आ पहुँची जटाएँ और सादा भामण्डल इस मूर्ति की अन्य विशेषताएँ हैं।

कला की सूक्ष्मता, मुखाकृति की सजीव शान्ति, श्रीवत्स की लघुता और परिकर का अभाव इसे<sup>10</sup> गुप्तकाल के बाद निर्मित हुई कृति सिद्ध करते हैं। इस दृष्टि से बाहुबली की प्राचीन मूर्तियों में एक इसे भी स्वीकार करना पड़ेगा।

1. पद्मपुराण, प्रथम भाग, 4-75।
2. गंगवंशी राजा राघमल्ल (वि.सं. 1031-41) के मन्त्री और सेनापति चामुण्डराय द्वारा श्रवणबेलगोल (मैसूर) में निर्मापित गोम्मटेश्वर बाहुबली की जगदप्रसिद्ध मूर्ति।
3. दे.—साहू जैन संग्रहालय, मं. सं. दो और 11 में विद्यमान बाहुबली स्वामी की मूर्तियाँ।
4. दे.—मं. सं. दो एवं साहूजैन संग्रहालय में स्थित बाहुबली-मूर्तियाँ, तथा चित्र संख्या 86 और 88।
5. दे.—मं. सं. 2, 11 तथा साहू जैन संग्रहालय में स्थित बाहुबली-मूर्तियाँ तथा चित्र सं. 86, 87, 88।
6. साहू जैन संग्रहालय में सुरक्षित।
7. दे.—चित्र संख्या 86।
8. एलोरा की इन्द्रसभा गुफा (संख्या 33) में बाहुबली की एक ऐसी ही मूर्ति का आलेखन हुआ है। उसपर लताएँ चढ़ी हैं और उसके भी दोनों ओर खड़ी दो स्त्रियाँ उसकी लताओं को एक-एक कर हटा रही हैं (जबकि देवगढ़ में लताओं के साथ सर्प और छिपकली भी चढ़े हैं) ऊपर विद्याधर-युगल मालाएँ लिये उड़ रही हैं। एलोरा मूर्ति के लिए दे.—हेनरिच जिम्पर : दी आर्ट आफ इण्डियन एशिया, जिल्द एक तथा दो (न्यूयार्क, 1955 ई.), विवरण (जिल्द एक) पृ. 297, और फलक (जिल्द दो) 245।
9. डॉ. कामताप्रसाद जैन : महाराणी चेलनी (सूरत, 1967 ई.), पृ. 105-122।
10. दे.—चित्र संख्या 86।

172 :: देवगढ़ की जैन कला : एक सांस्कृतिक अध्ययन

2. मं. सं. 11 में स्थित बाहुबली : यहाँ बाहुबली की ऐसी मूर्ति भी उपलब्ध है<sup>1</sup> जिसपर सर्प, विच्छू आदि तो रेंगते हुए अंकित हैं परन्तु लताओं का आलेखन नहीं है।

3. भरत-बाहुबली : इनके अतिरिक्त भरत-बाहुबली की दो उल्लेखनीय द्विमूर्तिकाएँ<sup>2</sup> और भी दर्शनीय हैं। पहली द्विमूर्तिका किसी भित्ति के कोने का अंग है, क्योंकि उसके दो ओर मूर्तियाँ हैं। एक ओर बाहुबली की कायोत्सर्ग मूर्ति है,<sup>3</sup> जिसपर लिपटी हुई लताएँ, रेंगते हुए सर्प और एक छिपकली अंकित है, दूसरी ओर चक्रवर्ती भरत का अंकन है, उनके दायें उनके विशेष चिह्न नव-निधियाँ आदि अंकित हैं। दूसरी द्विमूर्तिका भी किसी भित्ति के कोने का अंग है और उसमें भी इसी प्रकार के अंकन हैं।

4. भरत : साहू जैन संग्रहालय में चक्रवर्ती भरत की नवनिधि सहित एक मनोरम मूर्ति प्रदर्शित है।<sup>4</sup> सादे प्रभामण्डल के अतिरिक्त नौ घड़ों के रूप में नवनिधियाँ प्रदर्शित हैं। केशराशि और मुखमुद्रा अत्यन्त सुन्दर है।

## 8. आचार्य, उपाध्याय और साधुओं के मूर्त्यकन

### (अ) आचार्य-मूर्तियाँ

1. मं. सं. एक के पीछे जड़ी आचार्य मूर्ति (छत्रधारी श्रावक सहित) : आचार्य परमेष्ठी<sup>5</sup> की मूर्तियों में वह सर्वाधिक उल्लेखनीय है जिसमें, मध्य में एक हृष्ट-पुष्ट आचार्य<sup>6</sup> विराजमान हैं। उनके दोनों ओर एक-एक पुस्तकधारी उपाध्याय परमेष्ठी बैठे हैं, जिनके दायें हाथ खण्डित हैं। आचार्य की मुद्रा किञ्चित् क्रुद्ध प्रतीत होती है और उपाध्याय भी खिन्न या आतंकित लगते हैं।<sup>7</sup> उपाध्यायों द्वारा किसी त्रुटि के हो जाने पर आचार्य ने कदाचित् उन्हें प्रायश्चित्त दिया होगा। आचार्य के दायें और उपाध्याय के पीछे एक अंजलिबद्ध साधु बाजू में पीठी दबाये विनय से झुका है, दूसरी ओर एक छत्रधारी श्रावक खड़ा है। छत्र की छड़ी खण्डित हो गयी है।

1. मं. सं. 11 के दूसरे खण्ड के गर्भगृह में स्थित। इस पर सर्पों को हटाते हुए कुछ भक्त भी अंकित हैं। दे.-चित्र सं. 87।

2. मं. सं. दो में अवस्थित फलक क्र. पाँच और छह पर।

3. दे.-चित्र सं. 88।

4. दे.-चित्र सं. 89।

5. मं. सं. एक के पृष्ठभाग (पश्चिम) में जड़ी हुई।

6-7. दे.-चित्र सं. 77।

2. मं. सं. एक के पीछे जड़ी आचार्य मूर्ति : एक विशाल शिलापट्ट<sup>1</sup> पर जिसके दोनों कोनों पर एक-एक कायोत्सर्ग तीर्थकर मूर्ति अंकित है, मध्य में एक हृष्ट-पुष्ट पुस्तकधारी आचार्य बैठे हैं,<sup>2</sup> उनके दोनों ओर एक-एक उपाध्याय पुस्तक लिये हुए निदर्शित हैं। उपाध्यायों के पीछे खड़े हुए एक-एक अंजलिबद्ध साधु आचार्य को नमस्कार कर रहे हैं। उपाध्यायों का एक-एक हाथ वितर्क मुद्रा में है जो हमें महात्मा बुद्ध की धर्म-प्रवर्तन मुद्रा का स्मरण कराती है।

3. अशोक वृक्ष के नीचे आचार्य का अंकन : एक अन्य शिलाफलक<sup>3</sup> पर अशोक वृक्ष का अंकन है, उसके नीचे हृष्ट-पुष्ट आचार्य एवं उनके दोनों ओर एक-एक उपाध्याय बैठे हैं। अशोक वृक्ष के ऊपर मध्य में पद्मासन पार्श्वनाथ तथा उनके दोनों ओर तीन-तीन साधु कायोत्सर्ग मुद्रा में अंकित हैं।

4. आचार्य की विरल मूर्ति (छत्रधारिणी श्राविका सहित) : मं. सं. एक के मण्डप (पूर्व) में आचार्य की एक महत्तूपर्ण तथा विरल मूर्ति जड़ी हुई है।<sup>4</sup> यद्यपि इस पद्मासन मूर्ति के दोनों हाथ खण्डित हैं तथापि दायें हाथ में ग्रन्थ स्पष्ट दिखाई पड़ता है। पादपीठ में उनकी पीछी का सुस्पष्ट अंकन हुआ है। आचार्य की केशराशि ऐसी उगी हुई दिखाई पड़ती है जैसी कि केशलुंचन के पश्चात् उगती है।

इनके दायें तथा बायें दो उपाध्याय पद्मासन और उपदेश मुद्रा में स्थित हैं तथा अपने हाथ में ग्रन्थ लिये हुए हैं। आचार्य के दायें (पार्श्व में) एक श्रावक का अंकन है। उसका दायें हाथ खण्डित है और उसके दायें कंधे पर पीछे की ओर एक झोली टँगी हुई है। इस श्रावक के दोनों हाथ कलाइयों से टूट गये हैं किन्तु उनके शेष भाग की स्थिति से ज्ञात होता है कि वह विनयपूर्वक हाथ जोड़े हुए था। कदाचित् वह अपने हाथों में चँवर लिये था। उसका मस्तक झुका हुआ किन्तु खण्डित है।

आचार्य के बायें ओर उपाध्याय के पीछे एवं आचार्य के कमण्डलु के पास एक श्राविका आचार्य के ऊपर छत्र लगाये हुए खड़ी है। यह छत्र किंचित् खण्डित होकर भी अपनी कलागत विशेषता और विरलता के लिए उल्लेखनीय है।

इस आचार्य मूर्ति के पादपीठ में आर्यिकाएँ और श्राविकाएँ बन्दना करती हुई अंकित की गयी हैं। आर्यिकाओं की वाजू में पीछियाँ दबी हैं तथा श्राविकाएँ नारियल लिये हुए हैं। आचार्य की मुखमुद्रा अत्यन्त प्रशान्त और प्रभावोत्पादक है। सम्पूर्ण अंकन अत्यन्त नयनाभिराम है।

1. दे.—मं. सं. एक के पृष्ठ भाग में जड़ा हुआ।

2. दे.—चित्र सं. 78।

3. दे.—मं. सं. एक के पृष्ठ भाग में (दायें ओर) जड़ा हुआ।

4. दे.—चित्र सं. 80।

5. कुलपति के रूप में आचार्य : एक शिलाफलक<sup>1</sup>, (1' 10" × 5' 3") और भी अधिक उल्लेखनीय है। इसपर एक पाठशाला का अनुपम दृश्य अंकित है,<sup>2</sup> जिसके अन्तर्गत एक आचार्य अपने विशाल परिकर के साथ अंकित हुए हैं। इस शिलाफलक में दो पंक्तियाँ हैं। नीचे की पंक्ति में सर्वप्रथम (बायें से दायें) चार कमण्डलु रखे हुए दिखाये गये हैं, जिनके अधिकारी साधु ऊपर की पंक्ति में अध्ययनरत हैं। तत्पश्चात् एक स्तम्भ के अन्तर से चार आर्यिकाएँ और श्राविका हाथ जोड़े हुए विनय से झुकी खड़ी हैं। आर्यिकाओं के सामने उनके कमण्डलु रखे हैं तथा बाजू में पीछियाँ दबी हैं। श्राविका के हाथ में कमलपुष्प-जैसी कोई वस्तु है। फिर दो स्तम्भों के मध्य एक दूटदार मेज रखी है जिसके दोनों ओर एक-एक कमण्डलु रखा है। इनमें से एक कमण्डलु के अधिकारी साधु तो ऊपर की पंक्ति में बैठे वितर्क कर रहे हैं परन्तु दूसरे के अधिकारी अनुपस्थित हैं। इसके पश्चात् पुनः पूर्व की भाँति एक श्राविका हाथ में नारियल-जैसा कुछ लिये हुए एवं चार आर्यिकाएँ पूर्ववत् किन्तु कुछ अधिक झुकी हुई अंकित हैं।

इन सभी श्राविकाओं तथा आर्यिकाओं के शारीरिक एवं भावात्मक अंकन में कलाकार अत्यन्त सफल हुआ है। 'चतुर्विंशति पट्टों' का अंकन करनेवाले कुछ कलाकारों की भाँति उसने प्रमाद या अकुशलता का परिचय नहीं दिया है।

आर्यिकाओं के अनन्तर एक स्तम्भ के अन्तर से पुनः चार कमण्डलु रखे हैं, जिनके अधिकारी साधु ऊपर की पंक्ति में अध्ययनरत हैं। ऊपर की पंक्ति में अंकित सभी आकृतियों के मस्तक तथा कुछ के हाथ खण्डित हैं। मध्य में एक हृष्ट-पुष्ट आचार्य बायें हाथ में पुस्तक लिये हुए बैठे हैं तथा दायें हाथ की सामने खुली हुई हथेली (चरद मुद्रा में) उनकी जाँघ पर रखी है। उनके दायें पुस्तकधारी उपाध्याय बैठे हैं जिनका दायें हाथ वितर्क मुद्रा में है। इनका आचार्य की ओर किञ्चित् मुड़कर बैठना और उनकी आकृति का आचार्य की आकृति से अपेक्षाकृत छोटी होना, इनके विनयशील होने की सूचना देता है। इनके दायें चार साधु इन्हीं की ओर मुख किये हुए और बायें हाथ में पुस्तक लिये बैठे हैं। उनके पीछे उनकी पीछियाँ टिकी हुई दिखती हैं। इन चारों के दायें हाथ खण्डित हैं। आचार्य की बायीं ओर भी ठीक यही दृश्य अंकित है, परन्तु उसमें दो उपाध्यायों की पीछियाँ अदृश्य हैं, जो एक समस्या हैं।

6. पाठशालाओं के अन्य अंकन : पाठशालाओं के और भी अंकन<sup>3</sup> यहाँ

1. मं. सं. 4 के भीतर उत्तरी भित्ति में जड़ा हुआ।
2. दे.-चित्र सं. 79।
3. देवगढ़ के अन्य पाठशाला दृश्यों के लिए देखिए—द्वितीय कोट के प्रवेश-द्वार का सिरदल, मं.सं. एक, चार, तथा स्तम्भ 3, 11 आदि।

तथा मथुरा, अजन्ता, गान्धार, भुवनेश्वर, खजुराहो आदि में भी पाये गये हैं, परन्तु इतनी सूक्ष्मता, विविधता और विस्तार कहीं नहीं है। पाठशाला के इस प्रकार के दृश्यों को अंकित करने की प्रेरणा खजुराहो के कलाकार ने निःसन्देह देवगढ़ के कलाकार से प्राप्त की थी।

## (ब) उपाध्याय मूर्तियाँ

देवगढ़ में उपाध्याय परमेष्ठी का अंकन आचार्यों के सान्निध्य में तथा विभिन्न पाठशाला दृश्यों में तो हुआ ही है, स्वतन्त्र रूप से भी उनकी अनेक मूर्तियों का निर्माण यहाँ हुआ है। उनमें से कुछ का विवरण प्रस्तुत है।

1. पद्मासनस्थ उपाध्याय मूर्ति : उपाध्याय परमेष्ठी की एक सुन्दर मूर्ति<sup>1</sup> सम्प्रति साहू जैन संग्रहालय में सुरक्षित है।<sup>2</sup> 1 फुट 11 इंच ऊँचे तथा 1 फुट 7 इंच चौड़े शिलाफलक पर 1 फुट 2 इंच ऊँचे और 11 इंच चौड़े उपाध्याय परमेष्ठी पद्मासन में अंकित हैं। उनके बायें हाथ में ग्रन्थ है जबकि दायें वितर्क मुद्रा में है। यह देखकर धर्मप्रवर्तन मुद्रा का स्मरण सहज ही हो आता है। इनके दायें एक बालक हाथ जोड़े हुए विनय-भाव प्रदर्शित कर रहा है। उपाध्याय की मुखमुद्रा प्रसन्न, शान्त और प्रभावोत्पादक है। इनके पृष्ठभाग में पत्रायलि का सुन्दर अलंकरण है। इसका निर्माणकाल नौवीं-दसवीं शताब्दी प्रतीत होता है। इस मूर्तिफलक में सबसे ऊपर लघु आकार में पाँच तीर्थकर (दो कायो. + एक पद्मा. + दो कायो.) भी अंकित हुए हैं।

2. अभिलिखित उपाध्याय मूर्ति : शिल्पचातुर्य, भावभंगिमा, कलाप्रियता आदि अनेक दृष्टियों से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उपाध्याय परमेष्ठी की एक सर्वांग-सुन्दर मूर्ति<sup>3</sup> यहाँ<sup>4</sup> और भी प्राप्त हुई है।<sup>5</sup> उपाध्याय एक ऊँची चौकी पर उद्विधत पद्मासन में बैठे हैं। उस चौकी से जुड़ी हुई एक छोटी चौकी पर उनका दायें चरण तथा बायें चरण की अँगुलियाँ रखी हैं। इनका दायें हाथ उपदेशमुद्रा में वक्ष तक ऊपर उठा है तथा बायें जंघा पर रखा है। उसकी खुली हथेली पर ग्रन्थ रखा है, जिसे

1. दे.—चित्र सं. 84।

2. इसे पर्वत के जैन स्मारकों में से यहाँ लाकर प्रदर्शित किया गया है।

3. दे.—चित्र सं. 83।

4. सम्प्रति देवगढ़ ग्राम में दिगम्बर जैन चैत्यालय में सुरक्षित।

5. कनिंघम, फुहरर, साहनी आदि पुरातत्त्व अन्वेषकों को यह मूर्ति उपलब्ध नहीं हो सकी थी। क्योंकि मं. सं. 12 के गर्भगृह के टूटे हुए वेड़े (सहतीर) को सुरक्षा की दृष्टि से सन्हालने हेतु उक्त विद्वानों के पर्यटन के पूर्व ही लोक निर्माण विभाग द्वारा एक दीवार का निर्माण कराया गया था। उस दीवार में एक मूर्ति भी पत्थर के रूप में समाविष्ट कर दी गयी थी। अभी कुछ वर्ष पूर्व श्री परमानन्द बरया ने बड़ी सावधानी के साथ उस दीवार को हटाया था, दीवार की सामग्री में यह महत्त्वपूर्ण मूर्ति भी प्राप्त हुई।

तर्जनी दवाये हुए है। मुखमुद्रा शान्त, सौम्य और गम्भीर बन पड़ी है। उनके दायें पार्श्व में पीछी और कमण्डलु दिखाये गये हैं। चौकी के समतल पर दोनों ओर एक-एक श्राविका हाथ जोड़े हुए बैठी हैं। चौकी के नीचे संख्या 1333 का पाँच पंक्तियों में एक अभिलेख उत्कीर्ण है, जिसमें नन्दिसंघीय बलात्कार गण के आचार्य कनकचन्द्र देव, उनके शिष्य लक्ष्मीचन्द्र देव और उनके भी शिष्य हेमचन्द्र देव तथा कुछ अन्य नाम अभिलिखित हैं।<sup>1</sup> इस मूर्ति की ऊँचाई 2 फुट 1½ इंच तथा चौड़ाई 1 फुट 6 इंच है।

**3. तीर्थकर के परिकर में उपाध्याय मूर्तियाँ :** उपाध्याय की दो मूर्तियाँ एक शिलाफलक पर एक तीर्थकर मूर्ति के परिकर के रूप में भी प्रस्तुत की गयी हैं।<sup>2</sup> दोनों उपाध्यायों के<sup>3</sup> बीच एक दूटदार मेज रखी है। दायीं ओर के उपाध्याय जी का दायाँ हाथ ऊपर को उठा है, वे दूसरे उपाध्याय से या तो कुछ मॉग रहे हैं या उन्हें कुछ समझा रहे हैं। दूसरे उपाध्याय के बायें हाथ में पुस्तक है जबकि दायीं हाथ खण्डित है।

**4. तोरण पर अध्यापनरत उपाध्याय :** एक तोरण एक ही साथ छह अध्यापनरत उपाध्यायों को प्रस्तुत करता है।<sup>4</sup> यह तोरण द्वितीय कोट के प्रवेश-द्वार पर संयोजित किया गया है, जो परकोटे के निकट ही नदी की ओर से लाया गया था। इसके सामने की ओर मध्य में तीर्थकर की एक कायोत्सर्ग मूर्ति है। इस मूर्ति के दोनों पार्श्वों में एक-एक आकृति उसकी उपासना में मग्न दिखाई गयी है। उसकी बायीं ओर पाठशाला का एक मनोज्ञ दृश्य अंकित है। उपाध्याय परमेष्ठी अपने बायें हाथ में पीछी लिये हैं तथा दायीं वरदमुद्रा में किये आसीन हैं। इनकी दायीं ओर पाँच मुनि अंजलिबद्ध दिखाये गये हैं, जो कदाचित् अपने उपाध्याय से अग्रिम पाठ हेतु अभ्यर्थना कर रहे हैं।

उपाध्याय की बायीं ओर हाथ जोड़े हुए दो अन्य मुनियों का अंकन है जो एक अन्य उपाध्याय की ओर उन्मुख हैं। दूसरे उपाध्याय की ठीक बायीं ओर भी उन्हीं की ओर मुख किये एक मुनि प्रदर्शित हैं। इन मुनि के बाद एक तीसरे उपाध्याय का अंकन है, जिनकी बायीं ओर एक अंजलिबद्ध साधु अंकित हैं। तीर्थकर मूर्ति की बायीं ओर भी उपर्युक्त दृश्यावलि ही कुछ विशेषताओं के साथ पुनः प्रस्तुत की गयी है।

**5. अन्य उपाध्याय मूर्तियाँ :** उक्त तोरण (चित्र संख्या 81) की भाँति एक

1. सम्पूर्ण अभिलेख के लिए देखिए--परि. द. अभि.क्र. तीन।
2. परि. सं. धार के समग्र में पश्चिमी भाग में जड़ा हुआ।
3. परि. चित्र सं. 75।
4. परि. चित्र सं. 81।

अन्य द्वार तोरण, मं. सं. 12 के अर्धमण्डप के सामने रखा हुआ है,<sup>1</sup> जिसमें मध्यवर्ती पद्मासन तीर्थंकर मूर्ति के दायें अपने आचार्य से दो उपाध्याय अध्ययन कर रहे अथवा अपनी शंकाओं का निराकरण करा रहे हैं। इसके पश्चात् एक अन्य आचार्य अपने भक्त को सम्बोधित कर रहे हैं। मध्यवर्ती तीर्थंकर मूर्ति की बायीं ओर एक मुनि अपने उपाध्याय से अध्ययन में प्रवृत्त दिखाये गये हैं और इसके अनन्तर एक मुनि अपने विनम्र भक्तों को शास्त्र श्रवण करा रहे हैं। इस तोरण की दूटदार में जें विशेष रूप से उल्लेखनीय कही जा सकती हैं।

अन्य उल्लेखनीय उपाध्याय मूर्तियाँ मं. सं. एक के दक्षिण में ध्वस्त अधिष्ठान पर<sup>2</sup>, साहू जैन संग्रहालय में तथा स्तम्भ संख्या दो<sup>3</sup> (दक्षिण ओर), चार<sup>4</sup> आदि पर देखी जा सकती हैं।

## (स) साधु-मूर्तियाँ

उपरिवर्णित आचार्य-उपाध्याय-मूर्तियों के अतिरिक्त देवगढ़ में साधुओं की अनेक स्वतन्त्र मूर्तियाँ भी प्राप्त हुई हैं।

1. साधु द्वारा आहार ग्रहण : मं. सं. 12 के गर्भगृह और प्रदक्षिणा पथ के प्रवेश-द्वारों के दायें पक्षों पर एक मुनि का अंकन इस प्रकार हुआ है : मुनि खड़े हैं। भक्त उनके चरणों का प्रक्षालन कर रहा है और उसकी पत्नी कलश लिये खड़ी है।<sup>5</sup> यह आहार-दान का दृश्य है। इसे देखकर भ. ऋषभनाथ को प्रथम पारणा देते हुए राजकुमार श्रेयांस तथा उनके बड़े भाई राजा सोमप्रभ एवं भाभी रानी लक्ष्मीमती का स्मरण हो जाता है।<sup>6</sup>

2. सम्बोधन : मं. सं. 23 के प्रवेश-द्वार के दायें पक्ष पर एक मुनि का अंकन कदाचित् विहार की स्थिति में हुआ है, किन्तु मार्ग में किसी भक्त श्राविका के द्वारा विनय प्रदर्शित करने पर उसे सम्बोधित कर रहे हैं। मुनि अपने बायें हाथ में (टिहुनी के पास) कमण्डलु लटकाये हैं, पीछी कन्धे पर रखे हैं तथा दायें हाथ को उपदेश-मुद्रा में किये सम्बोधित कर रहे हैं। उनके सामने एक श्राविका सविनय नमन करती हुई अंकित है।<sup>7</sup>

1. दे.-चित्र सं. 82।

2. दे.-चित्र सं. 85।

3-4. दे.-चित्र सं. 43।

5. दे.-चित्र सं. 22 और 23।

6. आ. जिनसेन : महापुराण (आदिपुराण), त्रिल्य एक, पर्व 20, श्लोक 100 तथा 126।

7. इसी प्रकार का एक अंकन मं. सं. अटारह के महामण्डप के प्रवेश-द्वार पर भी देखा जा सकता है।



3. शूकर को सम्बोधन : मं. सं. 12 के गर्भगृह के प्रवेश-द्वार के दायें पक्ष पर एक मुनि शूकर को सम्बोधित करते हुए अंकित हैं।<sup>1</sup> इस अंकन में सम्बोधित प्राणी की शरीराकृति मानवाकार है। जबकि मुखाकृति शूकर-जैसी।

4. साधुविहार : देवगढ़ में मुनि-विहार से सम्बन्धित अनेक अंकन प्राप्त होते हैं। मं. सं. 12 के सामने पड़े हुए अवशेषों में एक द्वारपक्ष पर मुनि-विहार का सुन्दर निदर्शन हुआ है।<sup>2</sup> कोई भक्त उनका अनुगमन कर रहा है और उनके सामने एक दूसरा भक्त चरणवन्दना करता हुआ दिखाया गया है।

5. निश्चल योगिराज : मं. सं. 12 के अर्धमण्डप के स्तम्भों पर<sup>3</sup> तपस्यारत मुनि का अंकन अत्यन्त प्रभावोत्पादक है। दो कोष्ठकों में मुनि के दोनों ओर खड़ी हुई स्त्रियाँ उन्हें अपनी ओर आकृष्ट करने का प्रयत्न कर रही हैं किन्तु योगिराज अपनी साधना में ही लीन हैं। अतः ऐसा प्रतीत होता है कि ये स्त्रियाँ निश्चल योगिराज को रिझाने का निष्फल प्रयत्न कर रही हैं।

6. संवाहन कराते हुए मुनि : मं. सं. 18 के महामण्डप के प्रवेश-द्वार पर दो कोष्ठकों में एक-एक साधु लेटे हुए अंकित किये गये हैं।<sup>4</sup> उनके पीछी-कमण्डलु दूर पड़े हैं और एक-एक स्त्री उनके दायें पैरों को ऊपर उठाकर संवाहन कर रही है।

इसी द्वार पर इसी प्रकार का एक अंकन और भी हुआ है किन्तु उसमें मुनि का संवाहन कोई भक्त पुरुष कर रहा है।

## (द) ऐलक

देवगढ़ की जैन मूर्ति कला में ऐलक<sup>5</sup> का भी अंकन हुआ है। यहाँ के मं. सं. 15 के महामण्डप में ऐलक की एक विशाल मूर्ति अवस्थित है। मूर्ति में मात्र कोपीन और कटिसूत्र स्पष्ट दिखाई देते हैं। मुखमुद्रा प्रशान्त, निर्विकार और संसार से विरक्त अंकित है।

1. दे.-चित्र सं. 22।

2. दे.-चित्र सं. 90।

3. दे.-चित्र सं. 16।

4. दे.-चित्र सं. 91 और 116।

5. 'कोपीनमात्रयसना करतल-भोजी स्थित्वासनेऽशनविधानपरः प्रकामम् ॥ स्वमोक्षमार्ग-निरतः विरतोऽन्यक्रायात् स्यादिलको निजरतः प्रतिभाप्रयोगी ॥'

—आ. कन्थुसागर : शायक धर्म प्रदीप, पं. जगन्मोहन लाल सि. शा. सम्पा. (बनारस, 2481 की. नि.), पृष्ठ 212 और उसकी व्याख्या।

## (इ) साध्वी मूर्तियाँ

देवगढ़ की जैन कला में साध्वियों के अंकन अनेक रूपों में हुए हैं। कभी वे पाठशालाओं में उपस्थित दिखाई गयी हैं, कभी प्रवचन करती हुई अंकित की गयी हैं तो कभी आत्मचिन्तन में लीन आलिखित हैं।

**1. प्रतिक्रमण कराती हुई आर्यिका :** मं. सं. दस के मध्यवर्ती तीन स्तम्भों में से दक्षिणी स्तम्भ के पूर्वी कोष्ठक में आर्यिका<sup>1</sup> का उल्लेखनीय अंकन हुआ है।<sup>2</sup> एक कोष्ठक में आर्यिका खड़ी हैं। दायें उनका कमण्डलु रखा है और पीछी उलटी टंगी है। उनके बायें एक स्त्री कोने में दीवार से टिकी हुई उकडू बैठी है। उसने कुहनियाँ घुटनों पर रख छोड़ी हैं। हाथों के ऊपर का भाग खण्डित हो गया है, जिनमें कदाचित् पीछी रही होगी और वे अंजलिबद्ध भी रहे होंगे। आर्यिका के बायें रखा हुआ छोटा कमण्डलु कदाचित् इसी स्त्री का होगा। इस दृष्टि से यह स्त्री क्षुल्लिका या आर्यिका ही हो सकती है, श्राविका नहीं। प्रतीत होता है कि वरिष्ठ आर्यिका अपने अधीन कनिष्ठ आर्यिका या क्षुल्लिका को प्रतिक्रमण करा रही है।

इसी मन्दिर के मध्य के स्तम्भ में भी नीचे ध्यानरत आर्यिका का एक और अंकन है।

**2. प्रवचन करती हुई आर्यिका :** यहाँ के स्तम्भ संख्या 11 पर दक्षिणी ओर एक विदुषी आर्यिका साध्वियों तथा श्राविकाओं को सम्बोधित कर प्रवचन कर रही हैं। उनके दोनों ओर एक-एक आर्यिका तथा दो-दो श्राविकाएँ बैठी हैं।

**3. आर्यिका-संघ :** यहाँ के स्तम्भ संख्या तीन पर दक्षिणी तथा पश्चिमी कोष्ठकों में आर्यिका-संघ का अंकन हुआ है। दक्षिणी कोष्ठक में छह आर्यिकाएँ अपनी पीछी-कमण्डलु सहित विनयावनत मुद्रा में आलिखित हैं, जबकि पश्चिमी कोष्ठक में क्रमशः एक साधु के पश्चात् एक आर्यिका, इस प्रकार कुल तीन साधु और तीन आर्यिकाएँ अंकित हैं। इस कोष्ठक के सभी साधु-साध्वियाँ अपनी पीछियाँ तो बगल में दबाये हैं किन्तु उन सभी के कमण्डलु अदृश्य हैं।

उपर्युक्त विवेचन और मूर्त्यकनों से यह स्पष्ट है कि देवगढ़ की साधु-साध्वी संस्था अत्यन्त कर्तव्यपरायण और सावधान थी। समाज और संघ को सत्पथ पर बनाये रखने हेतु प्रायः वे सभी प्रयत्नशील रहते थे। बहुत कम साधु-साध्वियाँ उत्सूत्र-प्रवृत्ति की ओर उन्मुख थे।

1. भारत प्रतिमा के व्रत पालनेवाली तथा ऐलक के समान आचरण करनेवाली महिला। उसे सफेद साड़ी, पीछी, कमण्डलु तथा शास्त्र का ही परिग्रह करना चाहिए और प्रवचन शास्त्र में अंकन करना चाहिए। ओर भी वे। वृ. जे. शर्मा, पृ. 381।

2. अंकन संख्या 111।

## 9. श्रावक-श्राविकाएँ

श्रावक-श्राविकाओं की मूर्तियों का विधान भी साधु-साध्वियों की मूर्तियों की ही भाँति जैन मूर्ति-शास्त्र में दृष्टिगत नहीं होता। इस विधान का उल्लंघन, जहाँ तक साधुओं का प्रश्न है, भरत और बाहुबली की मूर्तियाँ बनाकर किया गया। परन्तु जहाँ तक श्रावक-श्राविकाओं का प्रश्न है, कहा नहीं जा सकता कि कब और किस रूप में इस विधान का उल्लंघन किया गया।

मथुरा में शक-काल की जो मूर्तियाँ मिली हैं, उनमें एक श्राविका<sup>1</sup> की भी है। इस दृष्टि से उक्त उल्लंघन का सूत्रपात शक-काल में हुआ प्रतीत होता है। कदाचित् इसी समय से दानदाताओं और दानदात्रियों की मूर्तियाँ भी बनने लगीं। तीर्थकर की पूजा-भक्ति करते हुए श्रावक-युगल भी इसके पश्चात् अंकित किये जाने लगे। फिर तो श्रावक-श्राविकाओं के दैनिक जीवन की विभिन्न झाँकियाँ भी प्रस्तुत की जाने लगीं। चन्देलों तथा कच्छपघातों का समय आने तक ये झाँकियाँ धार्मिक क्षेत्र से दूर हो गयीं और उनका सामाजिक महत्त्व भी कम रह गया।

देवगढ़ में प्राप्त श्रावक-श्राविकाओं की मूर्तियों में धार्मिक तत्त्व ही अधिकतर हैं। दो-एक स्थानों पर ही ऐसे अंकन मिलते हैं जिन्हें चन्देलकालीन धर्मबाह्य अंकनों का पूर्वरूप कहा जा सकता है।

### देवगढ़ की उल्लेखनीय श्रावक-श्राविका-मूर्तियाँ

1. तीर्थकर की माता : देवगढ़ में श्रावक-श्राविकाओं की मूर्तियों में सर्वाधिक उल्लेखनीय मूर्ति तीर्थकर की माता की है।<sup>2</sup> इसकी लम्बाई<sup>3</sup> 3 फुट 9½ इंच और ऊँचाई बायें कोने पर 2 फुट 1 इंच तथा दायें कोने पर 1 फुट 9 इंच है। आसन पर क्रमशः हाथी, सिंह, सिंह, हाथी और बालकधारिणी देवी अंकित हैं। इनके पार्श्व में खड़ी एक देवी तीर्थकर की माता को चँवर डुला रही है। माता दायीं करवट लेटी हैं। उनकी दायीं कोहनी शय्या पर टिकी है और उठी हुई हथेली पर शिर थमा है। बायाँ पैर दायें के पीछे, घुटने से लगभग 120° का कोण बनाता हुआ शय्या पर रखा है। बायें घुटने पर रखा बायाँ हाथ विश्राम ले रहा है। उस पर से लहराता हुआ

1. (अ) वी.ए.स्मिथ : जैन स्तूप एण्ड अदर एण्टिक्विटीज़ ऑफ़ मथुरा (इलाहाबाद, 1901), पृ. 21 तथा फलक 14।

(ब) वासुदेवशरण अग्रवाल : गाइड टु लखनऊ म्युजियम, पृ. 14 तथा आकृति एक।

2. दे.—चित्र सं. 93। यह मूर्ति-फलक मं. सं. चार के गर्भगृह की बायीं भित्ति में जड़ा हुआ है।

3. श्री दयाराम साहनी ने गलती से इसे 3 फुट साढ़े आठ इंच नापा था। दे.—ए.पी.आर.—1918, परि. 'अ', अभि. क्र. 29, पृ. 14।

उत्तरीय कमर का स्पर्श कर रहा है। दायाँ पैर सीधा और ऊपर को उठा हुआ है जिसे पास में बैठी हुई एक देवी अपने बायें हाथ से सँभाले है तथा दायें से उसका संवाहन कर रही है। माता का मुकुट, कर्णाभरण, मोहनमाला, टुसी,<sup>1</sup> केयूर, कंकण, मेखला और पायल अत्यन्त सूक्ष्मता से अंकित हैं।

फलक पर फणामण्डित पार्श्वनाथ सहित चौबीस तीर्थकरों की प्रस्तुति है। इस प्रकार यह पाषाण खण्ड चौबीस तीर्थकरों का प्रतिनिधित्व तो करता ही है, उनकी माताओं का संयुक्त प्रतिनिधित्व भी पूर्ण सफलता से करता है। माता के मुखमण्डल पर जहाँ एक ओर स्निग्ध पवित्रता और सौन्दर्य की रेखाएँ उभर उठी हैं, वहाँ दूसरी ओर तीर्थकर की माता होने-जैसे महान् गौरव की भावना भी हिलोरें ले रही है। शय्या के नीचे एक पंक्ति का अभिलेख उत्कीर्ण है। उसमें इस मूर्ति के समर्पणकर्ता का नाम और निर्माणकाल संवत् 1030 (ई. सन् 973) का उल्लेख है।<sup>2</sup>

**2. तीर्थकर-माता का एक अन्य मूर्त्यकन :** देवगढ़ में तीर्थकर की माता का अंकन और भी एक स्थान पर हुआ है।<sup>3</sup> सबसे नीचे दो सिंहाकृतियाँ अंकित हैं। उनके ऊपर स्थित शय्या पर माता उपधान पर मस्तक रखे दायें करबट से लेटी हैं। उनके दोनों ओर खड़ी एक-एक देवी चँवर डुला रही है। माता के पीछे कल्पवृक्ष का अंकन है। इस पर विद्यमान आसन पर तीर्थकर की एक पद्मासन मूर्ति और उसके दोनों ओर एक-एक चँवरधारी यक्ष अंकित हैं।

तीर्थकर की माता का मूर्त्यकन सर्वप्रथम कदाचित् शक-काल में हुआ। मथुरा में प्राप्त हुए शिलाफलक<sup>4</sup> के मध्य में तीर्थकर की माता खड़ी हैं। उनकी वेशभूषा प्रभावोत्पादक है। दायाँ हाथ ऐसा प्रतीत होता है मानो अभयमुद्रा में हो। बायाँ हाथ कमर पर रखा है, जिससे कुहनी आगे की निकल आयी है। माता के दायें खड़ा एक परिचारक उनके मस्तक पर छत्र धारण किये है। वहीं एक परिचारिका हाथ में माला लिये खड़ी है। परिचारक और माता के बीच एक बालक या वालिका हाथ जोड़े खड़ी है। माता के बायें एक स्त्री खड़ी हुई है तथा वह चँवर डुला रही है।

ओसिया (जोधपुर, राजस्थान) के महावीर मन्दिर की चहारदीवारी में एक दिलहा (टिकड़ा) स्थित है। इसमें चौबीस तीर्थकरों की माताओं का अंकन हुआ है,

1. टुसी एक प्रकार का गलहार है। यह आभूषण तुन्देलखण्ड में बहुत प्रचलित रहा है। टुसी का तत्सम रूप 'कण्ठश्री' है। भाषा विज्ञान की प्रकृति के अनुसार 'कण्ठश्री' से 'टुसी' शेष रहना सम्भव है। मथुरा की मूर्तियाँ भी इस प्रकार के आभूषण पहने हैं। दे.—मथुरा संग्रहालय की यक्षी-मूर्ति क्र. जे. दो।
2. श्री दयाराम साहनी ने इसे भ्रमवश संवत् 1803 पढ़ा था। दे.—वही।
3. मं. सं. 30 के गर्भगृह में स्थित 1 फुट 9 इंच ऊँचे और 1 फुट, 4 इंच चौड़े शिलाफलक पर।
4. इसके विशेष परिचय तथा समय निर्धारण आदि के लिए देखिए—डॉ. उ.प्रे. शाह : स्टडीज़ इन जैन आर्ट, पृ. 10-11 और 78-79 तथा फलक पाँच, आकृति 14 (अ)।

जिनकी गोद में एक-एक बालक है !<sup>1</sup> इस प्रकार के दिलहों को उत्कीर्ण करने की पद्धति मध्यकाल में प्रचलित रही, ऐसे निदर्शन पाटन, गिरनार, आवू आदि में प्राप्त होते हैं, परन्तु ओसिया का दिलहा अवतक उपलब्ध ऐसे दिलहों में प्राचीनतम है !<sup>2</sup>

इस प्रकार हमने यह देखा कि तीर्थकर की माता का अंकन कदाचित् शक-काल (ई. पू. प्रथम शती) से प्रारम्भ हुआ। उक्त दोनों उदाहरणों में माता खड़ी दिखाई गयी है, जबकि देवगढ़ के उक्त दोनों उदाहरणों में उसे एक विशिष्ट मुद्रा में लेटी हुई अंकित किया गया है। कलाकार को यह अनोखी सूझ कहाँ से प्राप्त हुई, यह विचारणीय है। अमरावती के स्तूप में संगमरमर का एक उत्कीर्ण फलक (5 फुट 2 इंच × 3 फुट 2 इंच) मिला है। लगभग प्रथम शती के इस फलक पर मायादेवी का स्वप्न और बुद्ध का जन्म अंकित किया गया है !<sup>3</sup>

बुद्ध की माता का इसी प्रकार का एक प्रस्तरांकन (ई. प्रथम शती) भरहुत में भी हुआ, जो अब कलकत्ता संग्रहालय में सुरक्षित है। देवगढ़ के ही दशावतार मन्दिर में<sup>4</sup> अनन्तशायी विष्णु का प्रभावोत्पादक अंकन हुआ है !<sup>5</sup> उदयगिरि (विदिशा) की छठवीं गुफा में अनन्तशायी विष्णु की विशाल आकृति उत्कीर्ण है। प्रिंस आवेल्स म्युजियम, बम्बई में ऐहोल से प्राप्त एक मूर्ति शेषशायी विष्णु की भी प्रदर्शित है !<sup>6</sup> एरण में शेषशायी विष्णु (ई. सातवीं शती) की आकर्षक मूर्ति प्राप्त है। विदिशा में भी इनकी अनेक मूर्तियाँ उपलब्ध हैं। इन तथा ऐसे ही अन्य मूर्त्यकनों के रहते हुए जैन भक्त की यह स्वाभाविक इच्छा रही होगी कि उसके धर्म-स्थानों पर भी ऐसे ही भव्य और प्रेरक मूर्त्यकन उपलब्ध हों।

1. विस्तृत वर्णन के लिए देखिए—डॉ. उ.प्र. शाह : जर्नल आफ दी इण्डियन सोसायटी आफ ओरियण्टल आर्ट, भाग 9, पृ. 48।
2. डॉ. उ.प्र. शाह : स्टडीज़ इन जैन आर्ट, पृ. 18।
3. (अ) हर्मन गट्ज : आर्ट आफ दी वर्ल्ड (इण्डिया), (बम्बई, 1959), पृ. 58  
(ब) लारोसी : एनसाइक्लोपीडिया आफ मिथालोजी : एडीटेड इन फ्रेंच बाई फेलिक्स जीरण्ड एण्ड ट्रान्सलेटेड इन इंग्लिश बाई रिचर्ड एलडिग्टन एण्ड डेलानो एम्स (लन्दन, 1959), पृ. 363।  
(स) आर.सी. मजूमदार : दी एज आफ इम्पीरियल-यूनिटी (बम्बई, 1953), फलक 16, आकृति 34।
4. दक्षिणी वहिर्भक्ति की देवकुलिका में 4 फी. 11 इंच × 3 फी. 10 इंच के आकार में अंकित।
5. इसके विस्तृत वर्णन के लिए दे.—(अ) पं. माधवस्वरूप वत्स : दी गुप्ता टेम्पल एट देवगढ़ : (ए. एस.आइ. मेम्बरायर क्र. 70), पृ. 14-15 तथा फलक 10 (ब)। (ब) गोपीनाथ राव : एलिमेंट्री ऑफ हिन्दू आइनोग्राफी, जिल्ड एक, पृ. 110-12 तथा फलक 32। (स) विंसेण्ट ए. स्मिथ : ए हिस्ट्री आफ फाइन आर्ट इन इण्डिया एण्ड सीलोन, फलक 64 (ब)।
6. लुइस फ्रेडरिक : इण्डियन टेम्पल्स एण्ड स्कल्पचर (लन्दन, 1959), पृ. 212 तथा फलक 224, आकृति 189।

परन्तु उसके समक्ष मायादेवी या विष्णु के समान लेटा हुआ दिखाया जाने योग्य पात्र खोज निकालने की समस्या आयी होगी। क्योंकि तीर्थकर की यह स्थिति सम्भव नहीं, कोई देव, पूजा का पात्र नहीं, कोई साधु अलंकरण और परिकर के साथ दिखाया नहीं जा सकता और किसी राजा या अन्य महत्त्वपूर्ण व्यक्ति को जैन मन्दिर में उल्कीर्ण नहीं किया जा सकता। पर कदाचित् किसी भट्टारक के अध्ययन या देखने में तीर्थकर की माता के उपर्युक्त (या किन्हीं अन्य) अंकों में से कोई आया होगा। और उसने यही पात्र मायादेवी या शेषशायी विष्णु की अनुकृति के लिए सर्वाधिक अनुकूल समझा होगा। फिर कलाकार की छैनी चल पड़ी और देवगढ़ की जैन कला में इस आकर्षक तथा उत्कृष्ट कृति का निर्माण हो उठा।

तीर्थकर-माता की इन दो मूर्तियों के अतिरिक्त श्रावक-श्राविकाओं की ओर भी अनेक मूर्तियाँ भिन्न-भिन्न रूपों में प्रस्तुत की गयी हैं।

**3. भक्त श्रावक-श्राविका :** आचार्य परमेष्ठी<sup>1</sup> की सेवा में खड़े एक चेंबरधारी श्रावक के कन्धे पर झोली टँगी है: इसके दोनों हाथ कलाइयों के ऊपर से खण्डित हैं। उसका झुका हुआ किन्तु खण्डित मस्तक हमें भी भक्ति से अभिभूत कर देता है। आचार्य की दूसरी ओर एक श्राविका जो कदाचित् उक्त श्रावक की पत्नी होगी छत्र धारण किये खड़ी है।<sup>2</sup> यह छत्र किंचित् खण्डित होकर भी अपनी कलागत विशेषता के लिए उल्लेखनीय है। श्राविका की वेश-भूषा और आभूषण सादे किन्तु मोतियों के हैं। उत्तरीय पीछे से हाथों में फँसकर फिर पीछे निकल गया है। केश-सज्जा खजुराहो की कला का स्मरण दिलाती है। मुखमण्डल खण्डित है।

इसी मन्दिर (संख्या 1) के मण्डप में एक मूर्तिफलक के पादपीठ में विनम्र श्राविका की वेशभूषा में उसकी स्तनपट्टिका विशेष उल्लेखनीय है।

**4. विनयी श्रावक :** यहाँ जैन चहारदीवारी में एक ऐसी श्रावक-मूर्ति<sup>3</sup> जड़ी हुई है, जो वस्त्राभूषण, परिष्कृत-अभिरुचि एवं विनम्र भाव-भंगिमा आदि की दृष्टि से विशेष तथा विरल कही जाएगी। उसकी वेश-भूषा जहाँ उसके समृद्ध वैभव और ऐश्वर्य की अभिव्यक्ति करती है वहाँ सहज करबद्ध विनय-मुद्रा उसकी आन्तरिक पवित्रता तथा विनम्रता को सूचित करती है।

कदाचित् यह मूर्ति किसी ऐसे समृद्ध श्रावक की है जिसने यहाँ किसी विशेष जिनालय का निर्माण कराया होगा और वह अपने अभीष्ट तीर्थकर के समक्ष सदैव विनय प्रदर्शित करना चाहता होगा। अतः मूलरूप में यह मूर्ति किसी मन्दिर के बाहर मूलनायक तीर्थकर की ओर मुख करके स्थापित की गयी होगी।

1. मं. सं. एक के मण्डप में जड़े हुए।

2. दे.-चित्र सं. 80।

3. दे.-चि. सं. 122।

यद्यपि अब इसके मुख और पैरों का कुछ भाग खण्डित हो गया है, तथापि यह मूर्ति आकर्षण का केन्द्र है ही।

5. उदासीन श्रावक : देवगढ़ की जैन कला में ऐसे श्रावकों का भी निदर्शन हुआ है जो आधिभौतिक सन्ताप से सन्त्रस्त हो संसार से विमुख होकर अध्यात्म-पथ को आत्मसात् करना चाहते थे और एतदर्थ वे निर्जन वनों अथवा शान्त जिनालयों में पहुँचकर आत्म-चिन्तन में लीन हो जाते थे।

मं. सं. दस के उत्तरी स्तम्भ पर पूर्व की ओर बाह्य संसार से विमुख किन्तु आत्म-चिन्तन में लीन एक ऐसे ही उदासीन-श्रावक का अंकन हुआ है।<sup>1</sup> यह श्रावक पद्मासन में बैठकर आत्ममनन कर रहा है। उसकी वेशभूषा में तनीदार दुहरी छाती की अँगरखी तथा सिर पर टोपा दर्शनीय है। उदासीन श्रावकों की वेश-भूषा अब भी प्रायः ऐसी ही होती है।

6. अन्य अंकन : श्रावक-श्राविकाओं के उक्त मूर्त्यकनों के अतिरिक्त पाठशालाओं में अध्ययनरत,<sup>2</sup> अतिथियों की सेवा में संलग्न<sup>3</sup> और मण्डलियों में नृत्य-गीत आदि में तन्मय<sup>4</sup> मूर्त्यकन भी प्रभावोत्पादक हैं। कुछ श्रावक-मूर्तियों में दाढ़ी का अंकन<sup>5</sup> भी दर्शनीय है।

## 10. युग्म और मण्डलियाँ

### सामान्य अनुशीलन

देवगढ़ के स्थापत्य में युग्मों और मण्डलियों का उपयोग सामाजिक, सांस्कृतिक और धार्मिक उद्देश्यों की पूर्ति तथा अलंकरण के लिए हुआ है। ऐसा प्रतीत होता है कि शिव-पार्वती और विष्णु-लक्ष्मी आदि के युग्मों के अनुकरण पर अन्य देव-देवियों के और फिर समय-क्रम से सामान्य मनुष्यों के युग्म भी अंकित किये जाने लगे। प्रारम्भ में उनका उद्देश्य धार्मिक रहा होगा और बाद में उसे सामाजिक तथा सांस्कृतिक पृष्ठभूमि पर भी अंकित किया गया होगा। उत्तरवर्ती काल में

1. दे.—चित्र सं. 94।

2. दे.—चित्र सं. 77 से 82 तक।

3. दे.—मं. सं. 12 के प्रदक्षिणा-पथ और गर्भगृह के प्रवेश-द्वार तथा मं. सं. 18 के महामण्डप का प्रवेश-द्वार आदि। और भी दे.—चित्र सं. 22, 23 आदि।

4. दे.—चित्र सं. 16, 20, 22, 23, 35, 57, 109, 118 तथा जैन चहारदीवारी, विभिन्न मन्दिरों के प्रवेश-द्वार आदि।

5. दे.—चित्र सं. 88, 121 आदि। ऐसे मूर्त्यकनों के लिए और भी दे.—मं. सं. एक का पृष्ठ भाग, मं. सं. 12 के प्रदक्षिणा पथ का प्रवेश-द्वार (दायें पक्ष पर), स्तम्भ सं. 11 आदि।

स्थापत्य जब विकास की चरम सीमाओं का स्पर्श कर रहा था तब उसके स्तम्भों, द्वार-पक्षों, तोरणों, गवाक्षों, देवकुलिकाओं और भित्तियों आदि पर अलंकरणों की आवश्यकता हुई।

इन अलंकरणों में प्रारम्भ में पत्रावलि-रचना, पशु-पक्षियों के अंकन आदि प्राकृतिक तथा आखेट आदि सामाजिक दृश्यों को स्थान मिला। इसके पश्चात् युग्मों और मण्डलियों का प्रचार बढ़ा। यज्ञयानी साधुओं और कौल-कापालिकों की नीतियों के फलस्वरूप मण्डलियों का प्रचार प्रायः कम हो गया तथा युग्मों का अंकन बहुत बढ़ गया।

उस समय (ई. 10वीं से 13वीं शती तक) मदनिकाओं, अप्सराओं और सुर-सुन्दरियों के अंकन भी बहुत लोकप्रिय हुए। इन्हें प्रसाधन, पत्र-लेखन, कन्दुक-क्रीड़ा आदि के वहाने अनेक प्रकार की आकर्षक मुद्राओं में प्रदर्शित किया जाने लगा। स्थिति यहाँ तक आगे बढ़ी कि मन्दिर के शान्त और पवित्र वातावरण में काम-शास्त्र के विविध आसनों का मूर्तिगत प्रयोग होने लगा। खजुराहो, कोणार्क, भुवनेश्वर आदि स्थानों पर मध्यकाल में निर्मित मूर्तियों में उत्तानभोगवाद के विभिन्न दृश्य अब भी देखे जा सकते हैं।

जहाँ तक देवगढ़ और उसके समीपवर्ती कला-केन्द्रों चाँदपुर, जहाजपुर, दूधई, सेरोन, अहार, पपौरा, बानपुर, बरुवासागर आदि का प्रश्न है, वहाँ उक्त स्थिति अपने प्रारम्भिक रूप में ही आकर रह गयी। यहाँ मदनिकाओं और सुर-सुन्दरियों आदि के अंकन बहुत मिलते हैं, पर युग्मों के कम। कुछ युग्म सम्भोग मुद्रा में भी दिख जाते हैं, पर उसकी मूर्तियों का आकार कहीं भी पाँच-छह इंच से अधिक नहीं है, जबकि खजुराहो आदि में उनकी मूर्तियाँ 15 इंच से 40 इंच तक की हैं।

## (अ) युग्म

देवगढ़ में प्रायः दो प्रकार के रति-चित्र मिलते हैं—(1) प्रेमासक्त युग्म और (2) सम्भोगरत युग्म।

**1. प्रेमासक्त युग्म :** साहू जैन संग्रहालय में प्रेमासक्त युग्मांकित एक ऐसा शिलाफलक<sup>1</sup> सुरक्षित है जो अपने कला-वैशिष्ट्य और स्वाभाविक आलेखन के लिए उल्लेखनीय है। इसमें प्रेमी और प्रेमिका का शारीरिक लावण्य तो आकर्षक है ही, उनकी भावपूर्ण किन्तु संयत-मुद्रा और स्नेहाधीन-दृष्टि भी उनके पारस्परिक अनुराग को व्यक्त कर रही है। दोनों के वस्त्राभूषण अत्यन्त उच्चकोटि के हैं। वे एक-दूसरे

1. दे.-चित्र सं. 119।



को प्रेम-पाश में सँजोये होकर भी सामाजिक शिष्टाचार का पालन करते हुए प्रतीत होते हैं।

जैन चहारदीवारी,<sup>1</sup> मं. सं. ग्यारह,<sup>2</sup> मं. सं. बारह,<sup>3</sup> मं. सं. अठारह मं. सं. अट्ठाईस<sup>4</sup> तथा मं. सं. बारह के सामने पड़े हुए अवशेषों<sup>5</sup> आदि में प्रेमासक्त युग्मों के कुछ ऐसे अंकन प्राप्त होते हैं जिनमें उद्दाम यौवन का उद्वेग प्रकट हुए बिना नहीं रह सका है। उनकी वेश-भूषा वैभव-सम्पन्नता की परिचायिका है। ये अपनी प्रेमिका के प्रायः स्तन-स्पर्श करते हुए दिखाये गये हैं, जबकि कुछ स्थानों<sup>6</sup> पर वे एक-दूसरे को प्रेम-पूर्ण दृष्टि से तो निहार रहे हैं और प्रेमालाप भी कर रहे हैं, किन्तु स्तन-स्पर्श नहीं कर रहे।

**2. सम्भोगरत युग्म :** यहाँ मं. सं. ग्यारह के दूसरे खण्ड के महामण्डप के प्रवेश-द्वार पर बायें एक ऐसा युग्म<sup>7</sup> भी प्राप्त होता है, जिसे संभोग-मुद्रा में अंकित किया गया है।

**3. शुचिस्मिता :** मं. सं. ग्यारह के दूसरे खण्ड के महामण्डप के प्रवेश-द्वार पर बायें एक ऐसी नायिका आलिखित है जो अपने बायें हाथ में दर्पण सँभाले है तथा दायें से ओष्ठ को। प्रतीत होता है कि वह दर्पण की सहायता से अपनी ही रूप-राशि का पान कर रही है।<sup>8</sup> इसी प्रकार का एक और अंकन मं. सं. 18 के महामण्डप के प्रवेश-द्वार पर देखा जा सकता है। एक कोष्ठक में एक युग्म अंकित है। इसमें नायिका दर्पण की सहायता से अपने सौन्दर्य को निहारती और ललाटिका ठीक करती हुई अंकित की गयी है।<sup>9</sup>

शुचिस्मिता नायिका की चर्चा करते हुए हम पहले ही लिख चुके हैं कि देवगढ़ में खजुराहो-कला का पूर्व-रूप भली-भाँति देखा जा सकता है। उपर्युक्त सम्भोग मुद्रा में (दे. चित्र संख्या 120) प्राप्त रति-चित्र हमें पुनः एक बार अपने उक्त विचार को दृढ़तर बनाने की प्रेरणा देता है। हमारे इस विचार को यह कहकर नहीं टाला जा सकता कि देवगढ़ ने खजुराहो से प्रेरणा पायी थी न कि खजुराहो ने देवगढ़ से। कारण यह है कि यहाँ की कला खजुराहो की कला की अपेक्षा कम विकसित और

1. दे.-चित्र सं. 121 तथा 109।

2. दूसरी मंजिल के बायें द्वार पक्ष पर। दे.-चित्र सं. 120।

3. प्रदक्षिणा पथ तथा गर्भगृह के प्रवेश-द्वारों पर। दे.-चित्र सं. 18, 23।

4. दे.-चित्र सं. 33।

5. दे.-चित्र सं. 90।

6. दे.-मं.सं. चार और बारह आदि के द्वार। और भी दे.-चित्र सं. 21, 22 एवं 114।

7. दे.-चित्र सं. 120।

8. दे.-चित्र सं. 117।

9. दे.-चित्र सं. 116।

यहाँ की मूर्तियाँ खजुराहो की कला की अपेक्षा काफी छोटी हैं, यही नहीं यहाँ ऐसे दृश्यों को उन महत्त्वपूर्ण स्थानों पर अंकित भी नहीं किया गया जिनपर खजुराहो में, और फिर ऐसे दृश्यों की संख्या भी यहाँ खजुराहो की अपेक्षा नगण्य है।

## (ब) मण्डलियाँ

देवगढ़ में धार्मिक अनुष्ठानों, सामाजिक उत्सवों, विभिन्न आनन्ददायी अवसरों आदि पर नृत्य, वाद्य और संगीत की मण्डलियाँ सक्रिय रहती थीं। यहाँ के मण्डली-दृश्यों में कभी केवल नृत्य, कभी केवल वाद्य और कभी दोनों का अंकन प्राप्त होता है।

1. **नृत्य-मण्डली** : जैन चहारदीवारी की भीतरी (पश्चिमी) दीवार में प्रवेश-द्वार के दक्षिण में नृत्य-मण्डली का बहुत प्रभावोत्पादक अंकन हुआ है।<sup>1</sup> वाद्ययन्त्रों के लय और ताल पर पाद-विक्षेप करती हुई नर्तकियों की हस्तमुद्राएँ एवं मुखाकृतियाँ दर्शनीय हैं। सम्पूर्ण अंकन अत्यन्त कलापूर्ण है।

जैन चहारदीवारी में ही नृत्यमण्डली का एक और प्रभावशाली अंकन देखा जा सकता है।<sup>2</sup>

मं. सं. बारह के अर्ध-मण्डप के तोरणों पर नृत्य-मण्डलियों के बहुत सुन्दर आलेखन हुए हैं।

देवगढ़ की नृत्य-मण्डलियों में अनुराग में सराबोर पुरुष-वर्ग कभी धाप देता है तो कभी नृत्य में अपनी प्रेयसियों का साथ। यहाँ नृत्य-मण्डलियों के अन्य अंकन जैन चहारदीवारी, मं. सं. चार, ग्यारह, बारह, बाईस आदि के द्वारों पर देखे जा सकते हैं, जिनमें नृत्य-मग्न स्त्री-पुरुषों के भावपूर्ण और सुरुचिसम्पन्न अंकन हुए हैं।<sup>3</sup>

2. **वाद्य-मण्डली** : वाद्य-मण्डलियों के अत्यन्त समृद्ध एवं कलामय अंकन देवगढ़ की जैन कला में उपलब्ध होते हैं। वाद्य-यन्त्रों का प्रयोग नृत्य और संगीत आदि की मण्डलियों में हुआ है।<sup>4</sup> स्वतन्त्र रूप से भी वाद्य-यन्त्रों का उपयोग हुआ है।<sup>5</sup> स्त्री और पुरुष दोनों ही इस प्रकार की मण्डलियों में सम्मिलित पाये गये हैं। यहाँ की मण्डलियों में झाँझ, मँजीरा, मृदंग, ढोलक, वेणु, वीणा, इकतारा, तुरही, तमूरा, घंटा, शंख आदि अनेक प्रकार के वाद्य-यन्त्र प्रयुक्त पाये जाते हैं।<sup>6</sup>

1. दे.—चित्र सं. 57।

2. दे.—चित्र सं. 109।

3. दे.—चित्र सं. 16, 21, 23 आदि।

4. दे.—चित्र सं. 57, 109, 118 आदि।

5. दे.—चित्र सं. 16, 18, 22, 23, 116, 121 आदि।

6. दे.—चित्र सं. 16, 20, 22, 23, 25, 57, 109, 118 आदि।

3. संगीत-मण्डली : देवगढ़ में संगीत-मण्डलियों के अनेक कलापूर्ण अंकन प्राप्त होते हैं, जिनके आधार पर यह कहा जा सकता है कि वहाँ का समाज संगीत का केवल रसिक ही नहीं था, प्रत्युत उसमें प्रशिक्षित भी था तथा वहाँ की पाठशालाओं में संगीत-शिक्षा का प्रबन्ध भी रहा होगा।

मं. सं. वारह के अर्धमण्डप<sup>1</sup>, जैन चहारदीवारी<sup>2</sup> में जड़े हुए शिलाफलकों पर समृद्ध संगीत-मण्डलियों के अंकन अपनी पूर्णता एवं कलागत सूक्ष्मता की पराकाष्ठा पर पहुँचे हुए प्रतीत होते हैं। इनसे स्पष्ट है कि वहाँ संगीत की बड़ी मण्डलियाँ थीं और समय-समय पर अनेक आयोजनों में उनके मनोरंजक कार्यक्रम हुआ करते थे। संगीत-मण्डलियों के और भी बहुत से दृश्य देवगढ़ में अंकित मिलते हैं।

उक्त सभी मण्डलियों में उत्कीर्ण मूर्तियाँ आकार में लघु होने पर भी स्पष्ट और आकर्षक बन पड़ी हैं। उनके अंग-प्रत्यंगों के सार्थक उभारों तथा सूक्ष्म रेखांकनों के निरीक्षण से धारणा बनती है कि यह कला नवमी शती के बाद की नहीं हो सकती, क्योंकि इसमें गुप्तकालीन कला के अनेक लक्षण और परम्पराएँ अवशिष्ट हैं, जबकि चन्देलकालीन कला का प्रारम्भिक रूप भी उनमें दृष्टिगत नहीं होता।

## 11. प्रतीक

### प्रतीक की स्वीकृति

मानव-संस्कृति में प्रतीक की स्वीकृति उतनी ही प्राचीन है जितनी मानव की ज्ञान-चेतना। प्रत्यक्ष वस्तु को शब्दों द्वारा प्रकट करने की प्रथम चेष्टा ने ही प्रतीक की मान्यता का सूत्रपात किया।

### प्रतीक-विकास

समय के साथ प्रतीक का भी विस्तार होता गया और वह अब शब्दों तक ही सीमित न रह गया। शब्दों से अधिक सरल और संक्षिप्त प्रतीक दूसरा नहीं, परन्तु कभी-कभी अस्पष्ट या अदृश्य वस्तुओं का सर्वसाधारण को बोध कराने में शब्द असफल भी हो जाते हैं, ऐसी स्थिति में किसी वस्तु को अभीष्ट वस्तु का प्रतीक माना जाने लगा। एक वस्तु के प्रतीक के रूप में दूसरी वस्तु की ही स्वीकृति अपने आप में एक बहुत बड़ी घटना थी। प्रतीकात्मक वस्तु ही आगे चलकर दो रूपों में परिणत हुई। उसका प्रथम रूप था—अतदाकार, जिसे हम वचार्थ शब्दों में 'अनगढ़'

1. अ. वि. सं. 118।

2. अ. वि. सं. 57 और 109।

कहें तो अधिक अच्छा होगा। मिट्टी के ढेले या पत्थर के टुकड़े से पर्वत का और जल की क्षुद्र धारा से विशाल नदी का बोध कराना भी प्रतीकों में स्थान पाता है। यही द्वितीय, तदाकार प्रतीक की मान्यता का सूत्रपात है।

## विभिन्न रूप

अब हमारे समक्ष प्रतीक के तीन रूप स्पष्ट हैं : 1. शब्दात्मक, 2. अतदाकार और 3. तदाकार।

वर्तमान विचारकों और दार्शनिकों के विचार से अब कदाचित् शब्दात्मक प्रतीक को प्रतीक-कोटि में न रखा जाय, पर शेष दो प्रतीक तो अब भी मान्य हैं।

मानव की विवेचनात्मक या उपयोगी-अनुपयोगी वस्तुओं में भेद करने की योग्यता के विकास के साथ प्रतीक-मान्यता ने भी विभिन्न रूप धारण किये। उपयोगी वस्तु का प्रतीक शुभ माना जाने लगा और अनुपयोगी वस्तु का प्रतीक अशुभ। यहीं से प्रतीकों के प्रति सम्मान या असम्मान का भाव जाग्रत होता है। उपयोगी या अभीष्ट वस्तु के प्रतीक की कल्पना अधिक सुन्दर रूप में की गयी। प्रारम्भ में उसकी तदाकारता या अतदाकारता पर कम ध्यान दिया गया, परन्तु मानव में ज्यों-ज्यों कलाबोध विकसित हुआ, त्यों-त्यों प्रतीक की तदाकारता को महत्त्व मिलता गया। तदाकार प्रतीक को महत्त्व इसलिए भी मिला कि वह मानव-भावना को अतदाकार प्रतीक की अपेक्षा अधिक शीघ्रता एवं सुन्दरता से जाग्रत कर लेता है।

## मूर्ति-कल्पना

प्रतीक के क्षेत्र में मानव की सुन्दरतम उपलब्धि थी—मूर्ति की कल्पना। उसने प्रारम्भ में जब अपने सर्वाधिक प्रिय व्यक्ति को मूर्ति के रूप में प्रस्तुत कर लिया होगा, तब वह अपनी अपूर्व सफलता पर झूम उठा होगा। मूर्तिरूप प्रतीक की लोकप्रियता निरन्तर बढ़ी और अब भी बढ़ रही है। यह प्रतीक भी समयक्रम से शुभ एवं अशुभ के रूप में विभक्त हो चला। अशुभ वस्तु को मूर्तिरूप प्रतीक देने में मानव ने अपना अपमान अनुभव किया और यही कारण है कि अनुपयोगी या दुरुपयोगी वस्तुओं के प्रतीक या तो मूर्तिरूप नहीं होते या उनका मूर्तिरूप उतना सुघड़ तथा कलापूर्ण नहीं होता, जितना कि उपयोगी वस्तुओं का।

## मूर्ति-पूजा का जन्म

मूर्तिरूप प्रतीक चूँकि उपयोगी या अभीष्ट वस्तु का ही बनाया जाने लगा, अतः उसकी मान्यता भी बढ़ चली। यह मान्यता विभिन्न रूपों में प्रकट हुई। मूर्ति को सुरक्षित तथा सुन्दर स्थान में रखा गया। अभीष्ट प्रेरणा या शक्तिसंचार के लिए

उसके सामयिक या दैनिक दर्शन का विधान किया जाने लगा। यहीं से मूर्ति-पूजा की प्रथा को जन्म मिला।

इस दृष्टि से, इतने से उद्देश्य से ही यदि मूर्ति-पूजा की स्वीकृति मानें तो कहना होगा कि आज संसार में कदाचित् ऐसा कोई व्यक्ति नहीं, जो मूर्तिपूजक न हो। परन्तु मानव ने जब से भौगोलिक, सांस्कृतिक एवं राजनीतिक दृष्टियों से अपनी सीमाएँ संकीर्ण कीं या ऐसी सीमाओं का अनुभव किया, तब से उसकी मूर्तिपूजा ने भी देश, काल तथा परिस्थिति के अनुकूल रूप-रूपान्तर धारण किये। कहीं तदाकार मूर्तिरूप प्रतीक की पूजा प्रारम्भ हुई तो कहीं अतदाकार मूर्तिरूप की।

जहाँ तक भारत का प्रश्न है, यहाँ तदाकार मूर्तिरूप प्रतीक को ही अधिकतर पूजा प्राप्त हुई। अब से पचास शताब्दी पूर्व यहाँ मूर्ति-पूजा प्रचलित थी। उससे पचीस शताब्दी पश्चात् यहाँ उसकी जड़ें इतनी गहरी जम चुकी थीं कि महात्मा बुद्ध-जैसे अद्भुत प्रभावशाली व्यक्ति के आदेश का उल्लंघन करके भी मनुष्य ने मूर्ति-पूजा चालू रखी।

## मूर्तियों के पात्र

अब मूर्ति के पात्रों के रूप में भारत में—शिव, विष्णु, ऋषभ, पार्श्वनाथ, महावीर और बुद्ध जैसी महान् विमूर्तियाँ स्वीकृत की जाने लगीं। किन्तु कदाचित् जनसंख्या के विस्तार एवं रुचिवैभिन्य के फलस्वरूप मूर्ति के पात्रों में वृद्धि हो चली। प्राकृतिक शक्तियों को, जिन्हें अब तक शब्दात्मक या अतदाकार प्रतीक ही प्राप्त थे, अब मूर्तिरूप प्रतीक प्राप्त होने लगे, यद्यपि ऐसी मूर्तियों को वह मान्यता कभी नहीं मिली जो पूर्व-स्वीकृत शिव आदि की मूर्तियों को प्राप्त हुई और फिर इन पात्रों की संख्या इतनी अधिक बढ़ी कि उनके प्रति पूजा की भावना अपेक्षाकृत निर्बल हो गयी। फलस्वरूप उन्हें वह अलंकरण और स्थान भी प्राप्त न हो सका जो पूर्व स्वीकृत मूर्तियों को हुआ। यही कारण है कि अन्य मूर्तियों को पूर्व-स्वीकृत मूर्तियों के परिचारक या पूरक के रूप में प्रस्तुत किया गया। जब एक मूर्ति के लिए मन्दिर का निर्माण किया गया तब अन्य मूर्तियों को या तो मन्दिर के सज्जागत तत्त्वों में स्थान दिया गया या मुख्य-मूर्ति के समीप कहीं।

## जैनधर्म में प्रतीक

प्रतीक का अस्तित्व जैनधर्म में आदिकाल से रहा है। शास्त्रीय विधानों के अनुसार कुछ मूर्तियाँ और मन्दिर तो ऐसे हैं जो केवल प्रकृति की देन हैं,<sup>1</sup> उनका

1. 'कृत्याकृत्रिमगारुचेत्यनिलयान् नित्यं त्रिलोकीगतान्।

वन्दे भावनव्यनरान् धृतिवगन् स्वर्गामगवासगान् ॥'

- अकृत्रिम चैत्यालयों के अर्थ : बृहज्जिनवाणी संग्रह, पृ. 105।

न आदि है और न अन्त। यह दूसरी बात है कि वर्तमान मनुष्य उन तक पहुँच नहीं सका है।

मनुष्य द्वारा निर्मित प्राचीनतम जैन मूर्ति कौन है, यह विचारणीय है। पटना संग्रहालय में लोहानीपुर से प्राप्त मौर्यकालीन एक जैन मूर्ति प्रदर्शित है।<sup>1</sup> हड़प्पा में भी एक नग्न मूर्ति प्राप्त हुई है।<sup>2</sup> इन दोनों मूर्तियों में परम्परा और लक्षणों की दृष्टि से इतनी अधिक समानता है कि हड़प्पा की मूर्ति को जैन कहने में संकोच नहीं होता। स्व. प्रो. प्राणनाथ विद्यालंकार (बनारस हिन्दू विश्वविद्यालय) ने सिन्धु घाटी में ही प्राप्त एक मुद्रा (क्रमांक 449) पर 'जिनेश्वरः' पढ़ा था। यदि पर्याप्त प्रमाणों से यह सब सम्पुष्ट हो जाता है तो जैन मूर्ति की प्राचीनता अब से लगभग पाँच हजार वर्ष पूर्व मानी जाएगी।<sup>3</sup>

प्राचीन जैन ग्रन्थों—आवश्यक चूर्णि, निशीथचूर्णि, वसुदेवहिण्डी, त्रिषष्टि-शलाकापुरुष चरित, आदि में एक मनोरंजक घटना का वर्णन है : सिन्धु सौवीर के शासक उदायन के पास जीवन्तस्वामी की एक चन्दननिर्मित मूर्ति थी। यह मूर्ति भगवान् महावीर की थी, जिसे उनके जीवनकाल में ही निर्मित किये जाने के कारण 'जीवन्त-स्वामी' की मूर्ति कहा गया है। उज्जैन के शासक प्रद्योत ने अपनी एक दासी-प्रेमिका के द्वारा यह मूर्ति चोरी से प्राप्त कर ली और उसके स्थान पर तदनुरूप काष्ठ-निर्मित मूर्ति स्थापित करा दी थी। जीवन्त स्वामी की इस मूर्ति की परम्परा<sup>4</sup> लगभग 550 ई. तक चलती रही।

अब से पचीस शताब्दी पूर्व जैन मूर्तियों का निर्माण होता था,<sup>5</sup> यह तथ्य कलिंग-सम्राट् खारवेल के हाथी गुम्फा-अभिलेख<sup>6</sup> से भी प्रमाणित है। इसके पश्चात् उपर्युक्त लोहानीपुर से प्राप्त मूर्ति उल्लेखनीय है।<sup>7</sup> दूसरी-तीसरी शती ई. पू. में लिखे

1. देखिए—(अ) विसेण्ट ए. स्मिथ : ए हिस्ट्री आफ़ फ़ाइन आर्ट इन इण्डिया एण्ड सीलोन (चम्बई, तृतीय संस्करण), पृ. 20 तथा फलक दश, आकृति (सी)।  
(ब) आर.सी. मजूमदार : दी एज आफ़ इम्पीरियल यूनिटी, पृ. 426।
2. देखिए—बी.ए. स्मिथ : ए हिस्ट्री आफ़ फ़ाइन आर्ट इन इण्डिया एण्ड सीलोन, फलक दो, आकृति सी तथा डी।
3. और भी दे.—(अ) पं. सुमेरचन्द्र दिवाकर : जैन शासन (काशी, 1950), पृ. 313।  
(ब) मुनि विद्यानन्द : श्रमण संस्कृति का इतिहास : सन्मति सन्देश (आगस्त 1969), पृ. 131।
4. विस्तार के लिए दे.—डॉ. उ.प्रे. शाह : जर्नल आफ़ दी ओरियण्टल इंस्टीट्यूट, जिल्द एक, अंक एक, पृ. 72 तथा आगे और अंक 4, पृ. 358 तथा आगे।
5. डॉ. उ.प्रे. शाह : ए नोट आन दी अकांटा होर्ड आफ़ जैन बौद्धिक : बड़ौदा थ्रू दी एजेंज, परि. 4, पृ. 77 और आगे।
6. 'नन्दराज-नीत च कलिंगाजिन्नं सन्निवेगं. गह रतनान पण्डितार्थिह अंगमागध वसु च नेवाति (1)'—काशीप्रसाद जायसवाल : कलिंग-चक्रवर्ती महाराज खारवेल के शिलालेख का विवरण : नागरी प्रचारिणी पत्रिका : भाग 8, अंक 3, पृ. 16 से 18, 19।
7. दे—आर.सी. मजूमदार : दी एज आफ़ इम्पीरियल यूनिटी, पृ. 127।

192 :: देवगढ़ की जैन कला : एक सांस्कृतिक अध्ययन

गये कुछ ग्रन्थों' में बहतर कलाओं का उल्लेख है। उनमें से एक 'दगमत्तिय' नामक कला भी है जिसके अन्तर्गत मिट्टी की मूर्तियों का निर्माण आता है। इन मूर्तियों में तीर्थकर-मूर्तियाँ भी सम्मिलित रही होंगी।<sup>2</sup> इसके पश्चात् कुषाणकाल में जैनमूर्तियों का निर्माण पर्याप्त मात्रा में हुआ। इस समय से जैन मूर्तिकला निरन्तर विकास और व्यापकता प्राप्त करती गयी तथा उसने भारतीय कला को अनेक अनुपम कृतियों प्रदान कीं।

जैन धर्म में प्राचीन काल से तदाकार प्रतीकों के अतिरिक्त अतदाकार प्रतीकों की मान्यता भी रही है। अतदाकार प्रतीकों में मुख्य और परम्परागत है—धर्मचक्र, स्तूप, त्रिरत्न, चैत्यस्तम्भ, चैत्यवृक्ष, पूर्णघट, श्रीवत्स, शराव-सम्पुट, पुष्पपात्र, पुष्पपडलक, स्वस्तिक आदि। एक अन्य महत्त्वपूर्ण प्रतीक 'आयागपट्ट' भी रहा है। वह एक वर्गाकार या आयताकार शिलापट्ट होता है, जिस पर कुछ अन्य प्रतीक उत्कीर्ण होते हैं। कुछ पर मध्य में तीर्थकर की लघु मूर्ति अंकित होती है। कुछ आयागपट्ट अभिलिखित भी हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि वे पूजा के उद्देश्य से स्थापित किये जाते थे। मथुरा तथा कौशांबी से अनेक सुन्दर शक-कुषाणकालीन आयागपट्ट मिले हैं।

**लांछन :** तीर्थकरों के लांछन<sup>3</sup> भी प्रतीक कहे जा सकते हैं। ये लांछन तीर्थकरों

1. दे.—(1) नावाधम्मकहाओ, जिल्द 1 (पूना, 1940), पृ. 21। (2) समवायांग (अहमदाबाद, 1938), पृ. 77 (अ)। (3) ओववाइय (सूरत, 1914 वि.), पृ. 40, सूत्र 107। (4) रायपसेणइय, (अहमदाबाद, 1994 वि.सं.)। (5) जम्बुदीय पन्नत्ति (वम्बई, 1920), टीका दो, पृ. 136 और आगे।
2. दे.—(1) पं. बेचरदास : भगवान् महावीर नी धर्मकथाओ, पृ. 193 और आगे। (2) अमूल्यचन्द्र सेन : सोसल लाइफ इन जैन लिटरेचर : कलकत्ता रिव्यू, मार्च 1933, पृ. 364 और आगे। (3) डी.सी. दास गुप्ता : जैन सिस्टम आफ एजुकेशन (कलकत्ता, 1942), पृ. 74 और आगे। (4) डॉ. हीरालाल जैन : भा. सं. जै. यो., पृ. 284-91।
3. सभी (24) तीर्थकरों के लांछन दिगम्बर और श्वेताम्बर परम्पराओं में थोड़े-से हेर-फेर के साथ, प्रायः एक समान पाये जाते हैं। तीर्थकरों के लांछन अग्रलिखित हैं—

(अ) "यसह गय तुरय वानर कुंचो कमलं च सत्पियौ चन्दो। मयर सिरिवच्छ गण्डय महिस वाराहो य सेणो य ॥ वज्ज हरिणो छगलो नंदावत्तो य कलस कुम्भो य। नीलुप्पल संख फनी सीहो अ जिण्ण चिण्हाइ ॥"

—बी.सी. भट्टाचार्य : जैन आइकनोग्राफी (लाहौर, 1939), पृ. 49 पर प्रबचनसारोद्धार से उद्धृत।

(ब) "गौरगजोऽश्वः कपिः क्रोकः कमलं स्वस्तिकः शशी। भकरः श्रीदुमो गण्डो महियः कोलसेधिकी ॥

चञ्चं भृगोऽजप्टगरं कलशः कूमं उत्पलम् शंखो नागाधिपः सिंहो लांछनान्यर्हतां क्रमात् ॥

—पं. आशाधर : प्र. सा. 1, 78-79।

→

मूर्तिकला :: 193

के साथ कव से और कैसे सम्बद्ध हुए, यह विचारणीय है। लोहानीपुर से प्राप्त मौर्यकालीन तथा मथुरा से प्राप्त शक एवं कुषाण मूर्तियों के साथ लांछन उत्कीर्ण नहीं किये गये। पहचान के लिए तीर्थकर का नाम या पंचकल्याणकों<sup>1</sup> में से किसी एक या एक से अधिक को मूर्ति के साथ उत्कीर्ण<sup>2</sup> किया जाता था।<sup>3</sup> परवर्ती काल में लांछनों की कल्पना की गयी और उन्हें मूर्तियों के पादपीठ पर उत्कीर्ण किया जाने लगा। ये लांछन कैसे सम्बद्ध हुए, इस सम्बन्ध में दो विचारधाराएँ हैं : प्रथम विचारधारा के अनुसार इन्द्र, तीर्थकर को अभिषेक के लिए सुमेरु पर्वत पर ले जाते समय उनके शरीर पर सर्वप्रथम जिस वस्तु की रेखाकृति देखता, उसी को उनके लांछन के रूप में घोषित कर देता।<sup>4</sup>

यही विचार किंचित् परिवर्तित रूप में भी मिलता है। इन्द्र तीर्थकर के दायें पैर के अँगूठे पर रेखांकित वस्तु को उनका लांछन निश्चित करता है। दूसरी विचारधारा के अनुसार तीर्थकर के राजध्वज का चिह्न ही उनका लांछन माना जाता है।<sup>5</sup> इस विचारधारा में यह आपत्ति है कि कुछ तीर्थकर राजा नहीं थे और कुछ राजा बनने से पूर्व ही संन्यासी हो गये थे।<sup>6</sup> अतः उनके राजध्वज या उसमें अंकित

(स) "गो वारणाशवाः कपिकोकपचाः, स्वस्त्योषधीशौ मकरदुमांकी ।

गण्डो लुलायः किटिसेधिके च, वज्रं मृगोजः कुसुमं घटश्च ॥

कूर्मोत्पलं शंख भुजंग सिंहः, क्रमेण विम्बोऽक्र-विकल्पनानि ॥"

—जयसेनाचार्य : प्रतिष्ठा पाठ (शोलापुर, 1925), श्लोक 346-47 ।

(ड) तिलोय पण्णत्ती, अधिकार चार, गाथा 604-605 । (इ) अपराजितपृच्छ, पृ. 366 । (ई) भट्टारक धर्मचन्द्र : गौतमचरित्र (सूरत, 1927), 5, 130-31 ।

1. तीर्थकर के जीवन के महान् कल्याणकारी अयसर 'कल्याणक' कहे जाते हैं। ये पांच होते हैं : (1) गर्भाधान, (2) जन्म, (3) दीक्षा, (4) ज्ञान और (5) मोक्ष ।
2. (क) एक मूर्तिखण्ड पर 'नेमेष' (नेगमेष—श्वेताम्बर मान्यतानुसार जिसने महावीर के जीव को देवानन्दा के गर्भ से स्थानान्तरित किया था) का नाम उत्कीर्ण पाया गया है। और भी दे.—व्यूलर : स्पेसीमेन्स आफ़ जैन स्कल्पचर्स फ़्रॉम मथुरा : एपी.इ., जिल्द दो, पृ. 311 और आगे। (ख) एक शुंगकालीन मूर्ति (लखनऊ संग्रहालय, क्र. जे. 354) पर नीलाजना नृत्य (दीक्षाकल्याणक) या तीर्थकर की माता (जन्म कल्याणक) का अंकन दर्शनीय है।
3. और भी दे.—डॉ. उ.प्रे. शाह : स्टडीज़ इन जैन आर्ट, पृ. 11 ।
4. दे.—(अ) हेमचन्द्र : अभिधानचिन्तामणि, संपा. पं. हरगोविन्द शास्त्री (वाराणसी, 1964), काण्ड 12, श्लोक 47-48 ।  
(ब) पं. आशाधर : अनगर धर्ममृत (बम्बई, 1919), अ. 8, श्लोक 41 ।
5. "जन्मकाले जस्स दु दाहिणपायस्मि होइ जो चिन्हं ।  
तलकखणपाउत्तं आगमसुत्ते सुजिणदेहं ॥" —त्रिकालवर्ती महापुरुष, पृ. 56 से उद्धृत ।
6. दे.—(क) आदिपुराण, पर्व 22, श्लोक 249 । (ख) हरिवंशपुराण, सर्ग दो, श्लोक 73 ।  
(ग) त्रिलोकसार, गाथा 1010 ।



चिह्न का प्रश्न ही नहीं उठता।<sup>1</sup> अधिक व्यावहारिक तो यह प्रतीत होता है कि ये लांछन तीर्थंकर के नाम, वंश, गोत्र और जाति आदि के आधार पर ठीक उसी प्रकार निश्चित किये गये होंगे, जिस प्रकार आजकल होता देखा जाता है।

पहले वृषभ, छठवें पद्मप्रभ और आठवें चन्द्रप्रभ के नाम पर ही निर्धारित किये गये उनके लांछन (क्रमशः वृषभ, पद्म और चन्द्र) इस विचार की सम्पुष्टि करते हैं। दसवें तीर्थंकर शीतल का लांछन वृक्ष, शीतल छाया तो देता ही है। उन्नीसवें तीर्थंकर मल्लिनाथ का लांछन कुम्भ (कलश), उनके पिता कुम्भराज का स्मारक हो सकता है। तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ के वंश उग्र एवं लांछन उरग (सर्प) की वार्षिक समानता भी विचारणीय है।

उपर्युक्त प्रतीकों के अतिरिक्त जैनधर्म में समवशरण, सहस्रकूट, सिद्धचक्र, अष्टमंगल, अष्टप्रातिहार्य, सोलह स्वप्न, चरणपादुका, नवनिधि, नवग्रह, शार्दूल, मकरमुख, कीर्तिमुख, कीचक, गंगा-यमुना, नाग-नागी आदि का भी प्रचलन है।

देवगढ़ की जैन कला में उपर्युक्त प्रतीकों में से अधिकांश का अंकन प्राप्त होता है।

**समवशरण** : समवशरण<sup>2</sup> की रचना के अन्तर्गत वास्तुकला के प्रायः सभी अंगोपांग समाविष्ट हो जाते हैं। समवशरण का प्रतीक सम्पूर्ण मन्दिर ही माना जा सकता है<sup>3</sup> जिसमें चैत्यभूमि, खातिकाभूमि, लताभूमि, उपवन-भूमि, ध्वजा-भूमि, कल्पांग-भूमि, गृहभूमि, सद्गणभूमि एवं तीन पीठिकाएँ होती हैं।<sup>4</sup>

**गन्धकुटी** : गन्धकुटी की रचना एक के ऊपर एक निर्मित (पूर्वोक्त) तीन पीठिकाओं पर चित्र-विचित्र पापाणों से होती है। चारों ओर लटकती मोतियों की झालरें इसकी सौन्दर्यवृद्धि करती हैं एवं पुष्पमालाओं और धूप के धुएँ से सभी दिशाएँ सुगन्धित हो उठती हैं। स्वाभाविक रूप से सुगन्ध बिखेरते रहने के कारण इसे गन्धकुटी कहा जाता है। चारों ओर से खुली हुई इस कुटी के मध्य स्थित सिंहासन

1. उदाहरणार्थ—चारहवें वासुपूज्य, उन्नीसवें मल्लिनाथ, तथा अन्तिम तीन—नेमिनाथ, पार्श्वनाथ और महावीर—ये पाँच तीर्थंकर कुमारायस्था में ही विरक्त हो गये थे। इन्होंने न राज्य और न ही विवाह किया। और भी दे.—त्रिकालवर्ती महापुरुष, पृ. 148-51।

2. 'मानस्तम्भाः सरांसि प्रविमलजलसरत्खातिकाः पुष्पवाटी,  
प्राकारो नाट्यशालाद्वितयमुपवनं वेदिकांतध्वजाद्याः ॥

शालः कल्पद्रुमाणां सुपरिवृतवनं स्तूपहर्म्यावली, च

प्राकाराः स्फटिकोऽन्तर्नृसुरप्ति सभा पीठिकाग्रे स्वयंभूः ॥'

—त्रिकालवर्ती महापुरुष, पृ. 67 से उद्धृत।

3. समवशरण-रचना के विस्तृत वर्णन के लिए दे.—डॉ. नेमिचन्द्र शास्त्री : आदिपुराण में प्रतिपादित भारत (वाराणसी, 1968), पृ. 140-43 तथा 295-300।

4. दे.—हरिवंशपुराण, सर्ग 23, श्लोक 192।

पर विराजमान होकर ही तीर्थंकर उपदेश देते हैं।<sup>1</sup>

उक्त पद्धति पर तो कदाचित् ही कोई मन्दिर बना हो, किन्तु उसका भाव समवशरण की रचना प्रस्तुत करना ही होता है।

**श्रीमण्डप** : समवशरण का एक अंग श्रीमण्डप<sup>2</sup> कहलाता है। इस श्रीमण्डप की समानता हम देवगढ़ के जैन मन्दिर संख्या बारह के महामण्डप (चित्र संख्या 17) से कर सकते हैं।<sup>3</sup>

**सहस्रकूट** : सहस्रकूट का प्रतिनिधित्व देवगढ़ में अत्यन्त भव्य रूप में हुआ है।<sup>4</sup> मं. सं. पाँच (चित्र पाँच) का निर्माण कदाचित् इसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए किया गया था। यह प्रतीक यहाँ और बानपुर आदि में लोकप्रिय था, जहाँ वह आज भी अखण्ड रूप में देखा जा सकता है, जबकि आमनचार,<sup>5</sup> तथा सेरोन<sup>6</sup> में अनेक सहस्रकूटों के खण्ड विद्यमान हैं।

**मानस्तम्भ** : मानस्तम्भ समवशरण का वह भाग होता था, जो तीर्थंकर के मान (औन्नत्य या महत्ता) का प्रतीक होता है और जिसके मान (ऊँचाई) को देखकर अभिमानियों का मान चूर्ण हो जाता है। देवगढ़ की जैन कला में इस प्रतीक का अनेक स्थानों में निदर्शन प्राप्त होता है। वहाँ उन्नीस मानस्तम्भ अब भी विद्यमान हैं।<sup>7</sup>

**चैत्यवृक्ष** : चैत्यवृक्ष<sup>8</sup> वे वृक्ष कहलाते हैं जिनके नीचे अष्ट-प्रातिहार्य सहित अरिहन्त मूर्ति हो। देवगढ़ में स्वतन्त्र रूप से इन चैत्य-वृक्षों का अंकन नहीं हुआ, पर पद्मावती आदि देवियों और कुछ साधु-मूर्तियों के पृष्ठभाग में अंकित किये गये वृक्षों को चैत्यवृक्ष माना जा सकता है।

**अष्टप्रातिहार्य** : अष्ट-प्रातिहार्य<sup>9</sup> का अंकन देवगढ़ की प्रायः सभी तीर्थंकर

1. दे.—आदिपुराण, पर्व 23, श्लोक 20।

2. दे.—(अ) टक्कुर फेरु : वास्तुसार प्रकरण (जयपुर, 1936), प्रकरण तीन, श्लोक 51।

(ब) डॉ. हीरालाल जैन : भा.सं. जै. यो., पृ. 297।

3. दे.—रेखाचित्र क्र. 39।

4. दे.—चित्र सं. 7 और 8।

5. यह स्थान देवगढ़ से पश्चिम में छह मील दूर है। वहाँ अनेक मन्दिरों के खंडहर और बहुत-सी मूर्तियाँ अस्त-व्यस्त पड़ी हैं। सहस्रकूट का एक खण्डित भाग भी वहाँ के स्थानीय जैन मन्दिर में रखा है।

6. सेरोन के मं.सं. दो के बाहर तथा मं. सं. छह के गर्भगृह में सहस्रकूट-खण्ड देखे जा सकते हैं।

7. कुछ महत्वपूर्ण एवं प्रतिनिधि मानस्तम्भों के लिए दे.—चित्र सं. 43 से 48 तक।

8. 'वेलुरियफला विद्दुमविसालसाहा दसप्पयारा ते।

पल्लक पाडिहेरम चउदिसमूलगय जिणपडिमा ॥' --त्रिलोकसार, गाथा 1012।

9. अष्ट प्रातिहार्य हैं—अशोकवृक्ष, सिंहासन, छत्रत्रय, प्रभामण्डल, दिव्य-ध्वनि, पुष्पवृष्टि, चेंबरधारी वृक्ष और दुन्दुभिधारी उद्घोषक। और भी देखिए—(अ) अपराजितपृच्छा, पृ. 565। (ब) प्रतिष्ठामारोद्धार. अ. चार, श्लोक 205-212। (स) त्रिकालवर्ती महापुरुष, पृ. 72-81।

मूर्तियों पर हुआ है, जिनपर नहीं हुआ है, उनका निर्माण उस समय हुआ होगा जब (ई. तीसरी शती) अष्ट प्रातिहार्यों का प्रचलन नहीं हुआ था। कुछ मूर्तियों पर ये अपने समग्र रूप में नहीं मिलते, उदाहरण के लिए अशोक वृक्ष और पुष्प वृष्टि के अंकन बहुत कम मूर्तियों पर हुए हैं। दिव्यध्वनि को अंकित करने का कलाकार के पास कदाचित् कोई माध्यम न था। यहाँ की मूर्तियों में अष्टप्रातिहार्य के रूप में प्रायः सिंहासन, छत्रत्रय, प्रभामण्डप, चँवरधारी यक्ष एवं दुन्दुभिधारी उद्घोषक आदि ही प्राप्त होते हैं।<sup>1</sup>

**नव-निधि :** छह-खण्ड पृथ्वी के स्वामी चक्रवर्ती की वैभवसूचिका नवनिधियाँ<sup>2</sup> मानी गयी हैं। देवगढ़ की जैन कला में नवनिधियों का अंकन चक्रवर्ती भरत की मूर्तियों के साथ हुआ है।<sup>3</sup> अन्तर केवल इतना है कि उन्हें तदाकार रूप में न दिखाया जाकर एक के ऊपर एक रखे गये नौ घटों के रूप में अंकित किया गया है।

**धर्मचक्र :** धर्मचक्र<sup>4</sup> तीर्थंकर को केवलज्ञान प्राप्त हो जाने पर देवों द्वारा किये जानेवाले चौदह अतिशय गुणों<sup>5</sup> में तेरहवाँ है। तीर्थंकर के विहार के समय सूर्य से भी अधिक चमकदार यह उनके आगे चलता था। धर्मचक्र का अंकन देवगढ़ की

1. ऐसे ही कुछ मूर्त्यकनों के लिए दे.—चित्र सं. 51-54, 57, 71, 72, 74 आदि।
2. नव-निधि हैं—(1) कालनिधि (ऋतु के अनुसार विविध पदार्थ देनेवाला), (2) महाकालनिधि (नानाविध भोजन पदार्थ देनेवाला), (3) माणवक (आयुध प्रदाता), (4) पिंगल (आभरण प्रदाता), (5) नैसर्ग्य (मन्दिर प्रदाता), (6) पद्म (वस्त्र प्रदाता), (7) पाण्डुक (धान्य प्रदाता), (8) शंख (वादित्र प्रदाता), (9) सर्वराज (नानारत्न) (नानाविध रत्नप्रदाता)। नवनिधियों के विस्तृत विवेचन के लिए और भी देखिए—(क) महापुराण (आदिपुराण) पर्व 37, श्लोक 73-82। (ख) त्रिलोकसार, गथा 682।
3. दे.—चित्र सं. 88, 89। कुछ मन्दिरों के प्रवेश-द्वारों पर भी भरत की मूर्तियाँ उत्कीर्ण की गयी हैं।
4. 'सहस्रारं हसदीप्या सहस्रकिरणद्युतिः धर्मचक्रं जिनस्याग्रे प्रस्थानास्थानयोरमात् ॥'  
—आ. जिनसेन : हरिवंशपुराण, सर्ग 3, पद्य 29। और भी दे.—तिलोपपण्णत्ति, 4-913।
5. देवकृत चौदह अतिशय गुण निम्नांकित हैं—(1) सर्वाधमागधी भाषा, (2) समस्त विरोधी जीवों में भी पारस्परिक मैत्री, (3) दशों दिशाओं का निर्मल रहना, (4) आकाश निर्मल रहना, (5) वृक्षों में सभी ऋतुओं के पुष्प, फल आदि का आना, (6) एक योजन तक पृथ्वी का दर्पणवत् निर्मल रहना, (7) तीर्थंकर के विहार के समय चरणों के नीचे सुवर्ण कमलों का रहना, (8) आकाश में जय-जय ध्वनि होना, (9) शीतल, मन्द और सुगन्धित वायु बहना, (10) गन्धोदक की वृष्टि होना, (11) भूतल दर्पण की भाँति स्वच्छ रहना, (12) सम्पूर्ण जीवों को परम आनन्द की प्राप्ति होना, (13) तीर्थंकर के आगे धर्मचक्र चलना, और (14) तीर्थंकर के समक्ष अष्ट मंगल-द्रव्य होना। विस्तार के लिए और भी दे.—(अ) महापुराण, पर्व 25, श्लोक 266-82। (ब) हरिवंशपुराण, सर्ग 3, श्लोक 16, 17, 29 तथा 215 आदि। (स) तिलोपपण्णत्ति, 4-913 आदि।

जैन कला में तीर्थंकर मूर्तियों के सिंहासन पर मध्य में हुआ है।<sup>1</sup> उसके दोनों ओर एक-एक सिंह (या कभी-कभी एक ओर सिंह तथा एक ओर हिरण) भी दिखाये गये हैं।

धर्मचक्र की मान्यता भारतीय कला में बहुत प्राचीन है। जब महात्मा बुद्ध की मूर्तियाँ नहीं बनती थीं तब उनको प्रत्युपस्थापित (रिप्रिजेंट) करनेवाले प्रतीकों में धर्मचक्र सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। सारनाथ, बोधगया आदि से प्राप्त बोधिसत्त्व और बुद्ध की मूर्तियों में धर्मचक्र के दोनों ओर हिरण भी अंकित हुए हैं।<sup>2</sup> वैदिक धर्म में इसे विष्णु की तर्जनी (अँगुली) पर घूमता हुआ दिखाया जाता है। चक्रवर्ती के सुदर्शन-चक्र की कल्पना कदाचित् धर्मचक्र की ही देन है।

**चक्र** : इसी प्रकार वृषभनाथ की यक्षी चक्रेश्वरी के अनेक हाथों में चक्र दिखाया जाता है।<sup>3</sup>

**श्रीवत्स** : श्रीवत्स भी देवगढ़ की जैन कला में तीर्थंकर मूर्तियों के वक्षस्थल पर एक उभरी हुई चतुष्कोण आकृति के रूप में (एक-एक कोण ऊपर-नीचे होता है और उनमें से प्रत्येक लगभग 60° का कोण बनाता है तथा कभी-कभी अगल-बगल के कोण, कोण न रहकर वृत्ताकार हो जाते हैं) प्राप्त होता है।<sup>4</sup>

यह प्रतीक मथुरा की कुषाणकालीन कला में आयागपट्टों पर उत्कीर्ण किया गया है। परवर्तीकाल में इसे मूर्तियों के वक्षस्थल पर स्थान मिला। इसकी मान्यता भी वैदिक और बौद्ध धर्मों में समान रूप से रही है। इसे विष्णु का चिह्न<sup>5</sup> मानकर उनका एक नाम श्रीवत्सलाञ्छन<sup>6</sup> भी रखा गया। तथा उनकी मूर्ति के वक्षस्थल पर इसे प्रायः अंकित किया जाता है। बौद्ध कला में अलंकरण के रूप में इसका प्रयोग मिलता है।

**स्वस्तिक** : सम्पूर्ण भारतीय दर्शन में स्वस्तिक की व्यापक महत्ता स्वीकार की गयी है। यह पुरुष-प्रकृति-रूप दो तत्त्वों से बने<sup>7</sup> तथा चतुर्गति<sup>8</sup> रूप संसार में घूमनेवाले जीवन सम्बन्धी महासात्य का प्रतीक है। इसके मध्य में खड़ी और आड़ी

1. दे.—चित्र सं. 52, 53, 57, 61, 66, 67, 71, 74 आदि।

2. और भी दे.—मिश्र धर्मरक्षित : सारनाथ का इतिहास (वाराणसी, 1961), पृ. 14 तथा 110 और उनसे सम्बद्ध चित्रफलक।

3. दे.—चित्र सं. 99, 100, 111 आदि।

4. दे.—चित्र सं. 55, 56, 58, 59, 61, 62, 71, 72, 74 आदि।

5. 'श्रीवत्सो लाञ्छनं स्मृतम्'।—अमरकोष, 1-1-29।

6. 'विश्वंभरः कैटभजिद्विधुः श्रीवत्सलाञ्छनः'।—अमरकोष, 1-1-22।

7. सांख्य दर्शन के अनुसार।

8. चार गतियाँ हैं—नरक, तिर्यच, मनुष्य और देव।

दो रेखाएँ पुरुष और प्रकृति, जीव और पुद्गल,<sup>1</sup> चैतन्य और जड़, ब्रह्म एवं माया,<sup>2</sup> अमृत और मर्त्य, सत्य और असत्य, अमूर्त और मूर्त आदि विश्व के दो सनातन तत्त्वों का निर्देश करती हैं।<sup>3</sup> इन रेखाओं के छोरों पर की चार पंक्तियाँ चार गतियों का स्मरण कराती हैं।<sup>4</sup>

देवगढ़ की जैन कला में स्वस्तिक का अंकन तीर्थंकर के लांछन के रूप में हुआ है।<sup>5</sup> जबकि इसका प्राचीनतम रूप मथुरा एवं कौशाम्बी आदि से प्राप्त आयागपट्टों पर उपलब्ध होता है। यहाँ यह विचारणीय है कि तिलोयपण्णत्ती<sup>6</sup> के अनुसार यह दशवें तीर्थंकर शीतलनाथ का लांछन होना चाहिए, जबकि प्रतिष्ठापाठ,<sup>7</sup> प्रतिष्ठासारोद्धार,<sup>8</sup> वास्तुसार प्रकरण<sup>9</sup> और अपराजितपृच्छा<sup>10</sup> के अनुसार सातवें तीर्थंकर सुपाश्वरनाथ का है।

**सोलह मंगल-स्वप्न** : तीर्थंकर तब माता के गर्भ में आते हैं तब वह सोलह मंगल<sup>11</sup> स्वप्न देखती हैं।<sup>12</sup> इन्हें भी मन्दिरों के द्वारों, तोरणों आदि पर अंकित किया गया। देवगढ़ की जैन कला में इनका अंकन एक स्थान<sup>13</sup> पर हुआ है, यद्यपि

1. जैन दर्शन के अनुसार।
2. वेदान्त दर्शन के अनुसार।
3. दिगम्बरदास जैन एडवोकेट : स्वस्तिक के चमत्कार : जैन मित्र (फाल्गुन सुदी 15, वी. सं. 2494), पृ. 189-90।
4. दे.—बृह. जै. शब्दा., पृ. 658।
5. देवगढ़ में कुछ तीर्थंकर मूर्तियों पर स्वस्तिक का उलटा अंकन भी मिलता है।
6. यतिवृषभ सूरि : अधिकार चार, गाथा 604-5।
7. जयसेन : श्लोक सं. 346-47।
8. पं. आशाधर : अ. एक, श्लोक 78-79।
9. ठक्कर फेरु, प्रक. तृ., परि. गद्यांश 7, पृ. 151।
10. भुवनदेवाचार्य : सूत्र 221, पृ. 8।
11. सोलह-मंगल-स्वप्न हैं—(1) गर्जना करनेवाला सफेद हाथी, (2) सफेद बेल, (3) सिंह, (4) दोनों बाजुओं से कलशाभिषेक करते हुए हाथी, (5) लटकती हुई दो पुष्पमालाएँ, (6) चाँदनी सहित पूर्ण चन्द्रमा, (7) उदीयमान सूर्य, (8) सरोवर में क्रीडामग्न मत्स्ययुगल, (9) कमलाच्छादित सुवर्ण कलश, (10) पद्मसरोवर, (11) उन्मत्तलहरचुक्त सागर, (12) रत्नजटित सिंहासन, (13) रत्न-मणि-जटित देव दिमान, (14) नागेन्द्र भवन, (15) प्रकाशमान रत्न शशि और (16) धूमरहित प्रखर अग्नि ज्वाला।
12. (अ) आ. जिनसेन : महापुराण (आदिपुराण), पर्व 12, श्लो. 101 से 119 तक।  
(ब) आ. जिनसेन : हरिवंशपुराण, सर्ग 8, श्लो. 58 से 74 तक।  
(स) अर्हदास : मुनेसुव्रत काव्य, पं. के., भुजबली शास्त्री तथा पं. हरनाथ द्विवेदी द्वारा सम्पादित : अनूदित (आरा, 1929), सर्ग तीन, पृ. 23-25।
13. मं. सं. वारह के गर्भगृह के प्रवेश-द्वार के सिरदल पर। दे.—चित्र सं. 19-20 और 18।

तत्कालीन और उत्तरवर्ती स्थापत्य में इन प्रतीकों का व्यापक प्रचार था। दूधई,<sup>1</sup> खजुराहो,<sup>2</sup> आबू<sup>3</sup> आदि में भी इन्हें देखा जा सकता है।

मंगल-स्वप्नों की मान्यता भारत में बहुत प्राचीन है। छान्दोग्योपनिषद् में उल्लेख है कि 'वह यदि स्त्री को देखे तो समझ ले कि अभीष्ट कार्य सफल हो जाएगा, जैसा कि इस श्लोक में लिखा है : 'जब अभीष्ट कार्यों को हाथ में ले चुकने पर स्वप्न में स्त्री दिखे तो उस स्वप्न के निमित्त से समझ ले कि उन कार्यों में सफलता मिलेगी ही।'

जैन परम्परा के अनुसार भगवान् जिनेन्द्र जब माता के गर्भ में आने लगते हैं तब माता स्वप्नों को देखती है। दिगम्बर परम्परा के अनुसार इन मंगल-स्वप्नों की संख्या सोलह है, जबकि श्वेताम्बर परम्परा में केवल चौदह।<sup>4</sup> अतः ये स्वप्न भगवान् जिनेन्द्र के जन्म का अनुमान कराने में सूचना-स्वरूप हैं।<sup>6</sup>

भगवान् महावीर से पहले स्वप्न-फल समझानेवाले विद्वानों को 'निमित्त-पाठक' कहा जाता था। आजीवक सम्प्रदाय में निमित्त-शास्त्र बहुत प्रचलित था। ईसा-पूर्व प्रथम शती में कालकाचार्य ने इन्हीं से निमित्त-शास्त्र की पूर्ण विद्या प्राप्त की थी।<sup>7</sup> 'अंगविज्जा'<sup>8</sup> (लगभग 600 ई.) नामक महत्त्वपूर्ण जैन ग्रन्थ में निमित्त-विद्या का विस्तृत वर्णन मिलता है।

मंगल-स्वप्नों का जैन परम्परा में बहुत महत्त्व है और विभिन्न ग्रन्थों में विस्तार

1. दे.—पश्चिमाभिमुख शान्तिनाथ मन्दिर के मण्डप का तोरण (भीतर की ओर)।
2. दे.—घण्टई, शान्तिनाथ और आदिनाथ मन्दिर के प्रवेश-द्वार।
3. दे.—खरतर बसहि का प्रवेश-द्वार।
4. 'स यदि स्त्रियं पश्येत् समृद्धं कर्मेति विद्यात्। तदेव श्लोकः—  
यदा कर्मसु काम्येषु स्त्रियं स्वप्नेषु पश्यति।  
समृद्धिं तत्र जानीयात्स्मिन् स्वप्ननिदर्शनि॥' —छान्दोग्योपनिषद्, 2.7-8।
5. 'गजो वृषो हरिः साभिषेकश्रीः स्रक्शशी रविः।  
महाध्वजः पूर्णकुम्भः पद्मसरः सरित्पतिः॥  
विमानं रत्नपुंजश्च निर्धूमाग्निरिति क्रमात्।' —बी.सी. भट्टाचार्य : जैन आइकानोग्राफी, पृ. 51 पर त्रिषष्टिशलाकापुरुष चरित से उद्धृत।  
और भी दे.—भद्रबाहु : कल्पसूत्र : याकोबी सम्पा., सूत्र तीन, पृ. 219। तथा सूत्र 31-36, पृ. 229 से 238 तक।
6. (अ) वीरनन्दी : चन्द्रप्रभचरित, (बम्बई, 1892 वि.), सर्ग 16, प. 57।  
(ब) अर्हदास : मुनिसुव्रत काव्य, स. 3, प. 30।
7. डॉ. उ. प्रे. शाह : स्टडीज़ इन जैन आर्ट, पृ. 105, पादटिप्पणी सं. एक।
8. मुनि पुण्यविजयजी द्वारा सम्पादित तथा प्राकृत जैन टेक्स्ट सोसायटी द्वारा 1957 में प्रकाशित।

200 :: देवगढ़ की जैन कला : एक सांस्कृतिक अध्ययन

से उनका फल बताया गया है।<sup>1</sup> श्वेताम्बर जैन मान्यतानुसार भगवान् महावीर जब देवानन्दा के गर्भ में अवतीर्ण हुए तब उसे चौदह स्वप्न दिखे थे<sup>2</sup> और जब देवों ने उन्हें क्षत्रियाणी त्रिशला के गर्भ में स्थानान्तरित कर दिया तो उसने भी वे चौदह स्वप्न देखे।<sup>3</sup> प्रातः त्रिशला ने इस स्वप्नों की चर्चा अपने पति सिद्धार्थ से की तो उन्होंने निमित्त-पाठकों को बुलाकर उक्त स्वप्नों का फल समझाने के हेतु आदेश दिया था। दिगम्बर जैन मान्यता के अनुसार त्रिशला द्वारा देखे गये स्वप्नों की संख्या सोलह है तथा उनका अर्थ सिद्धार्थ स्वयं समझाते हैं, निमित्त-पाठकों को नहीं बुलाते।<sup>4</sup>

मन्दिरों के प्रवेश-द्वार पर मंगल-स्वप्नों को उत्कीर्ण करने की परम्परा आज भी विद्यमान है।<sup>5</sup> काष्ठफलकों पर भी इन्हें उत्कीर्ण कराया जाता था।<sup>6</sup> पाण्डुलिपियों<sup>7</sup> में और उनके काष्ठ-आवरणों<sup>8</sup> पर तथा दीवारों<sup>9</sup> आदि पर इन्हें चित्रित करने की परम्परा, विशेष रूप से श्वेताम्बरों में बहुत प्रचलित रही।

**चरण-पादुकाएँ :** किसी विशेष महापुरुष, तीर्थंकर या साधु के स्मारक रूप में उसके साधना, निर्वाण या समाधिस्थल आदि पर चरण-चिह्नों की स्थापना की जाती है।

1. 'नागेन तुङ्गचरितो वृषतो वृषात्या सिंहेन विक्रमघनो रमयाधिकश्रीः ।  
स्रग्म्यां धृतश्च शिरसा शशिना क्लमच्छित् सूर्येण दीप्ति महितो ज्ञधतः सुरूपः ॥  
कल्याणभाक्कलशतः सरसः सरस्ती गम्भीरधीरुदधिनासनतस्तुदीशः ।  
देवाहिवासमणिराशयनलैः प्रतीत-देवोरमागम-गुणोद्गम-कर्मदाहः ॥' —मुनिसुव्रतकाव्य, स. तीन, प. 28-29 और भी दे.—(अ) महापुराण (आदिपुराण), पर्व 12, प. 155 और आगे। (ब) चन्द्रप्रभचरित, स. 16, प. 63। (स) पंच मंगल पाठ : वृ. जिनवाणी संग्रह, पृ. 52।
2. दे.—कल्पसूत्र : याकोवी सम्पा., सूत्र तीन, पृ. 219।
3. दे.—वही, सूत्र 31-46, पृ. 229-38।
4. दे.—(अ) महापुराण (आदिपुराण), पर्व 12, श्लोक 101-19। (ब) हरिवंशपुराण, स. आठ, श्लो. 58-74।
5. दिगम्बर जैन बुधूच्या का मन्दिर, बड़ा बाजार, सागर की दूसरी मजिल के गर्भगृह के प्रवेश-द्वार पर। इस द्वार के प्रतीकांकनों के वर्णन आदि के लिए दे.—पं. गोपीलाल अमर : एक प्रतीकांकित द्वार : अनेकान्त, व. 22, कि. दो., पृ. 60-61।
6. ऐसा एक फलक श्री पाण्ड्या गृह, पाटन (उत्तर गुजरात) में सुरक्षित है।
7. दे.—(अ) जैन चित्र कल्पद्रुम, आकृति 73। (ब) आनन्द के. कुमारस्वामी : कैटलाग ऑफ़ दी इण्डियन कलेक्शंस इन दी म्युजियम ऑफ़ फ़ाइन आर्ट्स, जि. 4 (योस्टन, 1924), चित्र 13-14। (स) चित्र कल्पद्रुम, चित्र 17 और 22।
8. कलेक्शंस ऑफ़ प्रवर्तक श्री कान्तिविजय : जे. आइ. एस.ओ.ए. : जिल्द पाँच, पृ. 2-12 एवं सम्बन्धित चित्रफलक।
9. गिरवाबलियाओ (अहमदाबाद, 1934), दो. एक, पृ. 51 पर उल्लिखित।

देवगढ़ में चरण-पादुकाओं के अंकन तीन स्थानों पर प्राप्त हुए हैं। मं. सं. सात (चित्र 10) में स्थापित एक युगल-चरण-पादुका (चित्र संख्या 12) पर सं. 1963 का अभिलेख भी उत्कीर्ण है। इसी मन्दिर में बारह युगल-चरण-पादुकाओं से अंकित (दे. चित्र संख्या 12) एक और शिलाफलक स्थित है, जिसे पर्वत की उपत्यका में किसी ध्वस्त जैन मन्दिर से प्राप्त किया गया था। चरण-पादुकाओं के इन बारह युगलों से अनुमान होता है कि इसी के समान एक अन्य शिलाफलक भी रहा होगा और इस प्रकार कलाकार ने चौबीस तीर्थकरों की चरण-पादुकाएँ दो शिलाफलकों पर उत्कीर्ण की होंगी, जैसा कि उसने कुछ चौबीसियों के मूर्त्यंकन में भी किया है।<sup>1</sup> एक युगल-चरण-पादुका मं. सं. चार की गुमटी के उत्तर-पूर्वी स्तम्भ पर उत्कीर्ण है।

**नव-ग्रह :** देवगढ़ की जैन कला में नवग्रहों का अंकन द्वारों<sup>2</sup> और तीर्थकर मूर्तियों<sup>3</sup> के अतिरिक्त देवी-मूर्तियों के साथ भी हुआ है।<sup>4</sup> इनके सम्बन्ध में चतुर्थ अध्याय में प्रतीकात्मक देव-देवियों के सन्दर्भ में विस्तार से विचार किया जा चुका है।

**शार्दूल :** शार्दूलों का अंकन सज्जागत तत्त्वों के अन्तर्गत होता आया है। देवगढ़ में इन्हें उतनी लोकप्रियता प्राप्त नहीं हुई जितनी खजुराहो आदि में, यद्यपि विविधता की दृष्टि से देवगढ़ पीछे नहीं है। पशु-आकृति पर मनुष्य, शार्दूल, सिंह, हाथी, अश्व, गर्दभ आदि के मस्तक यहाँ दिखाये गये हैं।<sup>5</sup> देवगढ़ में शार्दूल के पिछले पैरों के पास और अगले पैरों की लपेट में एक मनुष्याकृति दिखती है और उस (शार्दूल) के पृष्ठभाग पर उसका नियमन करती हुई (कभी कोई आयुध धारण किये हुए) दूसरी मनुष्याकृति दिखती है। प्रतीत होता है कि शार्दूल वासनाओं का प्रतीक है और नीचेवाली मानवाकृति व्यसनी पुरुष की, जो वासनाओं के चंगुल में पड़ चुका है। किन्तु संयमी एवं इन्द्रिय-विजेता पुरुष, जिसका प्रतीक ऊपरवाली मानवाकृति है, वासनाओं पर विजय प्राप्त कर रहा है। कुछ विद्वानों के अनुसार शार्दूल का इस प्रकार का अंकन विशुद्ध आलंकारिक प्रयोग है।

**मकरमुख :** मकरमुख का अंकन सज्जागत तत्त्वों के अन्तर्गत होता है। ये

1. बारह मूर्तियों से अंकित एक शिलाफलक साहू जैन संग्रहालय में सुरक्षित है।
2. दे.—चित्र सं. छह, 18, 19-20, 35 आदि।
3. दे.—चित्र सं. 51, 63, 68 आदि।
4. जैन चहारदीवारी की उत्तरी वहिर्भित्ति में जड़ी हुई एक देवी मूर्ति में भी नवग्रह अंकित हैं।
5. दे.—मं. सं. 12 के गर्भगृह का प्रवेश-द्वार। कुछ शार्दूल-आकृतियाँ चित्र सं. 22 में कोष्ठकों की बायीं ओर भी देखी जा सकती हैं। इस अंकन में गजमुख शार्दूल विशेष आकर्षक है। यहाँ की कुछ तीर्थकर मूर्ति-फलकों पर भी शार्दूलों का अंकन हुआ है। दे.—चित्र सं. 51, 52 आदि। इनमें अश्वमुख शार्दूल दर्शनीय हैं।



प्रायः प्रणालिकाओं के मुख पर बनाये जाते हैं, जिनमें से जल की धारा बहा करती है। देवगढ़ की जैन कला में इस सज्जा-तत्त्व का उपयोग प्रचुरता से हुआ है। इसकी आकृतियाँ अनेक द्वार-देहरियों के मध्य में तथा कुछ स्तम्भों पर भी मिलती हैं। मं. सं. आठ के मण्डप में एक अत्यन्त कलापूर्ण मकरमुख रखा हुआ है।

**कीर्तिमुख** : कीर्तिमुख भी एक सज्जातत्त्व है। इसका अंकन स्तम्भों, तोरणों और कोष्ठकों आदि पर होता है। कीर्तिमुखों से मालाएँ, लड़ियाँ तथा शृंखलाएँ आदि झूलती हुई दिखायी जाती हैं। देवगढ़ में ये पर्याप्त मात्रा में दिखाई पड़ते हैं। इनके मुखों से लड़ियाँ, शृंखलाएँ आदि झूलती हुई अंकित की गयी हैं।<sup>1</sup>

**कीचक** : कीचक का अंकन भी सज्जागत तत्त्वों के अन्तर्गत होता है। इसका आलेखन ऐसे मनुष्य की आकृति में होता है, जो स्तम्भ-शीर्षों पर बैठकर अपनी पीठ पर समूची छत का भार वहन कर रहा हो। देवगढ़ की जैन कला में इसका अंकन इसी रूप में अत्यन्त सुन्दरता से किया गया है।<sup>2</sup>

**गंगा-यमुना तथा नाग-नागी** : गंगा-यमुना<sup>3</sup> और नाग-नागी<sup>4</sup> के अंकन भी देवगढ़ में प्रचुरता और मोहक मुद्राओं में हुए हैं। ये अधिकतर मन्दिरों के द्वार-पक्षों पर अंकित हैं। इनके सम्बन्ध में चतुर्थ अध्याय में प्रतीकात्मक देव-देवियों के प्रसंग में विवेचन किया जा चुका है।

## तीर्थकरों के लांछन और देव-देवियों के वाहन

देवगढ़ की जैन कला में तीर्थकरों के लांछनों तथा देव-देवियों के वाहनों के रूप में स्वस्तिक, चन्द्र, शंख, वृक्ष आदि प्राकृतिक तत्त्वों, चक्रवाक, मयूर, हंस, गरुड़ आदि पक्षियों एवं वृषभ, गज, अश्व, बन्दर, हिरण, सिंह आदि पशुओं के विविध और सुन्दर प्रतीकांकन भी दर्शनीय हैं।

## 12. पशु-पक्षी तथा अन्य जीव-जन्तु

पशु-पक्षी तथा अन्य जीव-जन्तु देवगढ़ की जैन कला में सेरोन और खजुराहो की भाँति विशेष उद्देश्य की पूर्ति के लिए उत्कीर्ण नहीं किये गये हैं, तथापि यहाँ

1. दे.—चित्र सं. 43 से 45 तक तथा विभिन्न मानस्तम्भ आदि।
2. दे.—चित्र सं. 16। चित्र सं. 43 में मध्यवर्ती स्तम्भ (सं. तीन) पर भी कीचक के सुन्दर आलेखन देखे जा सकते हैं।
3. दे.—मं. सं. 5 (2), 9, 11 (2), 12 (2), 15 (2), 16, 18 (2), 19, 20, 23, 24, 28, 31 तथा लघु मन्दिर सं. 4। और भी दे.—चित्र सं. 6-7, 18, 21, 33, 35 आदि।
4. नाग-नागियों के अंकन प्रायः गंगा-यमुना के साथ हुए हैं।

तीर्थकरों के चिह्न, देव-देवियों के वाहन, भित्तियों, द्वारों, गदाक्षों, स्तम्भों एवं सिंहासनों आदि के अलंकरण के रूप में उनके अनेक अंकन दृष्टिगत होते हैं।

## (अ) पशु

**सिंह :** सिंहासनों<sup>1</sup> पर सिंहों के अंकन की पद्धति अत्यन्त व्यापक और प्राचीन है। सिंह प्रबल शक्ति और प्रभुत्व का प्रतीक माना जाता रहा है। उस पर आसीन होना और भी अधिक बलवत्ता एवं प्रभुत्व का परिचायक है। इसीलिए महान् विभूतियों के आसनों पर सिंह का अंकन एक आवश्यक तथ्य बन गया। यह तथ्य इतना अधिक प्रचलित हुआ कि उसके कारण 'सिंहासन' शब्द आसन का पर्यायवाची बन गया; जिस आसन पर सिंह नहीं होता, उसे भी सिंहासन कहा जाने लगा।

देवगढ़ की जैन कला में सिंहों का अंकन हाथियों से भी अधिक भव्यता से किया गया है।<sup>2</sup> कभी वे दोनों द्वन्द्व युद्ध कर रहे होते हैं<sup>3</sup> तो कभी परस्पर स्नेह क्रीड़ा में मग्न दिखाये जाते हैं।<sup>4</sup> सोलह-मंगल-स्वर्णों में तो सिंह का अंकन हुआ ही है।<sup>5</sup> महावीर स्वामी के चिह्न के रूप में भी यह आलिखित है।<sup>6</sup> सिंहों का अंकन वृषभ या हरिण के साथ भी हुआ है। इसका उद्देश्य तीर्थकर के अहिंसामय धर्म की प्रभावना रही होगी। इस दृष्टि से वह दृश्य अत्यधिक प्रभावोत्पादक बन पड़ा है जिसमें एक सिंही, एक गाय और उन दोनों के बच्चे एक साथ उत्कीर्ण किये हैं।<sup>7</sup> अम्बिका यक्षी के वाहन के रूप में उसे विभिन्न रूपों में सौ से भी अधिक स्थानों (मूर्तिफलकों) पर देखा जा सकता है।<sup>8</sup>

**हाथी :** हाथियों के मूर्त्यकन भी देवगढ़ की जैन कला में बहुत मिलते हैं। सिंहों के साथ<sup>9</sup> और द्वितीय तीर्थकर अजितनाथ के लांछन के रूप में<sup>10</sup> उन्हें देखा

1. देवगढ़ के सिंहासनों के लिए दे.—चित्र सं. 52, 53, 57-61, 66-67, 71, 74, 98 आदि।

2. मं. सं. 4, 5, 11, 12, 23 आदि के द्वारों पर।

3. दे.—चित्र सं. 18, 35 आदि।

4. दे.—मं. सं. 4, 5, 11 (दोनों खण्डों के द्वार), 23 आदि के द्वार। और भी दे.—चित्र सं. 6, 35 आदि।

5. दे.—चित्र सं. 19।

6. मं. सं. 10 के मध्यवर्ती स्तम्भों पर तथा मं. सं. 20 एयं दि. जैन चैत्यालय आदि में स्थित मूर्तियों पर।

7. यह मूर्तिफलक मं. सं. 11 की पहली मंजिल के गर्भगृह में स्थित है।

8. दे.—चित्र सं. 63, 103, 105 और 109 आदि।

9. दे.—चित्र सं. 6-7, 18, 35 आदि।

10. इस तीर्थकर की अनेक मूर्तियाँ विभिन्न मन्दिरों एवं जैन चहारादीवारी में तो प्राप्त होती ही हैं, मं. सं. 12 के गर्भगृह के प्रवेश-द्वार के सिरदल (मध्य में) पर उत्कीर्ण भी देखी जा सकती हैं।

जा सकता है। परन्तु इस विशालकाय प्राणी को तीर्थंकर के अष्ट-प्रातिहार्यों के साथ मालाएँ धारण किये<sup>1</sup> और कलशों से जलधारा छोड़ते हुए<sup>2</sup> दिखाकर कलाकार ने एक नवीन उद्भावना प्रस्तुत की है। वस्तुतः अष्ट-प्रातिहार्यों के अन्तर्गत या उनके साथ हाथियों के अंकन का कोई शास्त्रीय विधान दृष्टिगत नहीं होता, तथापि उनका यह अंकन स्वाभाविक और भव्य ही प्रतीत होता है। तीर्थंकर-मूर्तियों के साथ हाथियों का यह अंकन देखकर विचार करना पड़ता है कि कहीं ऐसा तो नहीं कि जैन कलामर्मज्ञ ने 'गजलक्ष्मी'<sup>3</sup> को अंकित कराने का लोभ इस रूप में अभिव्यक्त किया हो। सोलह-मंगल-स्वप्नों में इसका प्रभावशाली अंकन हुआ है<sup>4</sup> तथा तीर्थंकर की माता के पर्यकासन में भी इसका आलेखन सुन्दरता और भव्यता के साथ हुआ है।<sup>5</sup>

**वृषभ :** वृषभ का अंकन देवगढ़ की जैन कला में प्रथम तीर्थंकर के लांछन के रूप में<sup>6</sup> तथा सोलह-मंगल-स्वप्नों के अन्तर्गत<sup>7</sup> मिलता है।

**अश्व :** अश्व का आलेखन यहाँ की कला में तीर्थंकर सम्भवनाथ के लांछन के रूप में हुआ है।<sup>8</sup>

**शार्दूल :** अन्य स्थानों की भाँति यहाँ भी शार्दूलों का अंकन उनके वास्तविक रूप में कम और पौराणिक रूपों में अधिक किया गया है। जैसा कि कहा जा चुका है, उसके विभिन्न रूपों के अंकन सज्जागत तत्त्वों के अन्तर्गत हुए हैं। उसके शरीर पर शार्दूल, सिंह, हाथी, अश्व और गर्दभ आदि के मस्तक दिखाये गये हैं।<sup>9</sup>

**हरिण :** हरिण का अंकन यहाँ सोलहवें तीर्थंकर शान्तिनाथ के लांछन के रूप में तथा सिंह के साथ मिलता है।<sup>10</sup>

**बन्दर :** देवगढ़ की जैन कला में बन्दर (वानर) का आलेखन चौथे तीर्थंकर अभिनन्दननाथ के लांछन के रूप में किया गया है।<sup>11</sup>

1. दे.—चित्र सं. 51, 52, 74 आदि।

2. दे.—चित्र सं. 71, 72 आदि। एवं मं. सं. चार आदि में इस प्रकार के अंकन युक्त अनेक मूर्तिफलक देखे जा सकते हैं।

3. साँची और भरहुत में गजलक्ष्मी की अनेक मूर्तियाँ मिली हैं, जिनसे स्पष्ट है कि इ.पू. द्वितीय-प्रथम शती से इस प्रकार के अंकन होने लगे थे।

4. दे.—चित्र सं. 19।

5. दे.—चित्र सं. 93।

6. दे.—चित्र सं. 56, 60, 67, 74, 75 आदि।

7. दे.—चित्र सं. 19।

8. मं. सं. दस में मध्यवर्ती स्तम्भ पर।

9. दे.—चित्र सं. 51, 52, 57 आदि तथा विभिन्न मन्दिरों के द्वार।

10. मं. सं. दस के मध्य, स्तम्भ के अतिरिक्त मं. सं. 31 के प्रवेश-द्वार के सिरदल पर तो इस लांछन सहित तीर्थंकर-मूर्ति उल्कीर्ण हैं ही, विभिन्न मन्दिरों में भी ऐसी मूर्तियाँ विद्यमान हैं।

11. दे.—चित्र सं. 58।

**कुत्ता :** यहाँ कुत्ता (कुक्कुर) का अंकन क्षेत्रपाल के वाहन के रूप में ही मिला है।<sup>1</sup>

## (ब) पक्षी

देवगढ़ की जैन कला में विभिन्न पक्षियों के अंकन मिलते हैं। इनमें गरुड़ (चित्र संख्या 99, 100 और 111), मयूर (चित्र संख्या 76 और 112), हंस (चित्र संख्या 96), और चक्रवाक (चित्र संख्या 56) उल्लेखनीय हैं। इनके अंकन प्रायः वाहनों और तांछनों के रूप में हुए हैं। सभी आलेखन बहुत आकर्षक हैं।

## (स) अन्य जीव-जन्तु

**सर्प :** सर्प, जो तेईसवें तीर्थंकर पार्श्वनाथ के साथ उनके पूर्व-भव से ही सम्बद्ध रहा है, यहाँ शतशः अंकित हुआ है।<sup>2</sup> पार्श्वनाथ की मूर्ति का वह एक अविभाज्य अंग-सा बन गया है। मथुरा की कुषाण-कालीन मूर्तियों में भी वह देखा जा सकता है और अब निर्मित होनेवाली मूर्तियों में भी उसकी उपस्थिति दर्शायी जाती है। यहाँ वह अपने सशक्त सात फणों की अवलि ताने हुए<sup>3</sup> संसार के आततायियों को ललकारता हुआ-सा प्रतीत होता है। उसकी कुण्डली अपने उपास्य का कभी आसन<sup>4</sup>, कभी पृष्ठवर्ती उपधान<sup>5</sup> और कभी दोनों बनकर तथा कभी दोनों पार्श्वों में अंगरक्षक<sup>6</sup> के रूप में उपस्थित रहकर अपूर्व भक्ति की सृष्टि करती है। परम्परागत रूप में ही सर्प सातवें तीर्थंकर सुपार्श्वनाथ के मस्तक पर पाँच फणों की अवलि फैलाये दिखाया जाता है।<sup>7</sup> कभी-कभी वह धरणेन्द्र-पद्मावती पर भी अपनी फणावलि ताने रहता है।<sup>8</sup> नाग-मिथुन के रूप में भी इसके दर्शन होते हैं।<sup>9</sup> और कभी-कभी वह तपस्या-रत बाहुवली के शरीर पर भी रेंग जाता है।<sup>10</sup>

1. दे.—चित्र सं. 113।

2. कुड़ के लिए दे.—चित्र सं. 55, 56, 63, 69, 70 71।

3. दे.—चित्र सं. 56, 69, 70, 71 आदि।

4. दे.—चित्र सं. 71।

5. दे.—चित्र सं. 69, 70।

6. दे.—चित्र सं. 55।

7. दे.—चित्र सं. 8 में सुपार्श्वनाथ।

8. दे.—चित्र सं. 107 से 110 तक तथा 112।

9. दे.—विभिन्न मन्दिरों के द्वार पक्षों पर गंगा-वमुना के पार्श्व में नाग-नागी मूर्तियाँ। और भी दे.—चित्र सं. 6-7, 33 आदि।

10. दे.—चित्र सं. 86 से 88 तक।

206 :: देवगढ़ की जैन कला : एक सांस्कृतिक अध्ययन

गोह : तपस्या-रत बाहुवली के शरीर पर अन्य विपैले जन्तुओं के साथ कभी-कभी गोह भी चढ़ा हुआ अंकित किया गया है।<sup>1</sup>

मकर : मकर के अंकन गंगा के वाहन और मकरमुखों के रूप में यहाँ बहुत मिलते हैं।<sup>2</sup>

कच्छप : कच्छप का आलेखन यमुना के वाहन के रूप में दिखाया गया है।<sup>3</sup>

मत्स्य : मत्स्य-युगल सोलह मंगल-स्वप्नों के अन्तर्गत अंकित हुआ है।<sup>4</sup>

छिपकली : छिपकली को बाहुवली के शरीर पर चढ़ा हुआ उत्कीर्ण किया गया है।<sup>5</sup>

वृश्चिक : यहाँ वृश्चिक भी बाहुवली के शरीर पर रेंगते हुए मिलते हैं।<sup>6</sup>

### 13. आसन और मुद्राएँ

देवगढ़ की जैन कला में आसनों और मुद्राओं का आलेखन आनुषंगिक रूप में हुआ है, खजुराहो आदि की भाँति उद्देश्यपूर्वक नहीं। इसका कारण कदाचित् यही हो सकता है कि देवगढ़ कौलों और कापालिकों के प्रभाव से प्रायः मुक्त रहा, जिनकी उत्तानभोगवादी नीति के फलस्वरूप खजुराहो, कोणार्क और भुवनेश्वर की आसन-प्रधान एवं मुद्रावहल कला का विस्तार हुआ। तथापि देवगढ़ में कुछ ऐसी मुद्राएँ और आसन प्राप्त होते हैं, जो अन्वय कदाचित् ही प्राप्त होंगे। उदाहरण के लिए उपाध्याय<sup>7</sup> वितर्क मुद्रा में तथा तीर्थंकर की माता<sup>8</sup> अर्ध-पर्यकासन में उत्कीर्ण की गयी हैं।

#### (अ) आसन

यहाँ तीर्थंकर मूर्तियाँ नियमानुसार पद्मासन<sup>9</sup> और कायोत्सर्गासन<sup>10</sup> में उत्कीर्ण

1. दे.—चित्र सं. 88।

2. दे.—चित्र सं. 6, 7, 18 आदि।

3. दे.—चित्र सं. 6, 7, 18, 21, 33 आदि।

4. दे.—चित्र सं. 19-20।

5. दे.—चित्र सं. 86।

6. दे.—चित्र सं. 87।

7. दे.—चित्र सं. 74।

8. दे.—चित्र सं. 93।

9. कुछ पद्मासन मूर्तियों के लिए दे.—चित्र सं. 50-54, 57, 60, 61, 66, 67, 71, 72, 74 आदि।

10. कुछ कायोत्सर्गासन मूर्तियों के लिए दे.—चित्र सं. 55, 56, 58-60, 62-65, 68-70, 72, 73, 75, 76 आदि।

हुई हैं। कुछ मूर्तियाँ अर्धपद्मासन<sup>1</sup> में भी प्राप्त होती हैं। देव-देवियों के अंकन में अर्ध-पद्मासन, उत्थित पद्मासन,<sup>2</sup> ललितासन,<sup>3</sup> राजलीलासन,<sup>4</sup> अर्ध-पर्यकासन<sup>5</sup> आदि का उपयोग हुआ है।

## (ब) मुद्राएँ

देवगढ़ की जैन कला में मुद्राओं के अन्तर्गत वितर्क,<sup>6</sup> धर्मोपदेश,<sup>7</sup> नासाग्र,<sup>8</sup> अंजलि,<sup>9</sup> त्रिभंग,<sup>10</sup> कटिहस्त,<sup>11</sup> आलिंगन,<sup>12</sup> सम्भोग,<sup>13</sup> वरद,<sup>14</sup> अभय<sup>15</sup> आदि मुद्राएँ मुख्य रूप से अंकित प्राप्त होती हैं।

## 14. प्रकृति-चित्रण

विन्ध्याचल की अर्ध-वृत्ताकृति पर्वतमाला की हरी-भरी गोद में गगनचुम्बी मन्दिरों को सँजोये, कल-कल निनादिनी वेत्रवती के आलिंगन से आह्लादित देवगढ़ की वसुन्धरा पर्वत-नन्दिनी गौरी का स्मरण दिलाती है, जो पर्वतराज हिमालय की गोद में गगनचुम्बी कैलास के समीप गंगा से प्रक्षालित-चरणा होती हुई खेल रही हो। देवगढ़ का कलाकार देव-शास्त्र और मूर्ति-विज्ञान के रूढ़ नियमों से सुपरिचित अवश्य था, परन्तु प्रकृति की रमणीय रूपराशि का रसिक भी वह अवश्य था। उसकी इस

1. ऐसी कुछ मूर्तियाँ जैन चहारदीवारी में देखी जा सकती हैं।
2. दे.—चित्र सं. 83, 112, 113 आदि।
3. दे.—चित्र सं. 99, 100, 111 आदि।
4. दे.—चित्र सं. 108-110 आदि।
5. दे.—चित्र सं. 93।
6. दे.—चित्र सं. 84 और 85।
7. दे.—चित्र सं. 83।
8. दे.—चित्र सं. 51-60, 67-69, 71-72, 74 आदि।
9. दे.—चित्र सं. 77 में पीछे खड़ा साधु, चित्र 78 में पीछे खड़े साधु तथा चित्र 122 में विनीत श्रावक।
10. दे.—चित्र सं. 59 में कमलधारी देव, तथा चित्र 52, 61, 64, 74 में चँवरधारी एवं विभिन्न मन्दिरों के द्वारों पर गंगा-यमुना के अंकन। और भी दे.—चित्र सं. 103, 104, 105 आदि।
11. दे.—चित्र सं. 101, 112, 117 आदि।
12. दे.—चित्र सं. 119, 121 आदि तथा चित्र 90 का निचला कोष्ठक।
13. दे.—चित्र सं. 120 में ऊपरी प्रथम कोष्ठक।
14. दे.—चित्र सं. 19, 20, 76, 95 आदि।
15. दे.—चित्र सं. 99, 100 एवं चतुर्थ अ. में विद्या-देवियों का वर्णन।

208 :: देवगढ़ की जैन कला : एक सांस्कृतिक अध्ययन

अभिनन्दनीय विशेषता का परिचय हमें उसके द्वारा कला-प्रदर्शन के लिए चुने गये स्थान को देखकर मिलता है। धर्मोपदेशकों और कला-प्रेमियों ने अवश्य ही उसकी अभिरुचि के परिष्कार में पर्याप्त सहयोग दिया था।

एक विशाल समतल भूभाग के मध्य मध्यमाकार पर्वतमाला पर अपनी परिष्कृत कला-शैली का उद्घाटन करके कलाकार फूला न समाया होगा। कभी लरजती-गरजती, कभी उछलती-बहकती और कभी प्रोषितपतिका की भाँति क्षीण-शरीरा वेत्रवती कलाकार के लिए सौ-सौ प्रोत्साहन देती होगी। ऐसा अनुपम-क्षेत्र, ऐसा सिद्धहस्त कलाकार और कला-प्रदर्शन का लक्ष्य त्रिलोकीनाथ तीर्थकर, सभी कुछ अब अद्भुत और अपूर्व दृश्य की सृष्टि करनेवाले। तो आइए, हम इस सृष्टि की प्राकृतिक-सुषमा पर एक उड़ती नजर ही डालें।

तीर्थकर की माता द्वारा देखे गये सोलह मंगल-स्वप्नों के अंकन<sup>1</sup> में कलाकार को प्रकृति के विभिन्न रूप प्रस्तुत करने का अच्छा अवसर मिला है। ग्यारहवें स्वप्न में उत्ताल तरंगों से युक्त समुद्र और दसवें में कमलाच्छन्न पद्माकर का अंकन प्रभावोत्पादक है। सरोवर में अठखेलियाँ करता हुआ मत्स्य-युगल, लक्ष्मी का अभिषेक करता हुआ गज-युगल और बत्तीस शुण्डा दण्डों को आकाश में लहराता हुआ ऐरावत देखते ही बनता है। उदीयमान सूर्य, पूर्णाकार चन्द्र, उड़ान भरता हुआ दिव्य विमान और नयनाभिराम नागेंद्र भवन अलौकिक छटा बिखेर रहे हैं। रत्नजटिल सिंहासन, प्रकाशमान रत्नराशि, जाज्वल्यमान निर्धूमाग्नि और मालाओं से शोभायमान वृक्ष सुन्दर बन पड़े हैं। और इन सबके प्रारम्भ में विशालाकार गज, धवल-वर्ण वृषभ और वनराज सिंह अपने सम्पूर्ण बल-वैभव का प्रदर्शन कर रहे हैं।

अशोक-वृक्ष,<sup>2</sup> आम्रवृक्ष<sup>3</sup> और कल्पवृक्ष<sup>4</sup> के अंकन में कलाकार ने प्रशंसनीय सफलता प्राप्त की है। अम्बिका के कर-कमल से लम्बमान आम्र-गुच्छक,<sup>5</sup> और बाहुवली को आलिंगन-पाश में लिये लताएँ,<sup>6</sup> कला की उत्कृष्ट कोटि को प्रदर्शित कर रही हैं। पत्रावलियों,<sup>7</sup> कमलाकृतियों<sup>8</sup> और कमलदलों<sup>9</sup> के अलंकरण सूक्ष्मता से अंकित हुए हैं।

1. दे.-चित्र सं. 19-20।

2. दे.-चित्र सं. 84।

3. दे.-अम्बिका-मूर्तियाँ, चित्र 103-105, 109 आदि।

4. मं. सं. 12 आदि के प्रवेश-द्वारों की देहती पर मध्य में उभारी गयी वृक्षाकृतियों को कल्पवृक्ष (स्थानीय स्तर पर) कहा जाता है।

5. दे.-चित्र सं. 63, 103-105 तथा 109 आदि।

6. दे.-चित्र सं. 86।

7. दे.-चित्र सं. 16, 35, 48, 90, 114-15 आदि।

8. दे.-चित्र सं. 30, 76 आदि।

9. दे.-चित्र सं. 11।

वाहुवली के शरीर पर अंकित लताएँ,<sup>1</sup> सर्प,<sup>2</sup> वृश्चिक<sup>3</sup> और छिपकलियाँ<sup>4</sup> हमें अनायास ही उनके प्रति भक्ति से अभिभूत कर देती हैं। प्रकृति की गोद में वृक्षों के नीचे चल रहे गुरुकुल, जन्मजात वैर त्यागकर हिल-मिल जानेवाली सिंही और गाय तथा उनके बच्चे, एवं परस्पर स्नेह-क्रीड़ा करनेवाले गज-सिंह,<sup>5</sup> देवगढ़ की जैन कला में निश्चय ही प्रकृति का यथार्थ स्वरूप प्रस्तुत करते हैं।

## 15. उपसंहार

इन चतुर्थ और पंचम अध्यायों में हमने देवगढ़ की कुछ उल्लेखनीय मूर्तियों पर प्रकाश डाला है।

हम सभी मूर्तियों का उल्लेख नहीं कर सके हैं : क्योंकि उनमें से अधिकांश खण्डित हो गयी हैं और कुछ उल्लिखित मूर्तियों से कोई विशेषता नहीं रखतीं। कुछ मूर्तियाँ चुरा ली गयी होंगी तथा कुछ भूगर्भ में पड़ी किसी पुरातत्त्ववेत्ता की कुदाल की प्रतीक्षा कर रही होंगी। तथापि हमने जिन मूर्तियों का अध्ययन यहाँ प्रस्तुत किया है, वे कला के विभिन्न विकास-क्रमों और पहलुओं का पर्याप्त प्रतिनिधित्व करती हैं।

इस अध्ययन में देव-शास्त्रों, साहित्यिक और पौराणिक उल्लेखों तथा परम्परागत मान्यताओं को आधार बनाया गया है, अन्यत्र उपलब्ध जैन, बौद्ध और वैदिक मूर्तियों से यथासम्भव तुलना की भी गयी है।

1. दे.—चित्र सं. 86।

2. दे.—चित्र सं. 86-88।

3. दे.—चित्र सं. 87।

4. दे.—चित्र सं. 86।

5. दे.—चित्र सं. 6, 35 आदि।



## 6

### धार्मिक जीवन

स्मारकों, अभिलेखों और अन्य स्रोतों के अध्ययन से ज्ञात होता है कि देवगढ़ में जैन, वैष्णव तथा शैव धर्म समान रूप से विकास पाते रहे। जैन धर्म का प्रभाव यहाँ बहुत प्राचीन काल से प्रारम्भ होकर अबतक चल रहा है। वैष्णव और शैव धर्मों का प्रारम्भ गुप्तकाल से हुआ और सत्रहवीं शती तक चला। जैनों ने पर्वत की सुरम्य अधित्यका को तो अपनी निर्माणस्थली बनाया ही, उपत्यका पर भी कुछ मन्दिरों का निर्माण कराया।

अधित्यका पर के अधिकांश मन्दिर प्रायः अच्छी स्थिति में हैं, परन्तु उपत्यका पर एक भी स्मारक धराशायी हुए बिना नहीं रहा है।<sup>1</sup> उनके अवशेष प्राप्त होते हैं। कदाचित् किन्हीं आक्रमणकारियों ने उपत्यका के मन्दिरों, जिनमें शैव और वैष्णव भी सम्मिलित थे, को नष्ट-भ्रष्ट कर दिया और अधित्यका पर या तो वे किसी कारण से पहुँच नहीं सके या वहाँ भी स्मारकों के होने का उन्हें परिज्ञान नहीं था।

जैन धर्म का प्रचार देवगढ़ में पयाप्त रहा, यह तो विद्यमान स्रोतों से भलीभाँति प्रकट होता है पर उनसे यह प्रकट नहीं होता कि वह प्रचार किस रूप में रहा। स्मारकों की विशालता और विपुलता, मूर्तियों की कलात्मकता और अधिकता तथा अभिलेखों की बड़ी संख्या से धार्मिक प्रभावना की अधिकता का बोध तो होता है, पर उनसे यह नहीं जाना जा सकता कि वह प्रभावना समाज में किन विभिन्न रूपों में स्थान पाती थी।

मूर्तियों में तीर्थकरों और यक्ष-यक्षियों की मूर्तियों का बहुत बड़ा अनुपात है, पर खजुराहो तथा ऐसे ही अन्य स्थानों की भाँति यहाँ जन-जीवन के विभिन्न पक्षों का अंकन बहुत ही कम हुआ है। इसी प्रकार अभिलेखों में भी मन्दिरों के निर्माण और मूर्तियों की स्थापना के अतिरिक्त किसी अन्य अनुष्ठान या धार्मिक-प्रभावना

1. उपत्यका की अधिकांश सामग्री इधर-उधर तथा अधित्यका पर ले जायी जा चुकी है तथापि उसके अवशेष अपने मूलस्थान पर देखे जा सकते हैं।

आदि की चर्चा नगण्य है। फलतः, विभिन्न युगों में देवगढ़ में जैन धर्म किस गति से और किस रूप में विकसित हुआ, यह स्पष्ट रूप से नहीं कहा जा सकता।

## 1. धार्मिक जीवन के प्रतिनिधि

### साधु समुदाय

देवगढ़ के अभिलेखों से ज्ञात होता है कि वहाँ का साधुवर्ग श्रावकों पर अच्छा प्रभाव रखता था। स्थान-स्थान पर श्रावक-श्राविकाओं को साधु-साध्वियों की विनय या उपासना करते हुए अंकित किया गया है।<sup>1</sup> साधुवर्ग स्वयं भी प्रबुद्ध था। वह अपना समय अध्ययन, मनन और अध्यापन में ही व्यतीत करता था।<sup>2</sup> हाथ में ग्रन्थ लिये हुए उपाध्याय परमेष्ठी को साधुओं के समक्ष उपदेश देते हुए अंकित किया जाना देवगढ़ में साधारण बात है। अनेक स्थानों पर साधु-साध्वियों को उपाध्याय या आचार्य परमेष्ठी की उपासना करते हुए अंकित दर्शाया गया है।<sup>3</sup>

### भट्टारक

देवगढ़ में भट्टारकों का प्रचार और प्रभाव अपनी चरम सीमा पर पहुँचा रहा प्रतीत होता है। जैसा कि अन्यत्र भी हुआ है, देवगढ़ में भी भट्टारकों के कारण एक ओर जैन धर्म को सुरक्षा और प्रभावना का वरदान मिला, तो दूसरी ओर आडम्बरप्रियता और भौतिकता का अभिशाप भी मिला। ऐसी प्रवृत्तियाँ तत्कालीन भारत में सर्वदेशीय और सभी धर्मों में परिलक्षित होती हैं। शैव-परम्परा में कौल और कापालिक सम्प्रदाय आध्यात्मिक कोटि के नहीं थे। ऐसे लोग चमत्कार-प्रदर्शन, भोगविलास और भौतिकवाद की प्रवृत्तियों में अधिक विश्वास रखते थे, मन्दिरों में भी सम्भोग की वस्तुएँ उपलब्ध कराते थे। खजुराहो, भेड़ाघाट और कोणार्क में इनके केन्द्र थे।<sup>4</sup> काश्मीर में तो इनकी परम्परा अब भी उपलब्ध होती है।

दक्षिण भारत, राजस्थान और अन्य बहुत-से स्थानों के भट्टारकों ने ग्रन्थ-रचना और शास्त्रभण्डारों की सुरक्षा के महत्त्वपूर्ण कार्य किये, किन्तु देवगढ़ में न तो उनके

1. दे.—चित्र सं. 22, 77 से 83 तक, 86, 88, 90, 91 तथा स्तम्भ सं. 3, 11 आदि।

2. दे.—आचार्य-उपाध्यायों की मूर्तियाँ तथा विभिन्न पाठशाला दृश्य। चित्र सं. 75 और 77 से 85 तक।

3. दे.—विभिन्न पाठशाला दृश्य तथा चित्र सं. 77 से 82 तक एवं 85।

4. विस्तार के लिए दे.—प्रो. कृष्णदत्त वाजपेयी : मध्यप्रदेश का ऐतिहासिक और सांस्कृतिक अनुशीलन, वलेंटिन आफ़ ऐंशेंट इण्डियन हिस्ट्री एण्ड आर्क्योलॉजी, संख्या 1 (सागर, 1967 ई.), पृ. 87।

द्वारा संगृहीत शास्त्र-भण्डार उपलब्ध हुआ है और न उनके द्वारा रचित ग्रन्थ ही कहीं दिखाई पड़े हैं।

सुविधा की दृष्टि से, यहाँ जैन धर्म को मुनि धर्म और श्रावक धर्म के दो भागों में विभक्त करेंगे और तत्पश्चात् विचार करेंगे कि देवगढ़ में उनका प्रचार किन रूपों में और कहाँ तक रहा।

## 2. भट्टारक प्रथा का आविर्भाव

मुनिवर्ग, जिसमें आचार्य और उपाध्याय भी सम्मिलित हैं, का देवगढ़ में उपलब्ध तथा अन्य सहायक स्रोतों से मूल्यांकन करने के लिए यह देखेंगे कि जैन धर्म की दिगम्बर परम्परा में मुनि-धर्म का विकास किस प्रकार हुआ। इसके साथ ही यह भी देखेंगे कि भट्टारकवर्ग, जो अब भी यत्र-तत्र विद्यमान है, मुनिवर्ग से किस प्रकार आविर्भूत हुआ और उसने अपने को श्रावक वर्ग की अपेक्षा मुनिवर्ग में या उसके समीपतर ही परिगणित कराना क्यों आवश्यक समझा।

### मूलसंघ और उसपर काल-दोष का प्रभाव

निवृत्ति-प्रधान जैनधर्म में मुक्ति के साधक, गृहत्यागी, तपस्वी, श्रमण साधुओं की परम्परा प्राचीन काल से है। इसके मूलसंघ में ऐसे मुनियों का समुदाय था जो शास्त्रोक्त मुनि-चरित्र का पालन करता था। इस समुदाय में धरसेन,<sup>1</sup> भूतबली,

1. धरसेन से लेकर गुणभद्र तक के आचार्यों के विस्तृत और प्रामाणिक परिचय के लिए दे.—
  - (अ) धरसेन 1) षट्खं. : डॉ. ही. ला. जैन, सम्पा. (अमरावती, 1939), जिल्द 1, प्रस्ता., पृ. 13-15, 23-31। 2) डॉ. जगदीशचन्द्र जैन : प्रा. सा.इ. (वाराणसी, 1961 ई.), पृ. 274-88। 3) पं. कैलाशचन्द्र शा. : जै. ध., पृ. 246। 4) डॉ. ही. ला. जैन : भा. सं. जै. यो., पृ. 53, 74, 82। 5) पं. परमानन्द शा. : काष्ठा संघ लाट बागड गण की गुवावली, अने., व. 15, कि. 3, पृ. 135-37।
  - (ब) भूतबली 1) षट्खं., जिल्द 1, प्र. पृ. 17-21। 2) प्रा.सा.इ., पृ. 289-93। 3) जै. ध., पृ. 247। 4) भा. सं. जै.यो., पृ. 32, 42, 53, 74। 5) अने., व. 15, कि. 3, पृ. 137।
  - (स) पुष्पदन्त 1) षट्खं., जि. 1, प्र. पृ. 17-21। 2) प्रा. सा. इ., पृ. 98, 148, 274, 279 तथा 324। 3) जै. ध. पृ. 247। 4) भा. सं. जै. यो., पृ. 53 और 74। 5) अने., व. 15 कि. 3, पृ. 137।
  - (द) कुन्दकुन्द 1) षट्खं., जि. 1, प्र. पृ. 31, 46-48। 2) प्रा.सा.इ., पृ. 297-302। 3) प्रवचनसार, डॉ. ए.एन. उपाध्ये सम्पादित (बम्बई, 1935 ई.), प्र. पृ. 22। 4) जै. ध., पृ. 247-48। 5) पं. कैलाशचन्द्र शा. : जै. न्या. (काशी, 1966 ई.), पृ. 6-8। 6) समयसार : जै. एल. जैनी सम्पा., अँगरेजी (लखनऊ 1930), भूमिका, पृ. 1-8। 7) समयसार : ए. चक्रवर्ती सम्पा. (अँगरेजी), (काशी, 1950 ई.), भू. पृ. 147-50। 8) मुक्तार जुगलकिशोर : जै.सा.इ.वि.प्र.

पुष्पदन्त, कुन्दकुन्द, उमास्वामी, समन्तभद्र, वीरसेन, जिनसेन, गुणभद्र आदि अनेक उल्लेखनीय मुनि हुए। तत्पश्चात् काल-दोष से मूलसंघ में श्रेष्ठ मुनि विरले रह गये।'

(कलकत्ता, 1956 ई.), लेख सं. 6 और 7। 9) भा.सं. जै. यो., पृ. 83-85, 98-105। 10) डॉ. ही.ला. जैन : जै. शि.सं., भाग 1, पृ. 128-30, 140। 11) प्रो. दलसुख, माल. : जै. दा.सा.सिंह. (बनारस, 1949 ई.), पृ. 7। 12) डॉ. बलदेव उपा. भा.द. (वाराणसी, 1960 ई.), पृ. 119। 13) वाचस्पति गैरोला : सं. सा.इ. (वाराणसी, 1960 ई.), पृ. 262। 14) प्रो. राजकुमार जैन : अध्यात्म पदा. (काशी, 1954 ई.), भू.पृ. 70-75।

(इ) उमास्वामी 1) पं. नाथूराम प्रेमी : जै. सा. इ. (बम्बई, 1956), पृ. 525-547। 2) पं. सुखलाल संघवी : त. सू. (बनारस, 1952), प. प. 1-33। 3) भा. सं. जै. यो., पृ. 85-86, 108-10। 4) जै.शि. सं. भाग 1, पृ. 1 तथा 140। 5) जै.दा.सा.सि., पृ. 7-10। 6) पं. फूलचन्द्र शा. : सर्वार्थसिद्धि (काशी, 1955ई.), पृ. 57-80। 7) सं. सा.इ., पृ. 255-56 तथा 262। 8) अध्यात्म पदा., भू. पृ. 75-76। 9) भा.द., पृ. 118-19। 10) जै. ध., प. 248। 11) जै. न्या., पृ. 8। 12) मुनि कान्तिसागर : खोज की एगडिण्डियों (काशी, 1953 ई.), पृ. 246-47। 13) जै. सा.इ. वि. प्र., लेख सं. 8 से 11 तक।

(ई) समन्तभद्र 1) पं. जुगलकिशोर मुख्तार : स्वामी समन्तभद्र (बम्बई, 1925ई.), सम्पूर्ण ग्रन्थ। 2) पं. जुगल, मु. : जै.सा.इ.वि.प्र., लेख सं. 12 से 28 तक। 3) पं. जुगल, मु. : समीचीन धर्मशास्त्र, (दिल्ली, 1955 ई.), पृ. 94, 119। 4) जै. सा.इ., पृ. 534-58। 5) पं. नारा. प्रेमी : विद्वद्रत्नमाला (बम्बई, 1912 ई.), पृ. 159-74। 6) भा.सं. जै. यो., पृ. 87-88, 113। 7) जै. शि. सं., भा. 1, पृ. 141। 8) प्रो. दरवारीलाल कोटिया : देवागम अपरनाम आप्तमीमांसा (दिल्ली, 1967 ई.), प्र. पृ. 37-48। 9) समन्तभद्र : स्तुतिविद्या, पं. पन्नालाल साहित्या. अनूदित (सहारनपुर, 1950), भू.पृ. 18-26। 10) जै.ध., पृ. 248-49। 11) जै. न्या., पृ. 8-21। 12) जै. दा.सा. सिं., पृ. 15-17। 13) सं.सा. इ., पृ. 263। 14) अने., व. 15, कि. 3, प. 137।

उ) वीरसेन 1) षट्खं, जिल्द 1, प्र. पृ. 36-45। 2) प्रा.सा.इ., पृ. 277-88। 3) जै.सा.इ., पृ. 127-54। 4) भा.सं.जै.यो., पृ. 53-74। 5) सं. सा.इ., पृ. 259-60। 6) जै.ध., पृ. 252। 7) पं. बालचन्द्र सिद्धान्त शा. : आ. वीरसेन और उनकी धवला टीका : गुरु गोपालदास वरैया स्मृति ग्रन्थ (सागर, 1967 ई.), पृ. 465-73। 8) प्रो. उदयचन्द्र एम.ए. : आ. वीरसेन की धवला टीका, भारतीय जैन साहित्य परिवेशन : एक : (आगरा, 1965ई.), पृ. 123-28।

(ऊ) जिनसेन 1) जै.सा.इ., पृ. 127-54। 2) विद्वद्रत्नमाला, पृ. 1-89। 3) भा.सं.जै. यो., पृ. 166-67। 4) पं. पन्नालाल साहित्याचार्य : महापुराण, भाग 1 (काशी, 1951 ई.), पृ., 29-43। 5) डॉ. नेमिचन्द्र शा. : जिनसेन का काव्यसिद्धान्त, अने., व. 16, कि. 1, पृ. 4-10। 6) जै. ध., पृ. 252। 7) सं. सा. इ., पं. 260-63। 8) पृ. मोहनलाल शास्त्री : जैनाचार्य (जवलनपुर, 2482 बी.नि.), पृ. 41-43।

(क) गुणभद्र 1) जै.सा.इ., पृ. 127-54। 2) विद्वद्रत्नमाला पृ. 1-89। 3) पं. पन्नालाल साहि., : महापुराण, भाग 2 (काशी, 1954 ई.), प्र.पृ. 1-4। 4) भा. सं. जै. यो., पृ. 121, 166। 5) सं. सा. इ., पृ. 260-61। 6) जैनाचार्य, पृ. 47-49।

1. 'कल्पिप्रावृषि मिथ्यादिङ्मघाच्छन्नासु दिक्षिह। खद्योतवत् सुदेष्टागे हा द्योतन्ते त्र्वचित् त्र्वचित् ॥'  
-पं. आशाधर : सागर धर्माभूत (लुहारी, झाँसी, 2474 वीर नि.), अध्याय 1, श्लोक 7।

और उनके साथ शिथिलाचारी, मठवासी नाममात्र के नग्न साधुओं की परम्परा चल पड़ी।<sup>1</sup>

कालान्तर में ये लोग मठों और मन्दिरों में निवास करने लगे,<sup>2</sup> जागीरें रखने लगे,<sup>3</sup> राजसभाओं में जाने लगे,<sup>4</sup> किन्तु अपने आपको मूलसंघी ही प्रदर्शित करते रहे। यह भौतिकवादिता केवल जैनधर्म में ही नहीं थी, शैव आदि अन्य धर्मों में भी थी। ये प्रवृत्तियाँ स्थानीय न होकर सार्वदेशिक थीं। कालान्तर में दिगम्बर परम्परा में साधुओं में वस्त्रधारण की प्रथा भी प्रारम्भ हो गयी।<sup>5</sup> ये वस्त्र धारण करके भी मुनि कहलाते थे तथा स्वयं को मूलसंघी कहते थे। इस प्रकार दिगम्बर परम्परा में

1. 1) पट्टखण्डागम : पं. सुमतिवाई शहा सम्पादित, श्रुतभाण्डार व ग्रन्थ प्रकाशन समिति, फलटण (शंलापुर, 1965 ई.), प्रस्तावना, पृ. 3। 2) जटासिंहनन्दी : बरांगचरित : प्रो. ए.एन. उपाध्ये सम्पादित (बम्बई, 1938), प्रस्तावना, पृ. 37। 3) नाथूराम प्रेमी। जैन साहित्य और इतिहास : पृ. 447 और आगे। 4) 'जैन सन्देश' (शोधार्क संख्या 23), पृ. 83। 5) वही (संख्या 8), पृ. 281 और 300।
2. (अ) देवसेनसूरि : दर्शनसार : पं. नाथूराम प्रेमी सम्पादित (बम्बई, 1974 वि.), 24-28।  
(ब) 'कलौ काले वने वासो वर्ण्यते मुनिसत्तमैः।  
स्थीयेत च जिनागारे ग्रामादिषु विशेषतः ॥'  
-शिवकोटि भट्टारक : रत्नमाला : माणिकचन्द्र ग्रन्थमाला बम्बई के 21वें ग्रन्थ 'सिद्धान्तसारादि संग्रह' में प्रकाशित, पद्य सं. 22।
3. देखिए (अ) मकरा ताम्रपत्र : वी.एल. राइस द्वारा मूल तथा अनुवाद सहित प्रकाशित, इण्डियन एण्टिक्वेरी, भाग 1 (1872 ई.), पृ. 363-65। (ब) म. म. विश्वेश्वरनाथ रेऊ : जैनाचार्य और वादशाह मोहम्मद शाह : वर्षी अभिनन्दन ग्रन्थ (सागर, 2486 वीर नि.), पृ. 198।
4. चन्द्रसुकीर्ति पट्टोधर राजसुकीर्ति राया मनरंजी।  
वनारसि मध्य विवादकरी धरी मान मिथ्यात को मन कुं भंजी ॥  
पालखी छत्र सुखासन राजित भ्राजित दुर्जन मन कं गंजी।  
हीरजी ब्रह्म के साहिब सदगुरु नाम लिये भवपातक भंजी ॥  
-श्री मा. स. महाजन, नागपुर के संग्रह की हस्तलिखित प्रति संख्या 49, पद्य 218।
5. 1) कुन्दकुन्द : षट्प्राभृत, सं. टीका-श्रुतसागर सूरि, पं. पन्नालाल सोनी सम्पादित (बम्बई, 1977 वि.सं.), पृ. 21। 2) योगीन्द्रदेव : परमात्मप्रकाश : ब्रह्मदेवकृत सं. टीका, पं. मनोहरलाल शास्त्री द्वारा सम्पादित, (बम्बई, 1972 वि.), गाथा 216 की टीका, पृ. 231-32। 3) "संयम-श्रुत-प्रति-सेवना-तीर्थ-लिंग-लेश्योपपादस्थान-विकल्पतः साध्याः।" देखिए-श्रुतसागर सूरि : तत्त्वार्थवृत्तिः (काशी, 1949), अध्याय 9, सूत्र 47 और उसकी व्याख्या, पृ. 504-5। 4) महर्षि वासुपूज्य (सं. 1478), दानशासन, टीका-अनुवादक-वर्द्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री (शोलापुर, 1941 ई.), का यह पद्य-  
दुग्धश्रीपनतक्रान्यशाकभक्ष्यासनादिकम्।  
नवीनमव्यचं दद्यात्पात्राय कटमन्वरम् ॥  
5) जैनहितैषी, भाग 6, अंक 7-8।

मुनियों के तीन रूप या प्रतिरूप सामने आये : यथाशास्त्र मुनि, शिथिलाचारी नग्न मुनि, भट्टारक ।

### भट्टारक-परम्परा

उक्त तीन भेदों में से दूसरे को भी 'भट्टारक' कहा जा सकता है। अर्थात् नग्न भट्टारक और सवस्त्र भट्टारक। मूलसंघ के उक्त दोनों प्रकार के भट्टारकों की गणना, पूर्वाचार्यों के मतानुसार पार्श्वस्थादि भ्रष्ट मुनियों में होती है तथा चापनीय,<sup>1</sup> द्राविड़,<sup>2</sup> काष्ठा संघ<sup>3</sup> आदि साधुओं की गणना जैनाभासों में की गयी है। भट्टारकों से सम्बद्ध विभिन्न उल्लेखों से ज्ञात होता है कि दिगम्बर जैन धर्म में मूलसंघ में भट्टारकों की दो परम्पराएँ रही हैं—(1) सेनगण की और (2) वलात्कारगण की।<sup>4</sup>

सेनगणवाले भट्टारक अपने को 'पुष्करगच्छ'<sup>5</sup> का कहते हैं और वृषभसेनान्वय लिखकर अपना मूल वृषभसेन (ऋषभदेव के गणधर) से प्रारम्भ करते हैं। इस परम्परा

1. चापनीय संघ और साहित्य के परिचय के लिए देखिए—(अ) पं. नाथूराम प्रेमी : जैन साहित्य और इतिहास, (बम्बई, 1942 ई.), पृ. 41-60 और 570। (ब) डॉ. गुल चन्द्र चौधरी : जैनशिलालेख संग्रह, तृतीय भाग (बम्बई, 1957 ई.), प्रस्तावना, पृ. 25-32। (स) डॉ. विद्याधर जोहरापुरकर : जै. शि. सं., चतुर्थ भाग (काशी, वीर नि. सं. 2491), प्रस्ता. पृ. 2-4। (द) वाचस्पति गैरोला : संस्कृत साहित्य का सं. इतिहास, पृ. 255-59। (इ) पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री : जैनधर्म (मथुरा, 1955 ई.), पृ. 295-96।
2. (अ) द्राविड़ संघ के उत्पत्ति-परिचय के लिए देखिए—देवसेन : दर्शनसार : पं. नाथूराम प्रेमी सम्पादित, गाथा 24 तथा 26-27। (ब) द्राविड़ संघ और साहित्य के परिचय के लिए देखिए—पं. नाथूराम प्रेमी : जै. सा. इ., पृ. 54-55, 66, 89, 155, 170। (स) डॉ. गुलाबचन्द्र चौधरी : जै. शि. सं., तृतीय भाग, प्र. पृ. 33-42। (द) डॉ. विद्याधर जोहरापुरकर : जै. शि. सं., चतुर्थ भाग, प्र. पृ. 14।
3. (अ) काष्ठासंघ के उत्पत्ति-परिचय के लिए देखिए—देवसेन : दर्शनसार, गाथा 33-35 और 37। (ब) इस संघ और साहित्य के परिचय के लिए द्रष्टव्य 1) पं. नाथूराम प्रेमी : जै. सा. इ., पृ. 170, 173 आदि। तथा 184, 255-56, 336, 340-41, 344, 357-58, 380, 460, 500, 534। 2) डॉ. विद्याधर जोहरापुरकर भट्टारक सम्प्रदाय, पृ. 210-12 और आगे। 3) पं. परमानन्द शास्त्री के लेख (क) काष्ठा संघ स्थित माधुर संघ गुर्वावली और (ख) काष्ठा संघ लाट वागड़ गण की गुर्वावली : अनेकान्त, वर्ष 15, किरण दो और तीन, पृ. 79-84 और 134-42। 4) डॉ. गुलाबचन्द्र चौधरी : जैन शिलालेख संग्रह, तृतीय भाग, प्रस्तावना, पृ. 66-69।
4. (अ) डॉ. विद्याधर जोहरापुरकर : भट्टारक सम्प्रदाय, प्रस्तावना, पृ. 4 और आगे। (ब) सेनगण की भट्टारक परम्परा के लिए और भी देखिए—1) अनेकान्त, वर्ष 18, किरण 4, पृ. 153-56। 2) डॉ. गुलाबचन्द्र चौधरी : जै. शि. सं., तृ. भा., प्रस्ता., पृ. 43-45। 3) डॉ. विद्याधर जोहरापुरकर : जै. शि. सं. च. भा., प्र. पृ. 5-7। (स) वलात्कारगण के लिए देखिए—जै. शि. सं., तृ. भा. प्रस्ता., पृ. 62-66।
5. देखिए—पं. नाथूराम प्रेमी : जै. सा. इ., पृ. 336, 380, 535।

में त्रिवर्णाचार' के कर्ता सोमसेन आदि भट्टारक हुए हैं। दूसरी परम्परा के बलात्कारण<sup>2</sup> वाले भट्टारक अपने को सरस्वतीगच्छ का कहते हैं तथा कुन्दकुन्दान्वय लिखकर अपना मूल कुन्दकुन्दाचार्य से आरम्भ करते हैं। इस परम्परा में बहुत भट्टारक हुए। उनके शिष्य-प्रशिष्य बहुधा विद्वान् होते थे। इन भट्टारकों तथा उनके शिष्यों ने बहुत बड़ी मात्रा में जैन साहित्य का सृजन किया। साथ ही उन्होंने अनेक जैन प्रतिमाओं की प्रतिष्ठाएँ भी कीं।

बलात्कारण में कारंजाशाखा,<sup>3</sup> लातूरशाखा, दिल्ली-जयपुरशाखा, नागौरशाखा, अटेरशाखा, ईडरशाखा भनुपुराशाखा, सूरतशाखा, जेरहटशाखा आदि चलीं। इनमें उत्तर प्रदेश की शाखाओं<sup>4</sup> के मूल आधार भट्टारक पचनन्दी थे।<sup>5</sup> उनका समय वि. सं. 1385<sup>6</sup> से 1450<sup>7</sup> तक माना जाता है। उनके तीन प्रमुख शिष्य थे—शुभवन्द्र, सकलकीर्ति और देवेन्द्रकीर्ति। शुभवन्द्र ने दिल्ली और जयपुर की शाखा प्रारम्भ की। सकलकीर्ति ने ईडर की शाखा आरम्भ की और देवेन्द्रकीर्ति ने सूरत की शाखा। अन्य शाखाओं का प्रादुर्भाव इन्हीं के शिष्य-प्रशिष्यों से हुआ। सकलकीर्ति,<sup>8</sup>

1. देखिए—(1) पं. मिलापचन्द्र कटारिया : जैन सन्देश शोधक, सं. 7 (अप्रैल, 1960 ई.), पृ. 255-57। (2) पं. जुगलकिशोर मुख्तार 'युगवीर' : युगवीर-निबन्धावली : प्रथम भाग (दिल्ली, 1963 ई.), पृ. 64, 172, 306।
2. (अ) डॉ. विद्याधर जोहरापुरकर : भट्टारक सम्प्रदाय, पृ. 39। (ब) जैन शिलालेख संग्रह, भाग 3, प्रस्ता., पृ. 62-66।
3. इन शाखाओं के प्रमुख भट्टारकों के परिचय के लिए देखिए—डॉ. विद्याधर जोहरापुरकर : भ.स., कारंजा—पृ. 48, लातूर—पृ. 79, दिल्ली-जयपुर—पृ. 97, नागौर—पृ. 114, अटेर—पृ. 126, ईडर—पृ. 136, भानुपुरा—पृ. 195, सूरत—पृ. 169, जेरहट—पृ. 202।
4. इन शाखाओं के लिए देखिए—वही, पृ. 89।
5. (अ) ये वही पचनन्दी हैं, जिनका उल्लेख देवगढ़ के दो अभिलेखों में हुआ है, उनमें से एक राष्ट्रीय संग्रहालय दिल्ली में और दूसरा जैन धर्मशाला देवगढ़ में ही प्रदर्शित है। (ब) इस नाम के कम से कम छह भट्टारक और हुए हैं। देखिए—डॉ. विद्याधर जोहरापुरकर : भ.स., पृ. 93 टिप्पणी 32, पृ. 123 टिप्पणी 53; पृ. 76, टि. 29, पृ. 150, पृ. 14 (प्रस्तावना), पृ. 229।
6. देखिए—बलात्कारण मन्दिर, अंजनगौव का अभिलेख।
7. द्रष्टव्य—पं. के. भुजवली शास्त्री : प्रशस्ति संग्रह (आरा, 1942), पृ. 89।
8. इनके विस्तृत परिचय के लिए द्रष्टव्य—(अ) डॉ. कस्तूरचन्द्र कासलीवाल : राजस्थान के जैन सन्त, व्यक्तित्व और कृतित्व (महावीरजी, 1967ई.), पृ. 1-21। (ब) डॉ. कस्तूरचन्द्र कासलीवाल : भट्टारक सकलकीर्ति : जीवन, व्यक्तित्व एवं कृतित्व, जैन सन्देश शोधक सं. 16, पृ. 181-188। (स) मिलापचन्द्र कटारिया : भट्टारक सकलकीर्ति का जन्मकाल, वीरवाणी, व. 21, अंक 24, पृ. 523-24। (द) पं. कुन्दन लाल जैन एम.ए. : आचार्य सकलकीर्ति और उनकी हिन्दी सेवा : अनेकान्त वर्ष 19, किरण 1-2, पृ. 124-28। (इ) कुन्दन लाल जैन, एम. ए. : भ. सकलकीर्ति कृत द्वादश अनुप्रेक्षा चुपई : सन्मति-सन्देश, वर्ष 12, अंक 11, पृ. 30-31।

शुभचन्द्र,<sup>1</sup> श्रुतसागर<sup>2</sup> और ब्रह्म नेमिदत्त<sup>3</sup> आदि बहुत से साहित्यकार इसी बलात्कारगण के भट्टारकों में से थे।

सेनगण के भट्टारक अपने नाम और परिचय के साथ मूलसंघ, पुष्करगच्छ, वृषभसेनान्वय का प्रयोग करते हैं जबकि बलात्कारगण के भट्टारक मूलसंघ, सरस्वतीगच्छ और कुन्दकुन्दान्वय जैसे विशेषणों का। भूमिदान ग्रहण करने, मूर्तियों पर प्रतिष्ठा लेख लिखने या लिखवाने तथा ग्रन्थों की प्रशस्तियों में इन विशेषणों का प्रयोग प्रायः किया गया है।

## भट्टारक स्थिति

तत्कालीन स्थिति के अनुशीलन से स्पष्ट है कि उक्त प्रकार के विशेषणों के प्रयोग शिथिलाचारी नग्न भट्टारकों या सवस्त्र भट्टारकों ने ही किये हैं, मूलसंघ के प्राचीन माननीय आचार्यों ने नहीं।

उक्त भट्टारकों ने जो अपने को मूलसंघ का निर्दिष्ट किया है, उसका कारण यह है कि उनके समय में काष्ठासंघ आदि अनेक संघों के भट्टारकों का भी अस्तित्व था और वे उनसे अपना पृथक्त्व प्रदर्शित करना चाहते थे। अतः उन्होंने 'मूलसंघी' विशेषण ग्रहण किया।

वस्तुतः मूलसंघ में श्रेष्ठ मुनियों के लिए जिस प्रकार की चर्या का विधान है, उस दृष्टि से इन्होंने 'मूलसंघी' विशेषण नहीं ग्रहण किया क्योंकि वे स्वतः स्वरचित ग्रन्थों में मुनियों की वैसी ही चर्या का वर्णन करते हैं जैसी कि प्राचीन मूलसंघ के आचार्यों ने प्रतिपादित की है। यह अवश्य है कि श्रुतसागर आदि कतिपय भट्टारकों ने कहीं-कहीं शिथिलाचार का भी पोषण किया है।<sup>4</sup>

(ई) डॉ. ज्योतिप्रसाद जैन : दिल्लीपट्ट के मूलसंघी भट्टारकों का समयक्रम : अनेकान्त, वर्ष 17, किरण 2, पृ. 56। (उ) बीकानेर जैन लेख संग्रह, संख्या 1875। (ऊ) पं. नाथूराम प्रेमी : जै.सा. इ., पृ. 380-83।

1. इनके विस्तृत परिचय के लिए द्रष्टव्य : (अ) पं. ना.रा. प्रेमी : जै. सा. इ., पृ. 380-84। (ब) डॉ. ज्यो., प्र. जैन : दिल्लीपट्ट के भट्टारकों का समयक्रम : अनेकान्त, वर्ष 17, किरण 2 तथा 4, क्रमशः पृ. 56 तथा 74 और 159। (स) वाचस्पति गैरोला : सं. सा.सं. इ., पृ. 281-82। (द) डॉ. कस्तूरचन्द्र कासलीवाल : राजस्थान के जैन सन्त., पृ. 93-105 तथा 160-64।
2. इनके विस्तृत और प्रामाणिक परिचय के लिए देखिए—(अ) पं. ना.रा. प्रेमी : जै. सा. इ., पृ. 371-77। (ब) वाचस्पति गैरोला : सं.सा.सं. इ., पृ. 280।
3. इनके विस्तृत और प्रामाणिक परिचय के लिए देखिए : पं. परमानन्द शास्त्री : ब्रह्म नेमिदत्त और उनकी रचनाएँ : अनेकान्त, वर्ष 18, किरण 2, पृ. 82-84।
4. देखिए—(अ) पं. ना. रा. प्रेमी : जै. सा.इ., पृ. 371-74। (ब) मिलाप चन्द्र कटारिया : जैन निबन्ध रत्नावली (कलकत्ता 1966 ई.), पृ. 427-29।

218 :: देवगढ़ की जैन कला : एक सांस्कृतिक अध्ययन



यद्यपि उक्त भट्टारक यह अनुभव करते थे कि उनसे शास्त्रोक्त मुनिचर्या का पालन नहीं होता, तथापि उन्होंने अपना उल्लेख मुनि, यति, गणी, सूरि आदि नामों से किया। इसका एकमात्र कारण यह था कि जैन परम्परा में मुनि और श्रावक ये दो ही वर्ग हैं। यदि वे अपने को मुनि नहीं लिखते तो क्या श्रावक लिखते। यदि वे अपने को श्रावक लिखते तो धर्म और समाज की दृष्टि से उनका पद और स्थान उच्चकोटि का कैसे होता। शिविका में आरूढ़ होकर अपने ऊपर चँवर कैसे डुलवाते। राजाओं द्वारा मान्यता कैसे प्राप्त करते, एवं श्रावकों पर शासन भी कैसे करते। कला में इनके आलेखनों से स्पष्ट ध्वनित होता है कि वे अपने को असाधारण रूप में प्रदर्शित करना चाहते थे। इसीलिए उन्होंने अपने को मुनि कहलाना ही उचित समझा। इसके लिए वे प्रारम्भ में दीक्षा धारण करते समय नग्नलिंग धारण करके 'मुनिव्रत' धारण करने का विधान पूर्ण कर लेते थे।

तत्पश्चात् कालदोष का बहाना लेकर तत्कालीन पंचों के तथाकथित आग्रह से वस्त्र ग्रहण करते थे। ऐसी प्रवृत्ति उन्होंने चाहे किसी भी परिस्थिति में की हो, किन्तु वह 'उत्सूत्र'<sup>1</sup> प्रवृत्ति ही कही जाएगी और उनका यह मार्ग 'भट्टारकपन्थ' कहलाएगा।

किन्तु जिस प्रकार श्वेताम्बर परम्परा में वस्त्रधारी मुनि माने जाते हैं, उसी प्रकार दिगम्बर परम्परा में वस्त्रधारी भट्टारक मुनि नहीं माने जा सकते, जैसे श्वेताम्बर सम्प्रदाय में जैन प्रतिमा की पूजा-पद्धति में पंचामृत<sup>2</sup> से अभिषेक करना तथा शासन देवों की उपासना आदि करने का विधान है, उसी प्रकार दिगम्बर सम्प्रदाय के भट्टारक पन्थ में ऐसे ही विधान दृष्टिगोचर होते हैं।

### 3. साधुधर्म

#### आवास-प्रबन्ध

देवगढ़ में मुनियों का केवल आवागमन ही नहीं होता था, अपितु निवास भी था। जैसा कि कहा जा चुका है, अब भी वहाँ ऐसे अनेक मन्दिर विद्यमान हैं (दे. चित्र 2, 13, 29 आदि) जो मूलतः मन्दिर न होकर साधुओं के निवासस्थान थे, उनका निर्माण शास्त्रानुमोदित मन्दिर पद्धति पर नहीं हुआ है। इनमें साधुगण कदाचित् स्थायी रूप से भी रहते थे। इतना तो अवश्य है कि वे अपने जीवन का अन्तिम समय इन्हीं निवासस्थानों में, देवगढ़ के पवित्र और स्वास्थ्यप्रद वातावरण में व्यतीत करते थे।

1. उत्सूत्र का अर्थ है शिथिल, अनियमित, अनुशासन से स्वलित होना। देखिए—प्रो. दामन शिवराम आटे: संस्कृत-इंग्लिश डिक्शनरी (वाराणसी, 1963), पृ. 103।
2. दूध, दही, घी, सुगन्ध (चन्दन का द्रव) और इक्षुरस का मिश्रण 'पंचामृत' कहलाता है।

यही कारण है कि इन मन्दिरों के समीप ही कुछ समाधियाँ भी पायी गयी हैं। जिसे वर्तमान में मं. सं. 10 (दे. चित्र 14) कहते हैं, वह किसी विशिष्ट साधु की निषेधिका<sup>1</sup> (निसई) रही प्रतीत होती है। इसी प्रकार मं. सं. एक के पीछे (पश्चिम में) लगभग 100 फुट की दूरी पर एक स्तम्भ खड़ा है, जो निश्चित ही किसी निषेधिका या समाधि का अंग है। देवगढ़ में इनके अतिरिक्त और भी अनेक समाधिस्तम्भ पाये जाते हैं। मं. सं. पाँच-छह और इक्कीस के निकटवर्ती स्तम्भ समाधि-स्तम्भ ही हैं।

देवगढ़ में जो चरणपादुकाएँ मिली हैं, वे भी यही सूचित करती हैं कि यहाँ मुनि 'समाधिमरण' या 'सल्लेखना'<sup>2</sup> धारण करते थे और यहीं उनका अन्तिम संस्कार भी किया जाता था। बहुत बड़ी संख्या में प्राप्त आचार्यों, उपाध्यायों और साधुओं की मूर्तियाँ (दे.—चित्र 75, 77-85) भी यही सिद्ध करती हैं कि देवगढ़ में मुनियों के अनेक संघ रहते थे। यहाँ प्राप्त एक मूर्तिलेख<sup>3</sup> से ज्ञात होता है कि कुछ मूर्तियाँ यहाँ के चतुर्विध-संघ (मुनि, आर्थिका, श्रावक और श्राविका) के लिए भी निर्मित हुई थीं। अतः यह निर्विवाद है कि यहाँ साधुओं को निवास करने के लिए विभिन्न प्रकार की सुविधाएँ भी उपलब्ध करायी जाती थीं।

## उद्बोधन

आचार्यों द्वारा उपाध्यायों तथा साधुओं को (दे.—चित्र 77-82) और कभी-कभी श्रावक-श्राविकाओं को भी उद्बोधन प्रदान किया जाता था (दे.—चित्र 77-82)। वे स्वयं उन सभी के द्वारा पूजित और वन्दित होते थे। उपाध्याय देवगढ़ में सर्वाधिक सक्रिय और कर्तव्यनिष्ठ रहे। उनकी पाठशालाओं के बीसों दृश्य यहाँ अंकित हुए हैं। एक उपाध्याय दो से लेकर आठ-दस तक साधुओं को शिक्षा प्रदान करता था।<sup>4</sup>

अल्प आयु के शिष्यों को भी पाठशालाओं में अध्ययनरत अंकित किया गया है। इस प्रकार के पाठशाला-दृश्यों के अंकन की परम्परा भारत में प्राचीन काल से ही प्रचलित रही है। ऐसे दृश्य मथुरा, अजन्ता, खजुराहो, भुवनेश्वर आदि में

1. ध्यात्वा यथास्वं गुवादीन् न्यसेत् तत्पादुकायुगे ।

निषेधिकायां संन्याससमाधिमरणादि च ॥

—पं. आशाधर : प्रतिष्ठासारोद्धार (बम्बई, सं. 1974 वि.), अध्याय 1, श्लो. 108 ।

2. उपसर्गे दुर्भिक्षे जरसि रुजायां च निःप्रतीकारे ।

धर्माय तनुविमोचनमाहुः सल्लेखनाभार्याः ॥

—आचार्य समन्तभद्र : रत्नकरण्डश्रावकाचार (देहली, 1951 ई.), श्लो. 122 ।

3. यह मूर्तिलेख मं. सं. 28 के शिलाफलक संख्या 3 (बायें से दायें) पर उत्कीर्ण है।

4. देखिए—चित्र सं. 77 से 82 तक तथा 85 ।

अधिकतर प्राप्त होते हैं।<sup>1</sup> देवगढ़ की पाठशालाओं में कभी-कभी आर्यिकाएँ और श्रावक-श्राविकाएँ भी प्रवेश पा लेती थीं।<sup>2</sup> उपाध्याय के हाथ में स्थित ग्रन्थ उनकी शास्त्रनिष्ठा एवं पद-प्रतिष्ठा का द्योतक है।

देवगढ़ में साधुओं का निवास प्रचुर मात्रा में था, किन्तु उनका उल्लेखमात्र वहाँ के अभिलेखों से प्राप्त होता है अथवा उनकी मूर्तियाँ पाठशालाओं के दृश्यों में ही आलिखित हैं। यह आश्चर्य है कि यहाँ मुनियों का अंकन किसी अन्य रूप में प्रायः नहीं हुआ है।<sup>3</sup> किन्तु एक स्थान पर एक मुनि कदाचित् आहार के पश्चात् अपने हाथ को उपधान बनाकर विश्राम कर रहा है,<sup>4</sup> एक मुनि किसी शूकर को उपदेश दे रहा है<sup>5</sup> और एक मुनि किसी श्रावक-युगल से आहार ग्रहण कर रहा है।<sup>6</sup>

जहाँ तक आर्यिकाओं का प्रश्न है वे अपना समय या तो पाठशालाओं में व्यतीत करती थीं<sup>7</sup> या पूजा-आराधना में।<sup>8</sup> शास्त्रीय-विधानों का वे कठोरता से पालन करती थीं, तभी तो एक भी आर्यिका एकान्त विहार या किसी पुरुष की संगति करती हुई नहीं दिखायी गयी।

## चर्या

देवगढ़ के कुछ दृश्यों से साधुओं और साध्वियों के धर्माचरण पर भी प्रकाश पड़ता है। साधु और साध्वियाँ अपने सभी मौलिक एवं अनिवार्य गुणों का पूर्णरूपेण पालन करते थे या नहीं, यह तो नहीं कहा जा सकता पर एक-दो गुणों का पालन करते हुए उन्हें हम कई बार देखते हैं—गुरुओं की विनय, शिष्यों को शिक्षा देना, श्रावकों को धर्मापदेश देना<sup>9</sup> और उनकी नवधा-भक्ति<sup>10</sup> स्वीकार करना—उक्त गुणों में से मुख्य हैं।

1. विस्तृत जानकारी के लिए देखिए—प्रो. कृष्णदत्त वाजपेयी : प्राचीनकला में गुरु-शिष्यों का चित्रण : त्रिपथगा (लखनऊ, 1956 ई.), पृ. 1-4।
2. देखिए—चित्र सं. 77 से 82 तक।
3. मं. सं. 18 के महामण्डप के प्रवेशद्वार पर एक स्त्री मुनि का संवाहन करती हुई अंकित है। दे. —चित्र सं. 91 और 116।
4. दे.—मं. सं. 18 के महामण्डप के प्रवेश-द्वार के दोनों पक्ष।
5. दे.—मं. सं. 12 के प्रदक्षिणापथ और गर्भगृह के प्रवेश-द्वार तथा चित्र सं. 22।
6. दे.—वही तथा चित्र सं. 22, 23।
7. दे.—चित्र सं. 77-82।
8. दे.—विभिन्न मानस्तम्भ तथा मं. सं. 19 के स्तम्भ। और भी दे.—चित्र सं. 92।
9. इस सबके लिए दे.—चित्र सं. 77 से 85 तक।
10. साधु को दान करते समय नव प्रकार से भक्ति करनी चाहिए—(1) संग्रह-पडगाहना—साधु को ज्ञाते हुए देखकर अपने द्वार पर प्रासक जल का कलश लिये हुए निवेदन करना कि 'अत्र तिष्ठ

→

धार्मिक जीवन :: 221

## निर्माण और निर्माण की प्रेरणा

मन्दिरों और मूर्तियों के निर्माण की प्रेरणा निश्चय ही साधुवर्ग द्वारा दी जाती थी, जैसा कि देवगढ़ के अभिलेखीय प्रमाणों से ज्ञात होता है। यहाँ की कुछ साध्वियों ने तो स्वयं ही मूर्तियों का निर्माण कराया था<sup>1</sup> एवं कुछ ने मूर्तियों की प्रतिष्ठा भी करायी थी<sup>2</sup> मुनिधर्म का विकास प्रदर्शित करते हुए, जैसा कि ऊपर विवेचन किया जा चुका है, अन्य स्थानों की भाँति देवगढ़ के साधु भी एक प्रकार के भट्टारक ही थे, जिन्हें लौकिक समृद्धि और सौन्दर्य के प्रति कदाचित् सर्वाधिक आकर्षण था। उन्होंने विशाल और सुसज्जित मन्दिरों, दानशालाओं तथा सहस्रों भावपूर्ण और मोहक मूर्तियों का निर्माण कराने के लिए श्रावकों को प्रेरित किया तथा स्वयं उन निर्मितियों की प्रतिष्ठा की<sup>3</sup> उनके प्रयत्नों के ही परिणामस्वरूप अनेक शताब्दियों के बाद भी जैन धर्म की प्रभावना तथा जैन कला और स्थापत्य के सुन्दर नमूने हमें उपलब्ध हैं।

तिष्ठ, आहारजले शुद्धे स्त ।' (2) उच्चस्थान--जब साधु उसकी ओर ध्यान दे तब भीतर ले जाकर उच्च स्थान देना, (3) पादप्रक्षालन--किसी पात्र में उनके चरण धोना, (4) पूजन--अष्टद्रव्य से पूजन, (5) प्रणाम--तीन प्रदक्षिणा दे प्रणाम करना, (6-9) क्रमशः मन, वचन, काय और भोजन की शुद्धि रखना। दे.--बृहत् जैन शब्दार्णव : द्वितीय भाग (सूत्र, 2460 वीर नि.), पृ. 515।

- (अ) इन्दुआ नामक आर्यिका ने (मं. सं. एक तथा चार में स्थित) दो तीर्थकर मूर्तियों का निर्माण कराया था। दे.--परिशिष्ट एक, अभिलेख क्र. 11 और 30। (व) आर्यिका गणी ने (मं. सं. चार में स्थित) तीर्थकर की कायोत्सर्ग मूर्ति का निर्माण कराया था। दे.--परि. एक, अभि. क्र. 32। (स) आर्यिका लयनासरी ने (मं. सं. 20 में स्थित) तीर्थकर की कायोत्सर्ग मूर्ति का निर्माण कराया था। दे.--परि. एक, अभि. क्र. 107।
- (अ) आर्यिका धर्मश्री ने अन्य पण्डितों के साथ संवत् 1209 में (मं. सं. 3 में स्थित) कायोत्सर्ग तीर्थकर मूर्ति की प्रतिष्ठा करायी थी। दे.--परि. एक, अभि. क्र. 22। (ब) आर्यिका नवासी ने आचार्य जयकीर्ति के साथ सं. 1207 में एक प्रतिष्ठा में भाग लिया था। दे.--परि. एक, अभि. क्र. 25। (स) आर्यिका मदन ने सं. 1201 में (मं. सं. 12 में स्थित) ऋषभनाथ की पचा. मूर्ति की प्रतिष्ठा करायी थी। दे.--परि. एक, अभि. 52।
- ऐसे साधुओं में लोकनन्दी के शिष्य गुणनन्दी (दे.--परि. एक, अभि. 17, 109, 114, 116, 119 आदि), कमलदेवाचार्य और उनके शिष्य श्रीदेव (दे.--परि. एक, अभि. 58, 88), त्रिभुवनकीर्ति (दे.--परि. एक, अभि. 19), जयकीर्ति (परि. एक, अभि. 25), भावनन्दी (परि. एक, अभि. 33), चन्द्रकीर्ति (परि. एक, अभि. 39), यशःकीर्त्याचार्य (परि. एक, अभि. 96), और नागसेनाचार्य (परि. एक, अभि. 90), कनकचन्द्र, लक्ष्मीचन्द्र, हेमचन्द्र (परि. एक, अभि. 6), धर्मचन्द्र, रत्नकीर्ति, प्रभाचन्द्र, पद्मनन्दी, शुभचन्द्र (परि. एक, अभि. एक), देवेन्द्रकीर्ति (परि. एक, अभि. 55) आदि के नाम विशेष उल्लेखनीय हैं।

222 :: देवगढ़ की जैन कला : एक सांस्कृतिक अध्ययन

## शास्त्र सृजन का अभाव

देवगढ़ के साधु एक अत्यन्त वांछनीय और स्थायी महत्त्व का कार्य करने में बहुत पीछे रहे। यह कार्य था—शास्त्रों की रचना और उनके संग्रह का। सम्भव है कि उन्होंने यह कार्य थोड़ा-बहुत किया हो, परन्तु काल के प्रभाव से वह नष्ट हो गया हो या आततायियों द्वारा नष्ट कर दिया गया हो, पर देवगढ़ में एक भी हस्तलिखित शास्त्र का न पाया जाना यही निष्कर्ष प्रस्तुत करता है, जो हमने निकाला है। कोई कारण नहीं कि जयपुर, जैसलमेर, ईडर, मूडविद्री और कोल्हापुर आदि स्थानों पर सहस्रों ग्रन्थों की रचना और उनका संग्रह हुआ, जिसका अधिकांश हम अब भी केवल भट्टारकों द्वारा ही सुरक्षित पाते हैं, क्या देवगढ़ के भट्टारक यह कार्य नहीं कर सकते थे? कारण कुछ भी हो या न हो, पर इस दृष्टि से हमारी धार्मिक आस्था देवगढ़ के भट्टारकों पर उस तीव्रता से नहीं टिकती, जिस तीव्रता से जयपुर आदि के भट्टारकों पर टिकती है।

## 4. श्रावक धर्म

### परिष्कृत अभिरुचि

देवगढ़ के श्रावक और श्राविकाएँ एक ओर धार्मिक अनुष्ठानों में गहरी अभिरुचि रखते थे और दूसरी ओर राग-रंग में भी काफी समय बिताते थे। वे संगीत और नृत्य में भी कुशल होते थे। विभिन्न प्रकार के वाद्यों और साज-सामान के साथ वे जिनेन्द्र-देव की भक्ति को जाते और लय-ताल में खो जाते थे। उनकी ऐसी अनेक मण्डलियाँ देवगढ़ में अंकित हुई हैं।<sup>1</sup>

### नवधा-भक्ति

वे साधुओं की सेवा-शुश्रूषा और नवधा-भक्ति करते थे।<sup>2</sup> एक श्रावक-सुगल किसी साधु को अत्यन्त भक्ति के साथ आहार दे रहा है।<sup>3</sup> श्रावकों<sup>4</sup> के अतिरिक्त कभी-कभी श्राविकाएँ भी बैठे हुए साधुओं के मस्तक पर छत्र धारण किये रहती

1. दे.—चित्र सं. 16, 22, 23, 35, 57, 109, 118 तथा जैन चहारदीवारी, विभिन्न मन्दिरों के प्रवेश-द्वार तथा मं.सं. 12 का अर्द्धमण्डप आदि।
2. दे.—चित्र सं. 22, 23, 77-83, 86-90 आदि।
3. मं. सं. 12 के प्रदक्षिणापथ और गर्भगृह के प्रवेश-द्वारों पर। दे.—चित्र सं. 22-23।
4. मं. सं. एक के पीछे जड़ी आचार्य मूर्ति। दे.—चित्र सं. 77।

थीं।<sup>1</sup> अनेक युगलों को तीर्थंकर मूर्ति की वन्दना करते हुए<sup>2</sup> देखा जा सकता है।

## द्रव्य का सदुपयोग

समय-समय पर दानशालाओं का निर्माण कराकर एक बार पण्डितों ने<sup>3</sup> और दो बार कुछ श्रावकों ने<sup>4</sup> अपने न्यायोपात द्रव्य का सदुपयोग किया था। कुछ श्राविकाएँ अपने हाथ में नारिकेल आदि पूजन-सामग्री लेकर मन्दिर जाती हुई दिखाई गयी हैं।<sup>5</sup>

## नैतिक पक्ष

धर्म के नैतिक पक्ष पर भी देवगढ़ में पर्याप्त बल दिया जाता था। व्यभिचारी और लम्पटी मनुष्यों को उनके कुकृत्यों की सजा मिलती थी।<sup>6</sup>

## ग्रन्थों का पठन-पाठन

धार्मिक ग्रन्थों का पठन-पाठन देवगढ़ में उच्च स्तर पर प्रचलित था। वहाँ यशस्तिलक चम्पू<sup>7</sup> आदि जैसे प्रथम श्रेणी के साहित्यिक ग्रन्थों का प्रचार तो था ही,

1. दे.—मं. सं. 1 के मण्डप में जड़ी आचार्य मूर्ति तथा चित्र सं. 80।
2. दे.—चित्र सं. 52, 53, 64, 76।
3. दे.—परि. एक, अभि. क्र. 125।
4. दे.—परि. एक, अभि. क्र. 126 और 129।
5. दे.—मं. सं. एक (चित्र 80) तथा चार (चित्र 79) में जड़ी मूर्तियाँ तथा सम्बन्धित वर्णन (अ. 5)।
6. दे.—मं. सं. चार के प्रवेश-द्वार के ऊपर बायीं ओर तथा चित्र सं. 115।
7. आचार्य सोमदेव सूरि (958 ई.) द्वारा रचित यह विशाल तम्बू-ग्रन्थ प्रथम बार पं. काशीराम शर्मा द्वारा सम्पादित होकर श्रुतसागर क्री अपूर्ण संस्कृत टीका सहित निर्णयसागर प्रेस बम्बई से 1901 और 1903 ई. में दो खण्डों में प्रकाशित हुआ है। इसके प्रथम तीन आश्वास पं. सुन्दरलाल शास्त्री द्वारा (1960 ई. में) तथा कैलाशचन्द्र शास्त्री द्वारा (1964 ई. में) हिन्दी अनुवाद सहित सम्पादित होकर प्रकाशित हुए हैं। इस पर प्रो. कृष्णकान्त हन्दिनी ने 'यशस्तिलक एण्ड इण्डियन कल्चर' (शोलापुर, 1949 ई.) तथा डॉ. गोकुलचन्द्र जैन ने 'यशस्तिलक का सांस्कृतिक अध्ययन' (अमृतसर, 1967 ई.), नामक विशिष्ट शोधपूर्ण अध्ययन भी प्रस्तुत किये हैं। आचार्य सोमदेव के परिचय आदि के लिए दे.—(अ) पं. ना. रा. प्रेमी : जै.सा. इ., पृ. 177-95। (ब) पं. कैलाशचन्द्र शा. : उपासकाध्ययन, (काशी, 1964), (अमृतसर, 1967 ई. ) पृ. 27-41। (स) डॉ. गोकुलचन्द्र जैन : यशस्तिलक का सांस्कृतिक अध्ययन, (अमृतसर, 1967 ई.), पृ. 27-41। (द) सं. सा. इ., पृ. 263-64। (इ) डॉ. ही.ला. जैन : भा.सं. जै. यो., पृ. 113, 171।

ज्ञानार्णव<sup>1</sup> और समयसार<sup>2</sup> आदि जैसे उच्चकोटि के आध्यात्मिक ग्रन्थ भी पढ़े जाते थे।

## 5. पौराणिक कथाओं का प्रचार

देवगढ़ में पौराणिक कथाओं का प्रचार पर्याप्त मात्रा में था। प्रथमानुयोग<sup>3</sup> (धर्मकथा) से वहाँ के श्रावक-श्राविकाएँ तो परिचित थे ही, कलाकार भी अच्छी जानकारी रखते थे। उन्होंने अपनी छैनी को अनेक कथाओं के संक्षिप्त किन्तु विशद अंकन से पवित्र किया है।

### ऋषभनाथ द्वारा आहार ग्रहण

आदि-तीर्थंकर भगवान् ऋषभदेव साधु होने के पश्चात् ठीक एक वर्ष उपरान्त आहार ग्रहण कर रहे हैं।<sup>4</sup> राजकुमार श्रेयांस और उनके बड़े भाई राजा सोमप्रभ और भाभी रानी लक्ष्मीमती को आहार देते हुए<sup>5</sup> दिखाकर<sup>6</sup> कलाकार ने प्राचीन भारतीय संस्कृति की प्रमुख विशेषता अतिथि-सत्कार को मूर्तिमान् कर दिया है।

### भरत-बाहुबली

चक्रवर्ती भरत और कामदेव बाहुबली की द्विमूर्तिकाएँ<sup>7</sup> निर्मित करके कलाकार ने सन्देश दिया है कि भौतिक उपलब्धियों से आध्यात्मिक उपलब्धियाँ कहीं अधिक शान्तिदायक होती है।

1. आचार्य शुभचन्द्र द्वारा विरचित यह ग्रन्थ पं. पन्नालाल वाकलीवाल द्वारा सम्पादित होकर श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, जवेरी-बाग, वम्बई से 1927 ई. में प्रकाशित हुआ है। ग्रन्थ और ग्रन्थकार के विस्तृत और प्रामाणिक परिचय के लिए दे. - (अ) पं. ना. रा. प्रेमी : जै.सा.इ., पृ. 332-41। (ब) डॉ. ही.ला. जैन : भा.सं. जै. वो., पृ. 121। (स) पं. बालचन्द्र सि. शा. : ज्ञानार्णव व योगशास्त्र : एक तुलनात्मक अध्ययन, अने., व. 20, कि. एक., पृ. 17-27।
2. आ. कुन्दकुन्द द्वारा विरचित यह ग्रन्थ संस्कृत, हिन्दी, अंगरेजी आदि अनेक टीकाओं सहित सम्पादित होकर विभिन्न संस्थाओं में प्रकाशित हुआ है।
3. 'प्रथमानुयोगमथाख्यानं चरितं पुराणमपि पृण्यम्।  
बोधिसमाधिनिधानं बोधति बोधः समीचीनः ॥'

आचार्य समन्तभद्र : रत्नकरण्डश्रावकाचार (दिल्ली, 1951 ई.), श्लोक 43।

4. दे. - सं. सं. 19 के प्रदक्षिणापथ तथा गर्भगृह के प्रवेश-द्वार।
5. आचार्य जिनसेन : महापुराण : (आदिपुराण), जिल्द एक (काशी, 1951), पर्व 20, श्लोक 190।
6. दे. - चित्र सं. 22 और 23।
7. दे. - सं. सं. दो तथा जैन धर्मशाला में स्थित भरत-बाहुबली की द्विमूर्तिकाएँ। और भी दे. - चित्र सं. 88, 89 तथा 86, 87।

धार्मिक जीवन : 925

## चक्रेश्वरी

कलाकार ने चक्रेश्वरी देवी की अनेक<sup>1</sup> अद्भुत और<sup>2</sup> कलापूर्ण मूर्तियाँ निर्मित की हैं। यह प्रथम तीर्थंकर ऋषभदेव की यक्षी है और अनेक हाथों में चक्र धारण करने के कारण चक्रेश्वरी कहलाती है। चक्र एक ऐसा आयुध है, जिसकी शक्ति इन्द्र के वज्र से भी अधिक होती है। इस देवी का वाहन गरुड़ है, जिसपर सवार होकर वह आदि-तीर्थंकर के धर्म का प्रचार सम्पूर्ण विश्व में करती है। सबसे पहले जबकि कर्मभूमि का उदय हो रहा था, घर-घर में भगवान् आदिनाथ के सन्देश को पहुँचाने के लिए इस देवी को गरुड़-जैसे तीव्रगामी वाहन की ही आवश्यकता थी।

## वात्सल्य की प्रतिमूर्ति अम्बिका

अम्बिका यक्षी की मार्मिक एवं वात्सल्यपूर्ण कथा को एक ही मूर्ति में समाविष्ट करने की कलाकार ने जो सफल चेष्टा की है, उसका उदाहरण भारतीय ही नहीं, विश्व की भी मूर्ति-कला में कदाचित् दुर्लभ है। एक देवी है। वह सिंह पर आसीन है। यह सिंह पूर्वजन्म में एक ब्राह्मण था। वह देवी पूर्वजन्म में उसकी ब्राह्मणी थी। अपनी भूल के पश्चात्ताप में ब्राह्मण उस ब्राह्मणी, जो करुण-मृत्यु के पश्चात् अम्बिका के रूप में अवतीर्ण हुई थी, का वाहन सिंह बन जाता है। ब्राह्मणी की मृत्यु अपने एक पुत्र को गोद में और दूसरे को हाथ पकड़कर लिये हुए हुई थी, इसलिए कलाकार ने भी इन्हें उसी रूप में अंकित किया है। अपने भूखे बच्चों को उसी ब्राह्मणी ने असमय में ही फले हुए आम-फल खिलाये थे। इसलिए कलाकार अम्बिका के एक हाथ में आमों का गुच्छा देता है और पृष्ठभाग में आम का वृक्ष उत्कीर्ण करता है।<sup>3</sup> ममता और वात्सल्य की मूर्तिमती इस देवी की सैकड़ों मूर्तियों<sup>4</sup> उत्कीर्ण करके देवगढ़ के कलाकार ने जैनधर्म की महती प्रभावना की है।

## उपसर्ग-निवारक धरणेन्द्र एवं पद्मावती

धरणेन्द्र और पद्मावती नामक यक्ष और यक्षी जो अपने पूर्वजन्म में कुमार

1. दे.-सं. खं. 19 तथा जैन धर्मशाला में प्रदर्शित एवं स्तम्भ क्र. 11 (चित्र 43) पर अंकित चक्रेश्वरी यक्षी की मूर्तियाँ।
2. दे.-चित्र सं. 99, 100 तथा 111।
3. देखिए—(अ) रामचन्द्र मुमुक्षु : पुण्याश्रम कथाकोश, पं. नाथूराम प्रेमी द्वारा सम्पादित (मुमुक्षु, 1916 ई.), में यक्षी-कथा। (ब) वादिचन्द्र : अम्बिका कथासार। (स) प्रभावना : 2. पृ. 10-11 में विवरणों के साथ चित्रित। (द) पुरातन-प्रबन्ध-संग्रह में देखा प्रबन्ध।<sup>1</sup>
4. कुछ मन्दिर मूर्तियों के लिए दे.-चित्र सं. 103 व 105 एक तथा 109।

226 :: देवगढ़ की जैन कला : एक सांस्कृतिक अध्ययन



होकर भगवान् पार्श्वनाथ के चरणों में आसीन दिखाये गये हैं। भगवान् पार्श्वनाथ पर जब कमठ नामक आततायी ने उपसर्ग किया तब धरणेन्द्र ने सर्प के रूप में उपस्थित होकर अपनी विशाल फणावलि से भगवान् को आच्छादित कर उपसर्ग से उन्हें अप्रभावित रखा।<sup>1</sup> इस समूची कथा को एक ही मूर्ति में<sup>2</sup> मूर्तिमान् कर कलाकार ने अपने अपूर्व-कौशल का परिचय दिया है।

## शूकर को सम्बोधन

एक मुनि एक शूकर को उपदेश दे रहे हैं।<sup>3</sup> बात यह थी कि यह शूकर उन तपस्या-रत मुनि की सिंह से रक्षा करता हुआ मरकर देव हुआ था और अब अपने पूर्व रूप में ही आकर मुनि से धर्म श्रवण कर रहा है।

धर्म के पालन में मनुष्य का दर्जा देवों से भी बढ़कर है, यह जैन धर्म की अपनी विशिष्ट मान्यता है।

## 6. धार्मिक शिक्षा

यहाँ धर्म की शिक्षा उपाध्यायों और आचार्यों द्वारा पाठशालाओं में दी जाती थी।<sup>4</sup> इसके लिए वे ग्रन्थों का उपयोग तो करते ही थे, व्यावहारिक ज्ञान के प्रशिक्षण के लिए मानचित्रों का भी प्रयोग करते थे। एक स्तम्भ-खण्ड पर<sup>5</sup> तीन लोक,<sup>6</sup> सोलह

1. दे.—(अ) मुनि सुकुमार सेन : विद्यानुशासन में भैरव-पद्मावती-कल्प। (ब) भद्रयाहु स्वामी : उवसम्ग-हरस्तोत्र, जैन स्तोत्र सन्दोह, पृ. 1-13। (स) तिलोयपण्णत्ती, भाग एक, महाधिकार 4, गाथा 936। (द) आचार्य जिनसेन : पार्श्वभ्युदय। (इ) वादिराजसूरि : पार्श्वनाथचरित। (ई) भावदेवसूरि : पार्श्वनाथ चरित। (उ) मल्लिपेणसूरि : भैरवपद्मावती-कल्प। (ऊ) जिनप्रभसूरि : विविध तीर्थकल्प में पद्मावती कल्प।
2. कुछ महत्वपूर्ण मूर्तियों के लिए दे.—चित्र सं. 106 से 110 तक।
3. मं. सं. 12 के प्रदक्षिणा-पथ और गर्भगृह के प्रवेश-द्वार पर। और भी दे.—चित्र सं. 22, 23।
4. दे.—विभिन्न पाठशाला दृश्य, चित्र सं. 73, 77 से 82 तथा 85।
5. मं. सं. 15 के महामण्डप में स्थित।
6. तीन लोक वे हैं—अधोलोक, मध्यलोक और ऊर्ध्वलोक। इनके विवरण के लिए देखिए—(अ) बृहत् जैन शब्दार्णव, भाग दो, पृ. 485। (ब) आ. उमास्वामी तत्त्वार्थसूत्र, पं. पन्नालाल साहित्याचार्य सम्पादित, पृ. 48 और 49 के बीच में संलग्न 'तीन लोक की रचना' शीर्षक मानचित्र।

स्वर्ग<sup>1</sup> और सात नरकों<sup>२</sup> का मानचित्र उत्कीर्ण किया हुआ मिला है।

## 7. धार्मिक अनुष्ठान

### मन्दिर प्रतिष्ठाएँ और पंच कल्याणक महोत्सव

यहाँ मन्दिरों और मूर्तियों की अधिकता से यह स्वयं-सिद्ध है कि देवगढ़ में मन्दिर-प्रतिष्ठा और पंचकल्याणक प्रतिष्ठा आदि के उत्सव समय-समय पर होते रहते होंगे। ये उत्सव ऐसे हैं जिनमें साधु (भट्टारक) प्रेरक और प्रतिष्ठाचार्य के रूप में तथा श्रावक आयोजक और अनुष्ठानकर्ता के रूप में भाग लेते आ रहे हैं। इन उत्सवों में निकटवर्ती स्थानों के साधु और श्रावक भी आकर सम्मिलित होते होंगे। इस प्रकार ये अवसर आज की भाँति उस समय भी धार्मिक प्रभावना के श्रेष्ठ-साधन माने जाते थे। उत्सवों की यह परम्परा देवगढ़ में अब तक विद्यमान है।

### गजरथ

सन् 1939 में यहाँ जो पंचकल्याणक प्रतिष्ठा हुई थी, वह इसलिए विशेष महत्त्व रखती है कि तब गजरथ भी निकाला गया था।<sup>3</sup> रथ की परम्परा देवगढ़ में थी या नहीं, यह तो नहीं कहा जा सकता, पर है यह बहुत प्राचीन। इसका महत्त्व सभी धर्मों में समान रूप से रहा है। जब मन्दिर-स्थापत्य का आरम्भ नहीं हुआ था, तब रथों से उनका उद्देश्य पूरा किया जाता था।<sup>4</sup> कालान्तर में इन्हीं के आकार पर मन्दिरों का निर्माण हुआ और उनके नाम पर ही मन्दिरों को रथ नाम दिया

1. सोलह स्वर्गों के नाम इस प्रकार हैं—“सौधमैशान-सानत्कुमार-माहेन्द्र-ब्रह्म-ब्रह्मोत्तर-तान्तव-काषिष्ठ-शुक्र-महाशुक्र-शतार-सहस्रारेष्यानतप्राणतयोसराणाच्युतयोर्नवसु ग्रैवेयकेषु विजयवैजयन्तजयन्ता-पराजितेषु सवार्थसिद्धौ च।” —आ. उमास्वामी : तत्त्वार्थसूत्र, पं. पन्नालाल साहित्याचार्य सम्पादित (सुरत, 2472 बी. नि. सं.), अध्याय 4, सूत्र 19 तथा उसकी व्याख्या।
2. सात नरकों के नाम इस प्रकार हैं—“रत्न-शर्करा-बालुका-पङ्क-धूमतपो-महातप-प्रभा भूमयो वनाम्यूवाताकाशप्रतिष्ठाः सप्ताधोऽधः।” (आचार्य उमास्वामी : तत्त्वार्थसूत्र, अ. 3, सूत्र 1)।
3. यह गजरथ सिंघई गनपतलाल भैयालाल गुरहा, खुरई निवामी की ओर से निकाला गया था। इसका प्रतिष्ठा-निर्वाधि पं. राजकुमार शास्त्री, इन्दौर के आचार्यत्व में मिति माघ गृही 13, गुरुवार, विक्रम संवत् 1995, शीर जेठ संवत् 2465 (अनुसार दिनांक 19-1-1939 से दिनांक 22-2-1939 तक) सम्पन्न हुई थी।
4. डॉ. जानन्दकुमार कुमारस्वामी : आर्ट्स एण्ड काण्टन, पृ. 118-19।

228 :: देवगढ़ की जैन कला : एक सांस्कृतिक अध्ययन

गया।<sup>1</sup> रथों की परम्परा को अखण्ड रूप में जीवित रखने का श्रेय विशेष रूप से जैनधर्म को ही है।<sup>2</sup>

## मेला

इधर कुछ वर्षों से यहाँ मेला भी भरने लगा है। पहला मेला सन् 1934 में और उसके बाद के सन् 1936, 1939 (रथोत्सव के समय<sup>3</sup>), 1954, 1956 (बहुत बड़े स्तर पर<sup>4</sup>) और 1965 में आयोजित हुए।

## चातुर्मास, व्रत दीक्षा, पूजन विधान, सतत पाठ आदि

धार्मिक प्रभावना की दृष्टि से अब भी यहाँ मुनियों के चातुर्मास (वर्षावास) की व्यवस्था,<sup>5</sup> व्रतियों की दीक्षा<sup>6</sup>, अनेक प्रकार के बृहत् पूजन विधान<sup>7</sup>, सतत भक्तामर स्तोत्र पाठ<sup>8</sup> आदि के आयोजन समय-समय पर होते रहते हैं। इन अवसरों पर निकटवर्ती स्थानों से समाज प्रचुर मात्रा में उपस्थित होकर धर्म-लाभ प्राप्त करता है।

## 8. धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष

### सूक्ष्म धर्मबोध

तीर्थंकर की माता के सोलह स्वप्नों,<sup>9</sup> तीर्थंकर के आठ प्रातिहार्यों,<sup>10</sup> आठ

1. डॉ. एन. वैकटराम नय्यर : एस्से आन द ओरीजिन आफ़ दी साउथ इण्डियन टेम्पल्स (मद्रास, 1930 ई.), पृ. 64।
2. डॉ. प्रेमसागर जैन : जैन भक्ति काव्य की पृष्ठभूमि (काशी, 1963 ई.), पृ. 59-61।
3. इसी समय श्री सिंघई गनपतलाल गुरहा को 'तीर्थभक्त' की तथा सिंघई भगवानदास सराफ़ (ललितपुर) को 'जैन जाति भूषण' की उपाधियाँ दी गयी थीं।
4. इस अवसर पर अखिल भारतीय जैन परिषद का 30वाँ वार्षिक अधिवेशन, राजनीतिक सम्मेलन और महिला सम्मेलन आदि सम्पन्न हुए थे।
5. सन् 1965 में यहाँ श्री 108 आचार्य नेमिसागर महाराज (देहली) का संसंध चातुर्मास हुआ था।
6. अभी सन् 1965 में चातुर्मास के मध्य आयोजित श्री सिद्धचक्र मण्डल विधान के शुभावसर पर श्री 105 पद्मसागरजी ने क्षुल्लक पद की दीक्षा ली।
7. उदाहरणार्थ सन् 1965 में श्री सिद्धचक्र मण्डल-विधान तथा सन् 1967 में श्रीत्रैलोक्य-तिलक-मण्डल-विधान महोत्सव के साथ सम्पन्न हुए।
8. ललितपुर, जाखलौन आदि निकटवर्ती स्थानों का जैन-समाज समय-समय पर सामूहिक रूप से इस प्रकार के सतत पाठों का आयोजन करता रहता है।
9. दे.—मं. सं. 12 के गर्भगृह के प्रवेश-द्वार का सिरदल तथा चित्र सं. 19, 20।
10. देवगढ़ की सैकड़ों तीर्थंकर-मूर्तियों पर इनके अंकन देखे जा सकते हैं।

मंगल द्रव्यों और नवग्रहों<sup>1</sup> का द्वारों तथा मूर्तियों पर अंकन यह सूचित करता है कि देवगढ़ का जैन समाज न केवल धर्म प्रेमी था, प्रत्युत धर्म की सूक्ष्मताओं और प्रतीकों को भी भली-भाँति समझता था।

## समन्वय

जीवन को धर्म के अनुकूल जीने में उसे विशेष आनन्द मिलता था। वह अर्थ और काम के भी ऊपर धर्म को ला बिठाने में बहुत कुशल था। दो स्थानों पर<sup>2</sup> तीर्थंकर की माता को रत्नजटित शय्या पर एक अत्यन्त मोहक और ऐश्वर्य-द्योतक मुद्रा में लेटा दिखाया गया है। शय्या क्या, उसे तो एक बहुमूल्य सिंहासन कहना चाहिए, जिसके नीचे सिंहों और हाथियों की सुघड़ आकृतियाँ दिखायी गयी हैं। कोई सेविका उन्हें पंखा झल रही है तो कोई उनके चरण सहला रही है।<sup>3</sup> अर्थ और काम का अनोखा संयोग बन पड़ा है। इस सबके ऊपर कलाकार ने चौबीस-तीर्थंकरों की मूर्तियाँ उकेरकर धर्मपुरुषार्थ का अद्भुत समा बाँध दिया है। देवगढ़ के जैन समाज की धर्म, अर्थ और काम के प्रति यह समन्वित निष्ठा निश्चय ही उसे अक्षय-सुख अर्थात् मोक्ष प्राप्त कराने के लिए काफी थी।

## 9. निष्कर्ष

इस प्रकार देवगढ़ का धार्मिक दृष्टि से सर्वेक्षण करने पर अग्रलिखित निष्कर्ष सामने आते हैं—

1. यहाँ प्रायः आदि से अन्त तक भट्टारकों का प्रभुत्व रहा। धर्म-प्रचार के लिए अध्यापन और सार्वजनिक प्रवचन आदि के अतिरिक्त प्रतिष्ठोत्सव, नृत्य तथा संगीत के आयोजन एवं अतिथि-सत्कार आदि के साधन अपनाये जाते थे।
2. कुछ भट्टारक स्थान-स्थान पर भ्रमण करके भी जैनधर्म का प्रचार करते

1. मं. सं. 12 के गर्भगृह के प्रवेश-द्वार के सिरदल, मं. सं. 18 के महामण्डप के प्रवेश-द्वार के सिरदल तथा मं. सं. 31 के प्रवेश-द्वार के सिरदल पर; एवं मं. सं. 12 के गर्भगृह की मुख्य-प्रतिमा तथा महामण्डप की (दायें से बायें) तीसरी, मं. सं. 13 की (बायें से दायें) 20वीं तीर्थंकर मूर्ति तथा एक अन्य तीर्थंकर मूर्ति के अतिरिक्त जैन-चहारदीवारी की बाहरी उत्तरी भित्ति पर (बायें से दायें) पाँचवीं देवी-मूर्ति के साथ इनका अंकन हुआ है।

2. मं. सं. 4 की भीतरी बायीं भित्ति पर जड़ी हुई एवं मं. सं. 30 में स्थित।

3. दे.-चित्र सं. 93।

थे, जैसा कि एक ही भट्टारक के विभिन्न स्थानों पर उल्लेखों से ज्ञात होता है।<sup>1</sup>

3. धर्म के उत्थान में श्रावक-श्राविकाओं का योगदान भी उल्लेखनीय है, जो समय-समय पर विभिन्न उत्सवों के आयोजन करते रहते थे और मन्दिरों तथा मूर्तियों के निर्माण में अपने न्यायोपात्त द्रव्य का सदुपयोग किया करते थे।
4. साधुओं को निवासगृहों एवं अन्य सुविधाओं की व्यवस्था भी इन्हीं के द्वारा होती थी।
5. देवगढ़ में जैनधर्म के प्रचार का अधिकांश श्रेय वहाँ के श्रावक-श्राविकाओं को ही था, क्योंकि खजुराहो, चन्देरी, ग्वालियर आदि की भाँति इस स्थान को राज्याश्रय कभी नहीं मिला। देवगढ़ में जैनधर्म का आविर्भाव और विकास उच्च स्तर पर और तीव्र गति से हुआ, शानदार मन्दिर और कलापूर्ण मूर्तियाँ इस तथ्य के जीवन्त प्रमाण हैं।

---

1. उदाहरण के लिए पद्मनन्दी, रत्नकीर्ति, ललितकीर्ति, देवेन्द्रकीर्ति, आदि का उल्लेख ललितपुर, गंजबासौदा, बीकानेर आदि के अभिलेखों में प्राप्त होता है। दे.—(अ) अगरचन्द्र नाहटा, भँवरलाल नाहटा : बीकानेर जैन लेखसंग्रह (कलकत्ता, 2482 वी.नि.), लेखांक 1373, 1444 तथा 1514 (पृ. 180, 193 और 302)। (ब) कुन्दनलाल जैन : गंजबासौदा के जैन मूर्ति व यन्त्र लेख : सन्मति सन्देश (अगस्त, 1965 ई.), पृ. 35-36।

# 7

## सामाजिक जीवन

### 1. अध्ययन के स्रोत

देवगढ़ के प्राचीन और मध्यकालीन सामाजिक जीवन एवं संस्कृति का मूल्यांकन करने के लिए वहाँ उपलब्ध तथा उससे सम्बन्ध रखनेवाले अन्य स्रोतों का अध्ययन आवश्यक है। मन्दिरों की भित्तियों, मूर्तिफलकों और शिलापट्टों पर अंकित सामाजिक और सांस्कृतिक दृश्य इस अध्ययन में सहायक हैं। अभिलेखीय उल्लेख भी उपयोगी हैं। स्वयं देवगढ़ में लिखा गया कोई साहित्य नहीं मिलता पर अन्यत्र लिखे गये साहित्य से वहाँ के सामाजिक जीवन और संस्कृति पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। इन सबके अतिरिक्त, मन्दिरों और मूर्तियों की अधिकता एवं कलात्मकता आदि कुछ ऐसे तथ्य हैं, जिनसे तत्कालीन समाज की आर्थिक सम्पन्नता, परिष्कृत रुचि और धार्मिक निष्ठा का परिचय प्राप्त होता है। इन सब स्रोतों से हमें अनेक तथ्यों पर विचार करना है : वहाँ का समाज किन वर्गों में विभक्त था, उसकी आर्थिक स्थिति कैसी थी, धर्मपरायणता की प्रवृत्ति वहाँ किस सीमा तक थी, शिक्षा का प्रचार और उसके साधन क्या थे, लिपि और भाषा क्या थी, वेश-भूषा और प्रसाधन के क्या रूप थे और आमोद-प्रमोद के साधन क्या थे।

### 2. समाज के विभिन्न वर्ग

#### 1. उच्च और निम्न वर्ग

समाज का वर्गीय विभाजन प्रायः आज की ही भाँति प्राचीनकाल में भी सम्भव था। देवगढ़ इसका अपवाद नहीं है। वहाँ कुछ लोग उच्चवर्ग के और कुछ निम्नवर्ग के थे। यहाँ निम्नवर्गीय समाज के अंकन प्रायः बहुत कम हैं, परन्तु उच्चवर्गीय समाज की अच्छी झाँकी मिलती है। सम्भ्रान्तवर्ग के लोग बहुमूल्य वस्त्र

232 :: देवगढ़ की जैन कला : एक सांस्कृतिक अध्ययन

पहनते थे, साने और रत्नों के अलंकार धारण करते थे,<sup>1</sup> साधुओं और तीर्थंकरों की उपासना में समय व्यतीत करते थे<sup>2</sup> और गीत तथा नृत्य में गहरी रुचि रखते थे।<sup>3</sup> उच्चवर्ग की स्त्रियाँ भी सौन्दर्य की महत्ता समझती थीं। वे अपने पति से मिलने, किसी मण्डली में सम्मिलित होने या किसी सार्वजनिक स्थान पर जाने से पूर्व प्रसाधन करना न भूलती थीं,<sup>4</sup> इसके लिए वे दर्पण आदि की सहायता भी लेती थीं।<sup>5</sup> निम्नवर्ग की स्त्रियाँ जो अपेक्षाकृत कम सुसज्जित और संस्कृत दिखाई देती थीं, उनके साथ परिचारिकाओं आदि के रूप में रहा करती थीं।<sup>6</sup> निम्नवर्ग के पुरुष भी उच्चवर्ग के पुरुषों की परिचर्या और वाहनों की व्यवस्था आदि करते थे।<sup>7</sup> यहाँ किसी भी कृति में कोई भी स्त्री अवगुण्डन धारण किये नहीं दिखाई पड़ी।<sup>8</sup>

## 2. चतुर्विध संघ

देवगढ़ के समाज को चतुर्विध-संघ के रूप में विभाजित करना अधिक उपयुक्त होगा।

साधु : प्रथमवर्ग साधुओं का था। ये लोग पंच-परमेष्ठियों में से अन्तिम तीन परमेष्ठी माने जाते रहे हैं। आचार्य तीसरे परमेष्ठी थे। ये सम्पूर्ण साधुसंघ के, जिसमें साध्वियाँ भी सम्मिलित थीं, संचालक होते थे। चौथे परमेष्ठी उपाध्याय कहलाते थे जिनका कार्य साधुओं और साध्वियों को नियमित रूप से तथा श्रावक-श्राविकाओं को समय-समय पर शिक्षा देना था। साधुओं का यह वर्ग देवगढ़ में सर्वाधिक सक्रिय और कर्तव्यनिष्ठ था, जैसा कि वहाँ प्राप्त अनेक पाठशाला दृश्यों<sup>9</sup> से प्रमाणित होता

1. बहुमूल्य वस्त्रों तथा आभूषणों आदि के लिए दे.—चित्र सं. 6, 7, 18-21, 33, 35, 93, 95-112, 114-119, 121 तथा 122 आदि।
2. दे.—चित्र सं. 52, 53, 64, 76, 77, 79 से 88 तक तथा 109।
3. दे.—चित्र सं. 16, 23, 35, 57, 116, 118 आदि।
4. दे.—चित्र सं. 114, 116 से 121 तक आदि।
5. (अ) मं. सं. 11 की दूसरी मंजिल पर महामण्डप के द्वार पक्ष (बायें) पर एक दर्पणधारिणी शुचिस्मिता का आकर्षक अंकन है। वह अपने बायें हाथ में दर्पण लिये है और दायें से ओष्ठ को प्रसाधित करती प्रतीत होती है। दे.—चित्र सं. 117। (ब) मं. सं. 18 के महामण्डप के प्रवेश-द्वार पर दर्पण के सहारे अपनी ललाटिका को व्यवस्थित करती हुई एक सुन्दरी का सुन्दर अंकन है। दे.—चित्र सं. 116।
6. दे.—चित्र सं. 6, 7, 21, 33, 95, 99, 100, 104, 108 आदि।
7. दे.—मं. सं. 11 और 12 के प्रवेश-द्वार की देहरी। (चित्र सं. 18)।
8. दे.—चित्र सं. 6, 7, 16, 21, 33, 35, 93, 95-112, 119 आदि।
9. दे.—चित्र सं. 75, 77-82 तथा 85 आदि। एवं कुछ महत्त्वपूर्ण उपाध्याय मूर्तियों के लिए दे.—चित्र सं. 83 आदि।

है। साधुवर्ग पाँचवें परमेष्ठी थे। वे तीसरे और चौथे परमेष्ठियों की विनय और वैयावृत्ति आदि तो करते ही थे, स्वाध्याय और तपश्चर्या आदि में भी संलग्न रहते थे। वे स्थान-स्थान पर भ्रमण करके श्रावक-श्राविकाओं को धर्मोपदेश भी देते थे। उनके उपदेश के अधिकारी मनुष्य ही नहीं, पशु भी होते थे।<sup>1</sup>

कुछ साधु श्राविकाओं से संवाहन कराने<sup>2</sup> तथा हाथ का उपधान लगाकर आराम से लेटने<sup>3</sup> आदि की 'उत्सूत्र-प्रवृत्ति' भी कर बैठते थे। कुछ साधु क्रोधी भी होते थे, जिनकी मुखाकृति अपने गुरु की उपस्थिति में भी उदण्डतापूर्ण और आवेशमय रहती थी।<sup>4</sup> इसी प्रकार वहाँ कुछ तुन्दिल साधु भी रहते थे।<sup>5</sup> परन्तु इन दो-तीन अपवादस्वरूप अनुचित प्रवृत्तियों के विरुद्ध वहाँ कुछ घोर तपस्वी साधु भी रहते थे। भगवान् आदिनाथ के द्वितीय सुपुत्र बाहुवली का भी वहाँ कई स्थानों पर मूर्त्यकन हुआ है, जिन्होंने इतनी कठोर और दीर्घकालीन तपस्या की थी कि निरन्तर हिले-डुले बिना ही खड़े रहने के कारण उनके शरीर पर लताएँ चढ़ गयी थीं और सर्प, छिपकली तथा विच्छू आदि विषैले जन्तु भी निर्भय होकर रेंगने लगे थे।<sup>6</sup>

**साध्वियाँ :** साध्वियाँ भी स्वाध्याय और तपश्चर्या में मग्न रहती थीं।<sup>7</sup> वे पाठशालाओं में भी उपस्थित होती थीं। कुछ साध्वियाँ मूर्तियाँ भी बनवाती थीं। संवत् 1095 और उसके आस-पास कभी इन्दुआ<sup>8</sup> नाम की साध्वी ने, संवत् 1135 में लवनासरी<sup>9</sup> नाम की साध्वी ने और किसी समय गणी<sup>10</sup> नाम की साध्वी ने मूर्तियों का दान किया था। यही नहीं, संवत् 1176 में सोमती<sup>11</sup> नामक साध्वी ने और उसके कुछ समय आस-पास उसकी बहन धनियाँ<sup>12</sup> ने, संवत् 1201 में मदन<sup>13</sup> नाम की

1. मं. सं. 12 के गर्भगृह तथा प्रदक्षिणापथ के प्रवेश-द्वार पर। दे.—चित्र सं. 22-23।

2. मं. सं. 18 के महामण्डप के प्रवेश-द्वार पर। दे.—चित्र सं. 91 तथा 116।

3. वही।

4. मं. सं. एक के पृष्ठभाग में। दे.—चित्र सं. 77।

5. वही पर। दे.—चित्र सं. 78 और 80।

6. दे.—मं. सं. 2, 11 के दूसरे खण्ड का गर्भगृह और जैन धर्मशाला में अवस्थित बाहुवली-मूर्तियाँ तथा चित्र सं. 86 से 88 तक।

7. दे.—परिशिष्ट एक, अभि. क्र. 11।

8. दे.—परि. एक, अभि. क्र. 30।

9. दे.—परि. एक, अभि. क्र. 107।

10. दे.—परि. एक, अभि. क्र. 32।

11. दे.—परि. एक, अभि. क्र. 51।

12. दे.—परि. एक, अभि. क्र. 59।

13. दे.—परि. एक, अभि. क्र. 52।

234 :: देवगढ़ की जैन कला : एक सांस्कृतिक अध्ययन



साध्वी ने, संवत् 1207 में आर्यिका नवासी<sup>1</sup> ने तथा संवत् 1209 में आर्यिका धर्मश्री<sup>2</sup> ने, मूर्तियों की प्रतिष्ठा भी करायी थी। श्रावक और श्राविकाएँ—दोनों ही, साध्वियों से उपदेश प्राप्त करते थे।<sup>3</sup> वरिष्ठ साध्वियाँ कनिष्ठ साध्वियों पर कड़ी नजर रखती थीं और अपराध हो जाने पर कनिष्ठ साध्वियाँ घुटनों के बल (उकड़ूँ) बैठकर उनसे क्षमायाचना करती थीं।<sup>4</sup>

जैन धर्म के उत्थान में पुरुषों की अपेक्षा स्त्रियों का योगदान अधिक रहा। मथुरा आदि से प्राप्त सैकड़ों जैन अभिलेखों से ज्ञात होता है कि धर्म के प्रति स्त्रियों की आस्था पुरुषों से कहीं अधिक थी और धर्मार्थ दान देने में वे सदा पुरुषों से आगे रहती थीं।<sup>5</sup> मथुरा के प्रमुख जैन स्तूप के निर्माण में बहुसंख्यक महिला दानदातारों का हाथ था। देवगढ़ में भी उपर्युक्त प्रवृत्ति परिलक्षित होती है।<sup>6</sup> वर्तमान काल में भी धार्मिक अभिरुचि पुरुषों की अपेक्षा महिलाओं में ही अधिक विकसित दिखायी पड़ती है।

**श्रावक-श्राविकाएँ** : श्रावकवर्ग भी कर्तव्यपालन और धर्माचरण में साधुवर्ग से पीछे नहीं रहता था। जो श्रावक साधु अवस्था धारण करने में असमर्थ होते थे वे उल्लूक श्रावक अर्थात् ऐलक<sup>7</sup> का पद स्वीकार करते थे।<sup>8</sup> अतिथियों का सत्कार करते हुए सपत्नीक श्रावक की तत्परता और श्रद्धा दर्शनीय होती थी।<sup>9</sup> तीर्थंकर की

1. दे.—परि. एक, अभि. क्र. 25।

2. दे.—परि. एक, अभि. क्र. 23।

3. मं. सं. चार में जड़ी मूर्तियाँ तथा स्तम्भ सं. 11 में।

4. दे.—मं. सं. 10 में दक्षिणी स्तम्भ (पूर्वी ओर)। चित्र सं. 92।

5. (अ) प्रो. कृष्णदत्त वाजपेयी : मथुरा से प्राप्त दो नवीन अभिलेख : वर्णी अभिनन्दन ग्रन्थ (सागर, 2476 वी.नि.), पृ. 229-31। (ब) प्रो. कृष्णदत्त वाजपेयी : भारतीय कला में भ. महावीर : सन्मति सन्देश (मई, 1961), पृ. 35। (स) प्रो. कृष्णदत्त वाजपेयी : कला का इतिहास, हिन्दी साहित्य, जिल्द दो (प्रयाग, 1962 ई.), पृ. 223।

6. दे.—परि. एक, अभि. क्र. 62, 7, 12, 13, 55, 98, 104, 120 आदि।

7. ऐलक का लक्षण—(अ) गृहतो मुनिवनिमत्वा गुरूपकण्ठे व्रतानि परिगृह्य। भैश्याशनस्त-पस्यन्नुल्लूकश्चेलखण्डधरः ॥

—आचार्य समन्तभद्र : रत्नकरण्ड श्रावकाचार : (देहली, 1951), श्लो. 147।

(ब) आचार्य वसुनन्दि : वसुनन्दि श्रावकाचार : (काशी, 1952 ई.), भूमिका, पृ. 63 तथा गाथा 311।

8. दे.—ऐलक की प्रतिमा, मं. सं. 15 के मण्डप में (बायें से दायें) अन्तिम मूर्तिफलक।

9. दे.—मं. सं. 12 के गर्भगृह और प्रदक्षिणापथ के प्रवेश-द्वार। और भी दे.—चित्र सं. 22, 23।

मूर्तियों के समक्ष नृत्य और गीत के कार्यक्रमों का प्रचलन देवगढ़ में प्रचुरता से था।<sup>1</sup> इन कार्यक्रमों में श्रावक और श्राविकाएँ समान रूप से भाग लेती थीं। दानशालाओं का निर्माण होता था, जिसमें श्रावकों के अतिरिक्त पण्डितवर्ग भी भाग लेता था।<sup>2</sup> कुछ श्राविकाएँ नारिकेल आदि सामग्री लेकर पूजन को जाया करती थीं।<sup>3</sup> कुछ श्राविकाएँ पाठशालाओं में जाकर शिक्षा भी ग्रहण करती थीं।<sup>4</sup>

### 3. वंश और उपजातियाँ

उक्त वर्गीकरण के अतिरिक्त समाज विभिन्न वंशों और उपजातियों में भी विभक्त था। सन् 1203 ई. के लगभग देवगढ़ पाली में देपद और खेपद नामक दो भाइयों ने एक महान् जैन यज्ञ करवाया था। उसी समय मुहम्मद गोरी की सेना से बचकर भागे हुए कुछ क्षत्रिय वहाँ आ पहुँचे। ये दिल्ली के आसपास रहनेवाले 'रत्नागिरे' क्षत्रिय थे। वे जैनधर्म स्वीकार करके उस यज्ञ में सम्मिलित हो गये।

इसी अवसर पर उन्हें 'कठनेरा'<sup>5</sup> जैन के नाम से घोषित किया गया। एवं उसी समय उन्हें साढ़े बारह गोत्रों में विभाजित किया गया—(1) सिंघई आरत्या, (2) सिंघई दीवटिया, (3) सेठ पुजेरे, (4) सेठ टीकेत, (5) साह डिलौआ, (6) भण्डारी, (7) नायक, (8) कौंडर, (9) खारक्या, (10) तेलिया, (11) खड़ेले, (12) रबड़या (12½) निगोत्या। इनके वंशज आज भी विद्यमान हैं और वे अपने को श्री कुन्दकुन्दाम्नायी, मूलसंधी तथा सरस्वतीगच्छ से सम्बन्धित मानते हैं।<sup>6</sup>

1. नृत्य और गीत की मण्डलियाँ देवगढ़ में मन्दिरों के प्रवेश-द्वारों, स्तम्भों, तोरणों तथा मूर्तिफलकों आदि पर बहुत बड़ी संख्या में देखी जा सकती हैं। दे.—चित्र सं. 16, 23, 35, 57, 116, 118 आदि।
2. दे.—द्वितीय कोट की उत्तरी दीवार में भीतर की ओर प्राप्त कतिपय अभिलेख, जिनमें दानशालाओं के निर्माण के विवरण के अतिरिक्त उनका वर्णन भी किया गया है। और भी देखिए—दयाराम साहनी : ए.प्रो.रि., परि. 'अ' अभिलेख क्रमांक 125, 126 और 129।
3. मं. सं. एक के मण्डप में आचार्य परमेश्वरी की मूर्ति के पादपीठ में दे.—चित्र सं. 77 और 79।
4. दे.—पाठशालाओं के विभिन्न दृश्य। और भी दे.—चि. सं. 77 से 82।
5. इन्हें जैनसंघ में सम्मिलित करते समय यह शर्त रखी गयी थी कि उक्त महायज्ञ के समय उपस्थित समाज को, ये लोग 'काष्ठ' (ईंधन) के विना भोजन तैयार कर पंक्तिभोज दें, उन लोगों ने यह प्रस्ताव स्वीकार किया था और अपने बहुमूल्य वस्त्रों आदि को घी-तेल में भिगो-भिगोकर उन्हें जलाकर भोजन तैयार कर उक्त महायज्ञ में आगत समस्त समाज को पंक्तिभोज दिया था। यह एक कठिन कार्य था। अतः उपस्थित समुदाय ने उनके साहस और निष्ठा की भूरि-भूरि प्रशंसा की तथा उनके कार्य के अनुरूप सभी ने उनका नाम 'कठनेरा' निर्धारित किया। दे.—हरिकृष्ण कवि : बृहत्संचकल्याणक विधान : (बम्बई, 1929 ई.), भूमिका, पृ. 3-7।
6. दे.—वही, पृ. 7।

236 :: देवगढ़ की जैन कला : एक सांस्कृतिक अध्ययन

संवत् 1481 के एक अभिलेख<sup>1</sup> में अग्रोतक वंश का उल्लेख है, जिससे वर्तमान अग्रवाल समाज अपना सम्बन्ध स्थापित करता है। इसी अभिलेख में गर्ग नामक गोत्र का भी उल्लेख हुआ है। यहीं के, संवत् 1493 के एक अभिलेख<sup>2</sup> में 'अष्टशाख' नामक वंश का उल्लेख मिलता है। यह 'अष्टशाख' वर्तमान जातियों में प्रचलित 'अठसका' ही है। संवत् 1693 के एक अभिलेख<sup>3</sup> में 'गोलापूर्व' नामक उपजाति का भी उल्लेख मिला है। इन सबसे यह निष्कर्ष निकलता है कि देवगढ़ का समाज विभिन्न वंशों, गोत्रों और उपजातियों का समष्टिगत रूप तो था ही, साथ ही कठनेरा जैसी उपजाति का जन्मस्थान भी था।

### 3. धर्मपरायणता

धर्मपरायणता भारतीय संस्कृति की मूलभूत विशेषता है। पुरुषार्थ चतुष्टय में धर्म की गणना प्रथम स्थान पर होती है। अहिंसा, सत्य, अचौर्य, स्वदार-सन्तोष और परिग्रह-परिमाण धर्म के ही विभिन्न रूप हैं। ये रूप व्यक्ति की सामर्थ्य और परिस्थितियों की अनुकूलता-प्रतिकूलता के अनुसार कभी अत्यन्त सूक्ष्म और कभी अत्यन्त विशाल आकार में दीख पड़ते हैं। जहाँ तक देवगढ़ के समाज का प्रश्न है, वहाँ धर्म के प्रायः सभी रूप लघुतम से महत्तम तक आकार में दृष्टिगत होते हैं। सूखे हाथों साधु की वन्दना कर लेनेवाली अवोध श्राविका<sup>4</sup> से लेकर सतत एक वर्ष तक प्रचण्ड तपश्चर्या करनेवाले साधु<sup>5</sup> तक का जीवन वहाँ अंकित किया गया है। एक ओर पिटता हुआ परस्त्री-लम्पट दिखाया गया है<sup>6</sup> तो दूसरी ओर देवांगनाओं द्वारा गिद्धाये जाने पर भी हिमालय की भौंति अडिग तपस्वी भी मूर्त्यंकित किया गया है।<sup>7</sup> साधुओं अर्थात् अतिथियों का आहार आदि से सत्कार करनेवाले सदगृहस्थ तो देवगढ़ में थे ही,<sup>8</sup> साथ ही साधुओं के चरण संवाहन करनेवाले भक्त भी थे।<sup>9</sup>

1. नै.-राष्ट्रीय संग्रहालय, देहली में सुरक्षित, 6 फुट 2 इंच. × 2 फुट 9 इंच. के शिलाफलक पर उत्कीर्ण, देवगढ़ से प्राप्त अभिलेख का 32वाँ अनुच्छेद ओर भी दे.-परि. दो, अभि. क्र. चार।
2. देवगढ़ की जैन धर्मशाला में सुरक्षित। दे.-परि. 2, अभि. क्र. 5।
3. मं.सं. 7 की चरणपादुका पर उत्कीर्ण। दे.-परि. 2, अभि. क्र. 6।
4. दे.-चित्र सं. 23। मं. सं. 12 के प्रदर्शनापथ के प्रवेश-द्वार पर (दावे) साधु को खाली हाथ विनय प्रार्थित करती हुई एक श्राविका का अंकन है।
5. दे.-चित्र सं. 86 से 88 तक।
6. दे.-चित्र सं. 115।
7. दे.-चित्र सं. 16।
8. दे.-चित्र सं. 22, 23।
9. दे.-चित्र सं. 91 तथा 116।

देवी-देवताओं की उपासना को हम धर्म की सीमाओं में बाँधें या न बाँधें, पर उसका प्रचार देवगढ़ में बहुत रहा है। सैकड़ों की संख्या में प्राप्त हुई उनकी मूर्तियाँ<sup>1</sup> निर्विवाद रूप से घोषित करती हैं, कि देवगढ़ का समाज चमत्कार को नमस्कार करता था। और धीरे-धीरे आध्यात्मिकता से भौतिकता की ओर झुकता जा रहा था, यह एक दोष हो सकता है। किन्तु यह दोष केवल देवगढ़ तक अथवा जैन धर्म तक ही सीमित नहीं था, बल्कि अखिल भारतीय स्तर पर इस दोष की जड़ें जम चुकी थीं।

बौद्ध धर्म में वज्रयानी शाखा के साथ, वैदिक धर्म में कौल और कापालिक तथा जैन धर्म में भट्टारकों ने धर्म के नाम पर ऐहिक सुखों की प्राप्ति और वासनाओं की तृप्ति के बीसों बहाने खोज निकाले। उन्होंने विभिन्न देवी-देवताओं और मन्त्र-तन्त्र आदि की कल्पित कथाओं और चमत्कारों द्वारा समाज को मोहित कर लिया। उनकी यह मोहनशक्ति गुप्तोत्तरकाल से दृढ़ से दृढ़तर होती गयी और मुगलकाल के समाप्त होते-होते क्षीण हो चली। उसके अवशेष काश्मीर के कौलों, मथुरा, बनारस आदि के पण्डों और दक्षिण भारत के भट्टारकों आदि के रूप में आज भी विद्यमान हैं। देवगढ़ इस सम्पूर्ण प्रक्रिया से अछूता नहीं रहा। वहाँ भट्टारकों की एक सबल परम्परा शताब्दियों तक विद्यमान रही<sup>2</sup> जिसने वहाँ के समाज की तथाकथित धर्मपरायणता को अक्षुण्ण बनाये रखने में सराहनीय योगदान दिया।

1. कुछ विशिष्ट देव-देवियों की मूर्तियों के लिए दे.—चित्र सं. 19, 20 तथा 95 से 113 तक।
2. डॉ. कस्तूरचन्द्र कासलीवाल को एक ऐसी पट्टावली प्राप्त हुई है, जो अब तक अनुपलब्ध थी। इस पट्टावली से हमारा उक्त कथन की सप्रमाण पुष्टि होती है। “यह पट्टावली एक पत्र के रूप में लिखी हुई है। पत्र वागीदोरा गाँव से देवगढ़ नगर को लिखा गया था। पत्र के प्रारम्भ में वहाँ के प्रतिष्ठित सज्जनों के नाम दिये गये हैं। फिर लिखा गया है कि सं. 1300 से 1400 तक गुजरात में दिगम्बर जैनधर्म की अच्छी दशा नहीं थी किन्तु जब भट्टारक सकलकीर्ति ने उधर विहार किया और अपनी भट्टारक गद्दी स्थापित की, तब से वहाँ धर्म की उन्नति होती गयी। पत्र में सकलकीर्ति की मृत्यु संवत् 1499 में महसाना नगर में होना लिखा है। मृत्यु के समय ये 56 वर्ष के थे। इनके पीछे आचार्य धर्मकीर्ति भट्टारक बने। इन्होंने सागवाड़ा के आदिनाथ के मन्दिर का जीर्णोद्धार कराया और नौगाँव में अपनी भट्टारक गद्दी की स्थापना की। ये 24 वर्ष तक भट्टारक रहे, इनके पश्चात् विमलचन्द्रकीर्ति भट्टारक हुए जो 12 वर्ष तक जीवित रहे। इधर आत्रीय (आतरी) गाँव में भट्टारक भुवनकीर्ति का पट्टाभिषेक हुआ। भुवनकीर्ति के पश्चात् भट्टारक ज्ञानभूषण एवं विजयकीर्ति हुए। इसी समय सागवाड़ा एवं नौगाँव में एक ही दिन दो अलग-अलग प्रतिष्ठाएँ हुईं। पत्र के अनुसार इन प्रतिष्ठाओं के समय बड़साजन एवं लोहडसाजन की उत्पत्ति हुई। जिसमें बड़साजनों के भट्टारक विजयकीर्ति एवं लोहडसाजनों के भट्टारक रत्नकीर्ति कहलाने लगे। भट्टारक रत्नकीर्ति के पश्चात् संवत् 1805 तक कितने ही भट्टारक हुए, जिनका इस पट्टावली में नामोल्लेख हुआ है। अन्तिम भट्टारक अमरचन्द्र थे, जो भट्टारक देवचन्द्र की मृत्यु के पश्चात् गद्दी पर बैठे थे। पट्टावली में सभी भट्टारकों के नामों का उल्लेख हुआ है। पट्टावली हिन्दी गद्य में है जिसमें गुजराती भाषा के शब्दों का व्यवहार है। पट्टावली संवत् 1805 की लिखी हुई है, तथा भट्टारकीय शास्त्र भट्टारक

→

## 4. शिक्षा

प्राचीन भारत में ऐहिक चिन्तन की अपेक्षा तत्त्वज्ञान तथा पारलौकिक चिन्तन की ओर अधिक प्रवृत्ति थी। वानप्रस्थ तथा संन्यास आश्रमों की व्यवस्था पर प्राचीन ऋषि-मुनियों ने यह प्रयत्न किया था कि जीवन का अधिकांश उच्च तत्त्वज्ञान के चिन्तन में व्यतीत हो। इस-उद्देश्य की पूर्ति के लिए सांसारिक कोलाहल से दूर प्रकृति के क्रीडास्थल वन-उपवन चुने गये। इन स्थानों पर ऋषि-मुनियों के आश्रमों की स्थापना हुई, जो शिक्षा तथा धर्म के केन्द्र बने।<sup>1</sup> आश्रमों की स्थापना वन-उपवनों के अतिरिक्त नदियों के किनारे और नगरों के निकट भी होने लगी थी। ये तपोवन या आश्रम धीरे-धीरे शिक्षा के केन्द्र बने। वैदिक आश्रमों के अनुरूप जैनों ने भी अपने विहार, मठ और मन्दिर वनवाये, जिनमें उन्होंने अपने धर्मों की शिक्षा की व्यवस्था की।<sup>2</sup>

### शिक्षक : शिक्षार्थी

देवगढ़ में शिक्षा का प्रचार बहुत अधिक था। शिक्षा का कार्य प्रायः साधुवर्ग द्वारा सम्पन्न होता था। उनकी कुछ कक्षाओं में केवल साधु, कुछ में साधु और साध्वियाँ तथा कुछ में साधु-साध्वियों के साथ श्रावक-श्राविकाएँ भी सम्मिलित होती थीं। अल्पायु के बालक तो शिक्षा पाते ही थे, वयोवृद्ध ब्रह्मचारी और पण्डित भी कक्षाओं में सम्मिलित होते थे।<sup>3</sup> छात्राओं को शिक्षा देने का कार्य विदुषी महिलाओं द्वारा सम्पन्न होता था।<sup>4</sup> प्राचीन भारत में उन्हें 'उपाध्यायिनी' और 'उपाध्याया' कहा जाता था।<sup>5</sup> देवगढ़ के शिक्षार्थी ब्रह्मचारी पुस्तकें रखने के लिए 'बस्ता' का प्रयोग करते थे, जिसे वे कन्धे पर टाँगकर लाते और ले जाते थे।<sup>6</sup>

डूंगरपुर (राजस्थान) के संग्रह में हैं।" डॉ. कस्तूरचन्द्र कारालीवाल : तीन ऐतिहासिक भट्टारक पट्टावलिः : सन्मति सन्देश, वर्ष 7, अंक 3 (मार्च, 1962 ई.), पृ. 27।

1. प्रो. कृष्णदत्त वाजपेयी : प्राचीन भारत के शिक्षा केन्द्र : विक्रम स्मृति ग्रन्थ संवत् 2001 : (ग्वालियर, अप्रैल, 1944 ई.), पृ. 727।
2. प्रो. कृष्णदत्त वाजपेयी : प्राचीन भारत के तपोवन : नागरी प्रचारिणी पत्रिका : (काशी, वि.सं. 2005), वर्ष 53, अंक 3-4, पृ. 236।
3. दे. -विभिन्न पाठशाला दृश्य तथा चित्र सं. 77-82 एवं 85।
4. दे. -जैन धर्मशाला स्थित चैत्यालय में उपाध्याय परमेष्ठी की मूर्ति का अभिलेख (परि. दो, अभि. क्र. तीन)।
5. प्रो.कृ.ट. वाजपेयी : प्रा.भा. के शि.के. : वि. स्मृ. प्रं., पृ. 729।
6. दे. मं. सं. 1<sup>0</sup> के अर्धमण्डप के सामने पड़े किसी द्वार के अवशेष. मं. सं. एक के मण्डप में जड़ी (चित्र सं. 80) आचार्य मूर्ति तथा जैन चहारदीवारी।

शिक्षा देनेवाले प्रायः उपाध्याय परमेष्ठी ही होते थे। उनके हाथ में ग्रन्थ और सामने एक टूटदार मेज होती थी।<sup>1</sup> वे सैद्धान्तिक पक्ष को भी व्यावहारिक पक्ष की भाँति सरलता से समझा लेते थे। इसके लिए वे तीन लोक आदि के मानचित्र आदि का प्रयोग करते थे।<sup>2</sup>

## विषय

शिक्षा के विषयों में अध्यात्म, धर्म, साहित्य और योगशास्त्र आदि के अतिरिक्त नृत्य, गीत, भवन-निर्माण और मूर्ति-निर्माण आदि कलाएँ भी सम्मिलित थीं।

## उपकरण

शिक्षा के उपकरणों में वह मेज विशेष रूप से उल्लेखनीय है, जो आधुनिक टूटदार 'टेबल' से बहुत अधिक मिलती-जुलती है। उसपर यदा-कदा आज की ही भाँति वस्त्र (टेबल क्लाथ) भी बिछाया जाता था।<sup>3</sup> व्यावहारिक ज्ञान के लिए मानचित्रों और वाद्यों<sup>4</sup> का प्रयोग होता था।

## शिक्षालय

पाठशालाएँ मन्दिरों, मठों और दानशालाओं आदि में लगती होंगी, परन्तु कुछ पाठशालाएँ वृक्षों के नीचे भी लगती थीं।<sup>5</sup> प्रकृति की निश्चल गोद में अध्ययनरत छात्र और अध्यापन में मग्न आचार्य के अंकन गुरुकुल-पद्धति का सुखद स्मरण कराते हैं।

## गुरु-शिष्य सम्बन्ध

गुरु और शिष्य के सम्बन्ध मधुरता और वात्सल्य से पूर्ण होते थे किन्तु एक स्थान पर दो साधु अपने गुरु के समक्ष, न जाने क्यों, अत्यन्त क्रुद्ध हो उठे थे।<sup>6</sup> प्राचीन भारत में तक्षशिला, काशी, वलभी आदि स्थानों में शिक्षा के इतने बड़े

1. दे.—मं. सं. 4 आदि में उल्लेखित विभिन्न पाठशाला दृश्य चित्र सं. 75, 77-82 एवं 85 आदि।
2. दे.—मं. सं. 15 में स्थित तीन लोक का मानचित्र।
3. दे.—मं. सं. चार के गभंगूह में पश्चिमी भित्ति में जड़ी हुई मूर्ति।
4. दे.—चित्र सं. 57, 118 आदि।
5. दे.—मं. सं. एक के पृष्ठ भाग में जड़ी हुई आचार्य मूर्ति।
6. द्रष्टव्य—मं. सं. एक का पृष्ठ भाग, चित्र सं. 77।

240 :: देवगढ़ की जैन कला : एक सांस्कृतिक अध्ययन

केन्द्र स्थापित हो गये थे कि उनमें चिकित्सा और धनुर्विद्या आदि विषयों का उच्चकोटि का शिक्षण दिया जाता था और उनके हजारों विद्यार्थियों में बहुत से विदेशी भी होते थे। इनके अतिरिक्त वन-उपवनों में भी शिक्षा दी जाती थी। साहित्यिक उल्लेखों के अतिरिक्त प्राचीन कला के कुछ ऐसे अवशेष भी मिले हैं, जिनमें गुरुओं और विद्यार्थियों के विविध प्रकार से अंकन द्रष्टव्य हैं। मथुरा के एक वेदिकास्तम्भ पर एक अध्यापक शिष्यों को व्याख्यान देते हुए आलिखित है।

अजन्ता के चित्रों में एक दण्डधारी गुरु पट्टीधारी शिष्यों को पढ़ाते हुए चित्रित हैं। तिलमुट्टि नामक बौद्ध जातक (संख्या 252) में एक शिष्य को गुरु ने अन्य दो शिष्यों की सहायता से इसलिए पीटा था कि उसने एक बुद्धिया के तिल चुराये थे। गान्धारकला के एक प्रतिनिधि शिलापट्ट<sup>1</sup> पर अध्ययनार्थ रथ पर जाते हुए कुमार गौतम अंकित हैं, साथ में उनके सहपाठी भी दावातें और पट्टियाँ लिये हुए जा रहे हैं। भुवनेश्वर के राजरानी मन्दिर में एक पण्डित जी और उनके शिष्यों का चित्रण बड़ा प्रभावोत्पादक वन पड़ा है।<sup>2</sup> देवगढ़ में पाठशाला-दृश्यों की बहुलता है। उनमें गुरु-शिष्यों के अंकन इस तथ्य के पोषक हैं कि तत्कालीन समाज शिक्षा के माध्यम से अपने व्यक्तित्व के समीचीन विकास में संलग्न था।

## 5. लिपि और भाषा

देवगढ़ के प्राचीन अभिलेखों में क्रमशः संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश और हिन्दी भाषाएँ प्रयुक्त हुई हैं। प्राचीनतम अभिलेख अभी तक अंशतः पढ़ा जा सका है।<sup>3</sup> उससे प्रतीत होता है कि उसमें अठारह भाषाओं और अठारह लिपियों का प्रयोग हुआ है। भारत में यह अभिलेख अपने ढंग का अद्वितीय है।<sup>4</sup> उसकी लिपि अशोककालीन ब्राह्मी से भी समानता रखती है।<sup>5</sup> जो लिपियाँ इस शिलापट्ट पर

1. अब यह शिलापट्ट लन्दन के विक्टोरिया अल्बर्ट संग्रहालय में सुरक्षित है।
2. और भी देखिए—प्रो. कृष्णदत्त वाजपेयी : प्राचीन कला में गुरु-शिष्यों का चित्रण : त्रिपथगा (लखनऊ, 1956 ई.), पृ. 1-4।
3. यह जैन धर्मशाला में सुरक्षित है। दे.—चित्र सं. 49।
4. प्रो. कृष्णदत्त वाजपेयी : देवगढ़ की जैन प्रतिमाएँ : अनेकान्त, दिल्ली, वर्ष 15, किरण 1 (अप्रैल, 1962 ई.), पृ. 27।
5. दयाराम साहनी : ए.प्रो. रि. भाग दो—1918 ई., पृ. 10 पर इस अभिलेख के सम्बन्ध में विचार किया गया है—“इस मन्दिर के उत्तरी वरामदे में मुझे एक महत्त्वपूर्ण अभिलिखित शिलापट्ट (3 फुट 2 इंच. × 1 फुट 5 इंच.) मिला है, जो उस अभिलेख के अनुसार ज्ञानशिला कहलाता है। उसमें 18 भाषाओं और 18 लिपियों का प्रयोग हुआ है। यह अभिलेख ‘साषा (खा) नाम्दी’ के द्वारा लिखाया गया था। यह देखना उपयोगी होगा कि प्रथम जिनऋषभदेव की पुत्री ब्राह्मी वर्तमान कालचक्र के सुप्रमा-दृष्यमाकाल में उत्पन्न हुई, उसने 18 विभिन्न वर्णमालाओं का आविष्कार

अंकित हैं, वे तत्कालीन भारत में प्रचलित विभिन्न शैलियों की परिचायक हैं।<sup>1</sup> देवगढ़ के अभिलेखों में से कुछ ब्राह्मी लिपि में और शेष नागरी लिपि में उत्कीर्ण हैं।

## 6. वेशभूषा और प्रसाधन

खजुराहो आदि की भाँति देवगढ़ के कलाकारों ने वेशभूषा और प्रसाधन की विविधता और विशिष्टता की होड़ तो नहीं लगायी पर उन्होंने जो कुछ भी अंकित किया उससे तत्कालीन वेशभूषा और प्रसाधन पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। उनका उद्देश्य आकर्षक वस्त्राभूषणों की अपेक्षा भावपूर्ण छवि अंकित करने का अधिक था। देवगढ़ में भी वेशभूषा आदि की दृष्टि से उत्तरोत्तर विकसित कला के अच्छे नमूने उपलब्ध होते हैं। उनसे हम यह निष्कर्ष निकाल सकते हैं कि ज्यों-ज्यों समय बीता त्यों-त्यों कलाकार का ध्यान सादगी, भावपूर्णता तथा संयम की ओर से क्रमशः हटता गया और आकर्षक वेशभूषा एवं मुद्राओं तथा मोहक भंगिमाओं की ओर आकृष्ट होता गया। गुप्तकालीन वस्त्र झीने अवश्य होते थे परन्तु उन्हें पहनने का ढंग कुछ ऐसा था कि उनसे सौन्दर्य की अभिवृद्धि तो होती ही थी किन्तु भोंडापन या असंयम प्रकट नहीं होता था। परन्तु परवर्ती समय में यह प्रवृत्ति परिलक्षित नहीं होती। वस्त्र अवश्य ही अपेक्षाकृत मोटे दिखाये जाने लगे, किन्तु उनके धारण करने की प्रक्रिया एक दूसरा ही उद्देश्य अभिव्यक्त करती थी; इसे कला का क्रमिक हास ही कहा जाएगा। यह हास देवगढ़ या मध्यवर्ती भारत में ही सीमित न रहा, बल्कि इसने व्यापक रूप भी ले लिया।

कला के इस हास की पृष्ठभूमि अत्यन्त स्पष्ट है। गुप्त साम्राज्य एक बद्धमूल और सुप्रशासित साम्राज्य था। गुप्त सम्राट् कला और साहित्य के ही नहीं, धर्म एवं अध्यात्म के भी प्रेमी थे। फलस्वरूप तत्कालीन कला अध्यात्म से अनुप्राणित रही और उसमें सांसारिकता का उभार कम हो सका। गुर्जर-प्रतिहारों के समय तक यह बात न रही पर चूँकि वे लोग भी धर्म और अध्यात्म को महत्त्व देते थे अतः कलागत संयम और भावपूर्णता बहुत कुछ गुप्तकाल की ही भाँति विद्यमान रही। किन्तु इसके पश्चात् कलचुरियों और चन्देलों के समय कला का हास तीव्रगति से हुआ। कलचुरियों पर मत्तमयूर शाखा के साधुओं का प्रभाव था। ये साधु नैतिकता पर

किया था, जिनमें तुर्की, नागरी, सभी द्राविड़ी भाषाएँ, कन्नड़, फ़ारसी और उड़िया लिपियाँ भी सम्मिलित हैं। इस अभिलेख की प्रथम सात पंक्तियों में वास्तव में विभिन्न वर्णमालाओं के नमूने हैं, जिनमें अधिकांश द्राविड़ तथा मौर्यकालीन ब्राह्मी भी समाविष्ट हैं, यद्यपि तुर्की और फ़ारसी उनमें नहीं हैं।<sup>1</sup>

1. प्रो. कृष्णदत्त वाजपेयी : देवगढ़ की जैन प्रतिमाएँ : अनेकान्त : वर्ष 15, क्रिष्ण 1, पृ. 271।



अधिक बल देते थे। परन्तु शैवों के वाममार्गी साधु जिनसे चन्देल शासक प्रभावित रहे, नैतिकता को कदाचित् शब्दों तक ही सीमित रखते थे। वे स्थूल भौतिकता और वासनाओं से भरा जीवन स्वयं बिताते और जनता को भी अपना पथगामी बनाते थे। उनकी इस प्रवृत्ति ने नौवीं से तेरहवीं शती तक की कला को अधिकाधिक प्रभावित किया, तभी तो चन्देलों के समय तक मूर्तियों से मौलिकता और संयम प्रायः लुप्त हो गये और उनमें अश्लीलता तथा कुत्सित अंकों की प्रधानता हो गयी। कच्छपघातों के समय तक यह दोष अपनी चरमसीमा तक पहुँच गया। इस समय की मूर्तियों में मांसलता, अस्वाभाविक किन्तु कामोत्तेजक लोच, सम्भोगों के विविध आसन आदि अत्यन्त विकृत रूप में प्रस्तुत किये जाने लगे। इस समय की और गुप्तकाल की कला में एक बहुत बड़ा अन्तर स्पष्ट हो गया है। देवगढ़ में भी कला के इस क्रमिक हास को देखा जा सकता है। जहाँ तक वेशभूषा और प्रसाधन का प्रश्न है, वह कला में सांसारिकता की वृद्धि के साथ समृद्ध और आकर्षक होती गयी।

देवगढ़ में पुरुषवर्ग की वेशभूषा अधिक भड़कीली नहीं थी। पुरुषवर्ग की वेशभूषा के अध्ययन के लिए हम उसे साधु और गृहस्थ के अवान्तर भेदों के अन्तर्गत प्रस्तुत करेंगे।

## 1. साधु-संस्था

(अ) दिगम्बर साधु : दिगम्बर साधु कोई वस्त्र नहीं पहनते थे। दिक् (दिशाएँ) ही उनके 'अम्बर' (वस्त्र) होते थे,<sup>1</sup> इसलिए उन्हें 'दिगम्बर'<sup>2</sup> साधु कहा जाता था। साधुओं के दिगम्बर (गन्) रहने की प्रथा हजारों वर्ष प्राचीन है और आज भी विद्यमान है। दिगम्बर साधु जीवों की रक्षा के लिए पीछी रखते थे।<sup>3</sup> मल-मूत्र-त्याग के पश्चात् शुद्धि के लिए जल रखने को वे कमण्डलु भी रखते थे।<sup>4</sup> ये साधु उक्त दो उपकरणों के अतिरिक्त रंचमात्र भी परिग्रह नहीं रखते थे। यहाँ तक कि वे अपने भोजन के प्रति भी चिन्तित नहीं होते थे।

(ब) भट्टारक : जैसा कि कहा जा चुका है, मुनियों का एक रूपान्तर और भी था, जिसे 'भट्टारक' कहते थे। वे आजकल के ब्रह्मचारियों की भाँति दो वस्त्र पहनते थे, एक अधोवस्त्र (धोती) और दूसरा उत्तरीय। इनके गले में एक माला भी पड़ी रहती थी, जिससे वे जपमाला का काम लेते होंगे।

1. द्रष्टव्य—व. शीतलप्रसाद : वृहत् जैनशब्दार्णव : द्वितीय खण्ड (सूत 1934), पृ. 492-93।

2. 'ग्नोऽवासा दिगम्बरे' द्रष्टव्य—अमरकोष, 3-1-39।

3. दे.—विभिन्न पाठशाला—दृश्य तथा चित्र सं. 77 से 83 और 85।

4. वही।

(स) ऐलक : ऐलक<sup>1</sup> केवल 'कोपीन' पहनते थे<sup>2</sup> और साधु की भाँति पीछी और कमण्डलु रखते थे।<sup>3</sup>

(द) शुल्लक : शुल्लक,<sup>4</sup> जिनकी मूर्तियाँ देवगढ़ में नहीं मिली हैं, कोपीन के अतिरिक्त 'खण्डवस्त्र' (उत्तरीय) भी रखते थे। ये भी पीछी-कमण्डलु रखते थे।<sup>5</sup>

(इ) आर्यिका : आर्यिकाओं की वेशभूषा संयत और सामान्य थी। साड़ी और उपरिवस्त्र के अतिरिक्त पीछे कमण्डलु भी रखती थीं (दे. चित्र संख्या 92)।

## 2. गृहस्थ-संस्था

(अ) पुरुष : पुरुषवर्ग धोती पहनता था।<sup>6</sup> आश्चर्य है कि देवगढ़ में कमर से ऊपर के किसी वस्त्र का अंकन एक भी पुरुषमूर्ति में उपलब्ध नहीं हुआ है। कुछ ब्रह्मचारी अवश्य ही तनीदार दोहरी छाती की अँगरखी पहनते थे।<sup>7</sup> इस अँगरखी की बनावट इस प्रकार की आधुनिक अँगरखी से इतनी अधिक समानता रखती है कि सम्बन्धित मूर्ति की प्राचीनता पर सन्देह होने लगता है। कुछ पुरुष तुर्की टोपी लगाते थे।<sup>8</sup> एक ऐसी पुरुषाकृति भी अंकित है, जो फुलपैण्ट के जेवों में हाथ डाले हुए पुरुष के समान प्रतीत होती है।<sup>9</sup> इसी प्रकार एक पुरुष कन्धे पर झोली डाले दिखाया गया है।<sup>10</sup> जनेऊ (यज्ञोपवीत) पहनने का रिवाज था (दे. चित्र संख्या 98)।

पुरुष प्रायः वे ही आभूषण धारण करते थे जो स्त्रियाँ धारण करती थीं। यह बात आधुनिक परिप्रेक्ष्य में आश्चर्यजनक प्रतीत होती है। उनकी केशसज्जा भी स्त्रियों के समान ही होती थी। प्रायः सभी पुरुष क्षौरकर्म कराते थे। यद्यपि इस कार्य में संलग्न कृति का अंकन यहाँ कहीं नहीं हुआ है। कुछ पुरुष मुगलों जैसी दाढ़ी

1. ग्यारहवीं प्रतिमाधारी श्रावक, शुल्लक से श्रेष्ठ।

2. द्रष्टव्य—बृहत् जैनशब्दार्णव : भाग दो, पृ. 407।

3. आचार्य वसुनन्दि : वसुनन्दि श्रावकाचार (काशी, 1952 ई.), भूमिका, पृ. 63-64 तथा गाथा 311।

4. वही, भूमिका, पृ. 62-63 तथा गाथा 302-10।

5. बृहत् जैन शब्दार्णव : द्वितीय खण्ड, पृ. 434।

6. दे.—चित्र सं. 52, 53, 60, 74, 104, 107, 119, 121, 122 आदि।

7. दे.—मं. सं. 10 के उत्तरी स्तम्भ पर (पूर्व की ओर) तथा चित्र सं. 94।

8. दे.—मं. सं. छह और पन्द्रह में स्थित मूर्तियाँ। और भी दे.—चित्र सं. 52 और 53 में चेंबरधारी।

9. मं. सं. 11 के महामण्डप के प्रवेशद्वार की देहरी पर।

10. मं. सं. एक के मण्डप में। दे.—चित्र सं. 80।

रखते थे।<sup>1</sup> एक स्त्री रतिक्रीड़ा के समय अपने प्रेमी की दाढ़ी से खेलती हुई अंकित की गयी है।<sup>2</sup>

देव तथा सम्भ्रान्तवर्ग के लोग मस्तक पर मुकुट बाँधते थे।<sup>3</sup> ललाट पर तिलक लगाने का प्रचलन था।<sup>4</sup> कानों में कुण्डल, कर्णावितंस, कर्णिका आदि तथा गले में विभिन्न प्रकार के हार पहने जाते थे। केयूर, कटिसूत्र और पायलों का भी प्रचलन था।<sup>5</sup> चूड़ियाँ पहनने का प्रचलन पुरुषों में नहीं था।

**(ब) स्त्रीवर्ग :** यहाँ स्त्रियाँ अधोवस्त्र के रूप में साड़ी पहनती थीं। उसे आजकल की भाँति ऊपर तक लाकर ओढ़ती नहीं थीं, बल्कि एक विशेष ढंग से कमर के नीचे ही लपेटती थीं।<sup>6</sup> देवगढ़ की किसी भी कृति में स्त्रियों को अवगुण्ठन धारण किये अंकित नहीं किया गया है। कंचुकी पहनने की प्रथा थी।<sup>7</sup> स्तनपट्टिका का प्रयोग प्रायः कम मिला है।<sup>8</sup> उत्तरीय प्रायः सभी स्त्रियाँ रखती थी। उसका उद्देश्य कमर से ऊपर का भाग ढकने का रहा होगा, परन्तु इस उद्देश्य की पूर्ति कदाचित् ही कोई स्त्री करती थी। उत्तरीय को गले या उसके थोड़े नीचे से, पीछे की ओर से निकालकर कुहनियों के ऊपर से सामने लाया जाता था, तब उसके दोनों छोर एक आकर्षक लहरिया बनाते हुए हवा में लहराते रहते थे।<sup>9</sup> उत्तरीय का इस प्रकार का प्रयोग आज भी पंजाब और उसके आसपास के प्रदेश में लड़कियों द्वारा किया जाता है।

मस्तक पर, देवगढ़ में ओढ़नी आदि कुछ भी नहीं दिखायी गयी। इसका कारण

1. ऐसे मूर्त्यंकों के लिए दे. -मं. सं. एक का पृष्ठ भाग तथा विभिन्न मानस्तम्भ। मं.सं. 12 के प्रदक्षिणापथ के प्रवेश-द्वार के दायें पक्ष पर भी इस प्रकार की दाढ़ीवाले पुरुष का अंकन हुआ है। धर्मशाला में प्रदर्शित चक्रेश्वरी (चित्र 99) के पादपीठ पर (दायें) दाढ़ी वाला श्रावक विनयावनत है।
2. दे.—जैन चहारदीवागी में जड़ी हुई मूर्तिमाला। और भी दे.—चित्र सं. 121। मं. सं. चार के प्रवेश-द्वार पर (दायें) भी एक युवती पुरुष की दाढ़ी सहला रही है। दे.—चित्र सं. 114।
3. दे.—चित्र सं. 57, 72, 74, 107, 108, 110, 113, 119 आदि।
4. दे.—मं. सं. तीन में स्थित तीर्थंकर मूर्ति के पार्श्व में निर्मित इन्द्र के ललाट पर।
5. दे.—चित्र सं. 72, 74, 98, 107, 108, 113, 114, 119, 121, 122 आदि।
6. दे.—चित्र सं. 19-21, 33, 35, 86, 87, 93, 95-97, 101, 102, 104-108, 110-112, 114, 115, 117, 119, 121 आदि।
7. दे.—चित्र सं. 93, 99, 105, 106, 117 आदि।
8. मं. सं. एक के मण्डप में एक मूर्तिफलक पर एक ऐसी श्राविका का अंकन है जो 'स्तनपट्टिका' बाँधे हुए है। उसकी ग्रन्थि पीले दीख पड़ती है। कुछ पाठशाला दृश्यों में भी ऐसी श्राविकाएँ देखी जा सकती हैं।
9. दे.—चित्र सं. 19-21, 33, 35, 86, 87, 93, 103-106, 108, 117, 119, 121।

उस समय कदाचित् परंपरा का अभाव ही हो सकता है। परन्तु उनकी केशसज्जा इतनी सुन्दर और कलापूर्ण होती थी कि ओढ़नी का मस्तक पर न पड़ा रहना ही अधिक सुन्दर दिखता है। कुछ स्त्रियाँ पुरुषों की भाँति अपने सिर पर टोपियाँ लगाये हुए अंकित की गयी हैं। ये टोपियाँ दो प्रकार की प्राप्त होती हैं—एक का आकार तुर्की टोपी के समान है<sup>1</sup> और दूसरी का वर्तमान सैनिक की टोपी के समान।<sup>2</sup> कुछ स्त्रियाँ अपने ललाट पर तिलक भी लगाती थीं।<sup>3</sup>

देवी मूर्तियों के मस्तक पर मणिजटित मुकुट दिखाये गये हैं।<sup>4</sup> मुकुट को यदि सूक्ष्मता से विचार किया जाये तो आभूषणों का अंग तो कहेंगे ही, वस्त्र और केशसज्जा का अंग भी कह सकते हैं। देवगढ़ की स्त्रियाँ केशसज्जा में बहुत निपुण थीं। उनके जूड़े अनेक आकर्षक शैलियों में बँधे हुए देखे जा सकते हैं।<sup>5</sup> वे आजकल की भाँति गूँथकर लटकती हुई लम्बी चोटी पसन्द नहीं करती थीं। खुली हुई लम्बी चोटी भी नहीं रखी जाती थी। उसे विभिन्न शैलियों में लपेटकर गूँथा जाता था। कुछ स्त्रियाँ चोटी गूँथने के कार्य में विशेष अभिरुचि दिखाती थीं। उनकी चोटी कभी-कभी इतनी बड़ी (लम्बी नहीं) होती थी कि उनके द्वारा कृत्रिम चोटियों के प्रयोग किये जाने का सन्देह होता है। चोटी गूँथने के लिए वे दर्पण का प्रयोग करती थीं।<sup>6</sup>

देवगढ़ की स्त्रियाँ आभूषणों के प्रति उदासीन न थीं, परन्तु खजुराहों आदि की भाँति आसक्त भी नहीं थीं। मस्तक पर आभूषण प्रायः नहीं पहना जाता था। कुछ उत्तरवर्ती मूर्तियों के सीमन्त में मारवाड़ी बोरला<sup>7</sup> जैसा कोई आभूषण यदा-कदा दिख जाता है। कभी-कभी ललाटिका भी पहनी जाती थीं,<sup>8</sup> उसे दर्पण की सहायता से सँवारा जाता था।<sup>9</sup>

मुकुट का प्रचार जन-साधारण में नहीं था। उसे या तो देवियाँ ही बाँधती थीं अथवा 'तीर्थकर की माता'<sup>10</sup> और साम्राज्ञी,<sup>11</sup> आदि महत्त्वपूर्ण स्त्रियाँ। यहाँ मुकुटों

1. दे.—चित्र सं. 95।

2. देखिए—चित्र सं. 98, 101, 102, 103, 104, 105, 108 आदि।

3. दे.—मं. सं. चार के प्रवेश-द्वार के बायें पक्ष पर देवी मूर्ति।

4. दे.—चित्र सं. 19-21, 33, 76, 100, 107, 111, 112 आदि।

5. दे.—चित्र सं. 114, 115, 117, 119, 121 आदि।

6. इस तथ्य की पुष्टि चित्र सं. 116 और 117 से हो सकती है। वहाँ दर्पण का उपयोग ओष्ठ-प्रसाधन (चित्र 117) और ललाटिका को सँभालने के हेतु किया गया है (चित्र 116)।

7. दे.—चित्र सं. 20, 99, 100 आदि।

8-9. दे.—चित्र सं. 116।

10. दे.—चित्र सं. 93 तथा मं. सं. चार और तीस में स्थित मूर्तियाँ।

11. दे.—जैन चहारदीवारी की उत्तरी वर्हिर्भिन्ति में जड़ी हुई साम्राज्ञी-मूर्ति।

के आकार भिन्न-भिन्न हैं।<sup>1</sup>

कानों में कुण्डल और कर्णफूल पहने जाते थे।<sup>2</sup> हार और अर्धहार प्रायः वैसे ही होते थे,<sup>3</sup> जैसे खजुराहो में मिलते हैं। कुछ स्त्रियाँ कण्ठश्री (टुसी) भी पहनती थीं,<sup>4</sup> जिसका प्रचलन बुन्देलखण्ड में अब भी दिखाई पड़ता है। स्तनहार पहनने की परम्परा भी देवगढ़ में रही है,<sup>5</sup> इसके मध्य से मोतियों की एक लड़ी स्तनों के बीच से होती हुई नाभिपर्यन्त लटकती थी। मोहनमाला का यहाँ पर्याप्त प्रचार था।<sup>6</sup>

बाजूबन्द (केयूर) प्रायः सभी स्त्रियाँ पहनती थीं,<sup>7</sup> पर वह प्रारम्भ में एक चौड़ी चूड़ी के आकार में बनता था और पीछे उसमें जड़ाव आदि मिलने लगता है। हाथों में चूड़ियाँ एक या दो से लेकर बीस-बीस तक पहनी जाती थीं।<sup>8</sup> कंकण भी पहने जाते थे।<sup>9</sup> बघमा के चूरा, बोंहटा, हथफूल आदि पहनने का पर्याप्त प्रचलन था।<sup>10</sup>

आरसी और अँगूठियाँ पहनने का प्रचार बहुत था।<sup>11</sup> वे तर्जनी, मध्यमा आदि के अतिरिक्त अंगुष्ठ में भी पहनी जाती थीं।

यहाँ की सभी स्त्रियाँ कटिसूत्र तथा मेखला धारण करती थीं।<sup>12</sup> वे कभी-कभी

1. दे.—चित्र सं. 19-21, 33, 76, 93, 100, 107, 111, 112 आदि।

2. दे.—चित्र सं. 19-21, 33, 93, 95, 97, 99 से 112 तक, 117 आदि।

3. दे.—चित्र सं. 19-21, 98, 100, 103, 106, 108 आदि।

4. दे.—चित्र सं. 19, 20, 95, 99, 100, 107, 122 आदि।

5. दे.—चित्र सं. 19, 95, 96, 100 आदि।

6. दे.—चित्र सं. 19, 20, 21 आदि।

7. दे.—चित्र सं. 19, 95, 96, 97, 99, 100 आदि।

8-9 दे.—मं. सं. चार के प्रवेश-द्वार की विभिन्न मूर्तियाँ, मं. सं. 12 के गर्भगृह की अश्विकामूर्तियाँ, मं. सं. चार में जड़ी तीर्थकर की माता की मूर्ति आदि तथा धर्मशाला में स्थित और जैन चहारदीवारी में जड़ी विभिन्न देवी-मूर्तियाँ। और भी दे.—चित्र सं. 19, 20, 21, 33, 93, 95, 96, 97, 99, 105, 106, 111, 117।

10. दे.—मं. सं. 12 के गर्भगृह के प्रवेश-द्वार के सिरदल पर अंकित सरस्वती और लक्ष्मी की मूर्तियाँ तथा वहीं अन्तराल की मढ़िया में स्थित सरस्वती मूर्ति। और भी दे.—चित्र सं. 19, 20, 95 आदि।

11. मं. सं. 12 के अन्तराल की मढ़िया में स्थित सरस्वती (चित्र 95) तथा मं. सं. 19 में स्थित सिरहीन देवी (चित्र 97) अपने दायें हाथों में आरसी धारण किये हैं। मं. सं. 12 के गर्भगृह के प्रवेश-द्वार के दायें पक्ष पर प्रतिहारी के दायें हाथ के अँगूठे में भी 'आरसी' देखी जा सकती है। इसी मन्दिर के प्रदक्षिणापथ के प्रवेश-द्वार पर (दायें) गंगा अपनी कनिष्ठा में अँगूठी पहने है। पञ्चावती (चित्र सं. 106) और चक्रेश्वरी (चित्र सं. 99) आदि मूर्तियों में भी अँगूठी प्राप्त होती है।

12. दे.—चित्र सं. 19-21, 33, 93, 95, 97, 103-106, 108, 122 आदि।

बहुत चौड़ी भी प्राप्त होती हैं।<sup>1</sup> उनमें कभी-कभी आजकल की भाँति झालर और घुँघरू भी लटकते हुए देखे जा सकते हैं।<sup>2</sup> पैरों में पाजेब और पायल, दोनों पहनी जाती थी।<sup>3</sup>

पायल कभी-कभी बहुत चौड़ी होती थी और उसमें (नूपुर) घुँघरू गुँथे होते थे। पाँवपोश पहनने की भी प्रथा थी।<sup>4</sup>

कुछ आभूषण, जिनमें नथ और विछुड़ी आदि उल्लेखनीय हैं, देवगढ़ में कहीं, नहीं दिखे। साध्वियाँ किसी प्रकार का कोई भी आभूषण नहीं पहनती थीं।

## 7. आमोद-प्रमोद

### अनुष्ठान और समारोह

आमोद-प्रमोद को देवगढ़ में पर्याप्त महत्त्व दिया जाता था। वहाँ एतदर्थ अनेक साधन उपलब्ध थे। समय-समय पर आयोजित धार्मिक अनुष्ठान और सामाजिक समारोह मनोरंजन की अच्छी सामग्री जुटा देते थे।

### संगीत और नृत्य

गायन, वादन और नृत्य में यहाँ के समाज की विशेष अभिरुचि थी।<sup>5</sup> शिलापट्टों, तोरणों, द्वारपक्षों और स्तम्भों आदि पर अनेक मण्डलियों के बीसों दृश्य अंकित हुए हैं। उनसे इस तथ्य की पुष्टि होती है कि संगीत कला का उपयोग देवगढ़ में न केवल आमोद-प्रमोद के लिए ही होता था, अपितु भक्ति-प्रदर्शन और हर्षोल्लास के अवसरों पर भी सफल आयोजन किया जाता था। संगीत मण्डलियों में पुरुष और स्त्रियाँ समान रूप से भाग लेते थे। कभी स्त्रियाँ नृत्य करतीं तो पुरुष साथ देते थे और कभी पुरुष नृत्य करते तो स्त्रियाँ उनका साथ देती थीं। संगीत की लय में खोये हुए स्त्री-पुरुष निश्चित ही दर्शक को मन्त्रमुग्ध बना देते थे। नृत्यकार पैरों में घुँघरू बाँधते थे और हाथों को विभिन्न मुद्राओं में संचालित करते थे।

1. दे.—चित्र सं. 21, 93, 96, 97, 108, 122 आदि।

2. दे.—चित्र सं. 19, 21, 33, 93, 103-105, 122 आदि।

3. दे.—चित्र सं. 19-20, 95, 96, 97, 98, 99, 100, 104, 105 आदि।

4. दे.—चित्र सं. 19, 20 आदि।

5. दे.—चित्र सं. 16, 20, 22, 24, 35, 57, 109, 118 तथा जैन चहारदीवारी, विभिन्न मन्दिरों के प्रवेश-द्वार आदि। मं. सं. 24 की पश्चिमी वहिर्भित्ति में धरणेन्द्र-पद्यावती का एक ऐसा मूर्ति-फलक जड़ा हुआ है, जिसके कि पादपीठ में छह श्राविकाएँ भक्ति विभोर होकर नृत्य कर रही हैं।

## वाद्ययन्त्र

वाद्य अनेक प्रकार के होते थे—जिनमें झाँझ, मँजीरा, मृदंग, ढोलक, वेणु, वीणा, इकतारा, तुरही (विगुल), तमूरा, घण्टा, शंख आदि मुख्य हैं। कुछ स्त्रियाँ और पुरुष हाथ से भी ताल देते थे। खजुराहो आदि विभिन्न स्थानों की भाँति यहाँ भी अनेक प्रकार के वाद्यों का प्रयोग होता था।

## अन्य साधन

कुछ लोग हाथी की पीठ पर उछल-कूद करते हुए अंकित किये गये हैं।<sup>1</sup> उस समय कदाचित् इस प्रकार का कोई खेल होता था। एक मनुष्य व्याघ्र पर आसीन दिखाया गया है।<sup>2</sup> इस प्रदेश में व्याघ्र अधिक होते थे। अतः उसे पालतू व्याघ्र माना जा सकता है। इसी प्रकार एक मनुष्य वृक्ष पर चढ़ता हुआ चित्रित है।<sup>3</sup> वृक्ष पर फल नहीं दिखाये गये हैं। अतः उसका उद्देश्य या तो मनोरंजन हो सकता है या किसी आक्रान्ता आदि से अपनी रक्षा। तत्कालीन मानव आमोद-प्रमोद के लिए, यदा-कदा मकर पर भी सवारी करता था।<sup>4</sup>

## 8. आर्थिक जीवन

यदि मन्दिरों और मूर्तियों की विपुलता, मूर्तियों में चित्रित वेशभूषा, नृत्य और संगीत की मण्डलियों तथा समय-समय पर आयोजित होनेवाले प्रतिष्ठा आदि समारोहों को ही मापदण्ड माना जाए तो यह निःसंकोच कहा जा सकता है कि देवगढ़ का समाज आर्थिक दृष्टि से पर्याप्त सम्पन्न था। यद्यपि राजनीतिक दृष्टि से बहुत महत्व का केन्द्र न होने से यह स्थान अधिक समृद्ध रहा होगा, ऐसा प्रतीत नहीं होता। पुनरपि इसकी गणना पवाया (पचावती), एरन (ऐरिकिण) और विदिशा-जैसे कला समृद्ध नगरों में की जाती थी। क्योंकि यह एक बड़े राजमार्ग पर स्थित था।

और गुप्तकाल में इसका सम्बन्ध उत्तर में पवाया से, दक्षिण में एरन, विदिशा, उदयगिरि और साँची से, पश्चिम तथा दक्षिण-पश्चिम में उज्जैन और बाघ से तथा झाँसी और कानपुर होकर प्रयाग, काशी और पाटलिपुत्र (पटना) से था।<sup>5</sup> इसकी

1. दे.—मं. सं. 11 के महामण्डप का प्रवेश-द्वार, तथा मं.सं. 27 में स्थित चौबीस पट्ट।

2. दे.—मं.सं. 11 के महामण्डप का प्रवेश-द्वार।

3. दे.—मं. सं. 28 का प्रवेश-द्वार।

4. दे.—मं. सं. 18 के महामण्डप के प्रवेश-द्वार की देहरी पर।

5. पं. माधव स्वरूप वत्स : दो गुप्ता टेम्पल एट देवगढ़ : (मेम्बरायर्स ऑफ़ दि आर्कियालाजिकल सर्वे ऑफ़ इण्डिया, संख्या 70) (दिल्ली, 1952), पृ. 11।

समृद्धि का एक कारण और भी था, वह यह कि यहाँ बड़े पैमाने पर मूर्तियों का निर्माण होता था। समीपवर्ती कलाकेन्द्रों—दूधई, चाँदपुर, जहाजपुर, आमनचार, सेरोन, बानपुर, ललितपुर आदि को मूर्तियों की अधिकांश पूर्ति कदाचित् देवगढ़ से ही की जाती थी।

## 9. निष्कर्ष

समाज के विभिन्न वर्गों, धर्मपरायणता, शिक्षा, लिपि और भाषा, वेशभूषा तथा प्रसाधन, आमोद-प्रमोद तथा आर्थिक स्थिति के सूक्ष्म अध्ययन से यह निष्कर्ष निकलता है :

1. देवगढ़ की जैन कला में चित्रित समाज सभ्य, सरल और शान्त था।
2. उसकी धार्मिक उदारता और निष्ठा सराहनीय थी।
3. धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष नामक चारों पुरुषार्थों का यथोचित समन्वय यहाँ के निर्जीव पाषाणों में जीवन्त कर दिया गया प्रतीत होता है।
4. भारतीय संस्कृति की पवित्रता यहाँ अपनी पूर्णता को प्राप्त हुई है।



## 8

# अभिलेख

### 1. प्रारम्भिक

प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति, कला और पुरातत्त्व के अध्ययन में देवगढ़ स्मारकों और मूर्तियों द्वारा ही नहीं अपितु अभिलेखों द्वारा भी सहायक है। यहाँ लगभग 300 छोटे-बड़े अभिलेख प्राप्त हुए हैं। उनका विविध दृष्टियों से अध्ययन किया जाय, इसके पूर्व सामान्य दृष्टि से अभिलेखों का महत्त्व जान लेना उपयोगी होगा। इतिहास के स्रोतों में साहित्य के पश्चात् अभिलेखों का ही महत्त्व सर्वाधिक है। विभिन्न राजवंशीय अभिलेखों में निर्दिष्ट नगर, सीमा, मार्ग तथा विजययात्रा आदि के उल्लेखों से भौगोलिक ज्ञान की वृद्धि होती है। शासक तथा गुरु आदि की परम्परा का ज्ञान भी अभिलेखों से होता है। शासनप्रणाली और सामाजिक व्यवस्था पर प्रकाश पड़ता है। धार्मिक जीवन की झाँकी मिलती है। आध्यात्मिक प्रगति का परिचय तो मिलता ही है, साथ ही अभिलेखों से आर्थिक स्थिति का विस्तृत ज्ञान भी प्राप्त होता है।

साहित्य के विभिन्न अंगों में अब अभिलेखों को भी एक माना जाने लगा है। उनमें कभी-कभी अत्यन्त उच्चकोटि का काव्यसौन्दर्य भी दिखाई पड़ता है। अभिलेखों में प्रयुक्त लिपियों और भाषाओं की विविधता तथा क्रमिक विकास के मूल्यांकन से लिपिशास्त्र और भाषाशास्त्र के लेखन में अनिवार्य सहायता मिलती है। अभिलेखों में तिथियाँ और संवत् उत्कीर्ण कराने की परम्परा भी रही है, इससे कालगणना में महत्त्वपूर्ण सुविधा होती है।

### 2. अभिलेखों के स्थान और उद्देश्य

अभिलेख, उद्देश्य के अनुकूल भिन्न-भिन्न स्थानों पर उत्कीर्ण कराये जाते थे। राजनीतिक उद्देश्यों की पूर्ति के लिए राजधानी, जयस्कन्धावार, राज्यों के सीमान्त और जयस्तम्भ आदि स्थान चुने जाते थे। प्रशासनिक उद्देश्यों से उत्कीर्ण किये

जानेवाले अभिलेखों के स्थान राजधानी, प्रशासनिक इकाइयों के मुख्य नगर, राजनीतिक महत्त्व के केन्द्र और सामाजिक या सार्वजनिक समारोहों के स्थान होते थे। धार्मिक दृष्टि से उत्कीर्ण कराये गये अभिलेख मन्दिरों, मूर्तियों, स्तम्भों, शिलाखण्डों और धातु-पट्टिकाओं आदि पर मिले हैं, जो तीर्थ-स्थान, सांस्कृतिक-केन्द्र और समारोह-स्थल आदि से सम्बन्ध रखते हैं।

कुछ अभिलेखों का उद्देश्य वैयक्तिक होता था, जिनमें किसी शासक, आचार्य और कवि आदि की प्रशस्ति, दानघोषणा या स्मृति आदि का उल्लेख रहता है। ऐसे अभिलेख सम्बद्ध व्यक्ति के निवास, शैलगृह, राजधानी, जयस्कन्धावार या सार्वजनिक महत्त्व के स्थानों पर उत्कीर्ण कराये जाते थे।

### 3. अभिलेखों के अवसर

अभिलेख दानघोषणा, धर्मोत्सव, विजययात्रा, सामाजिक कार्यक्रम और व्यापारिक तथा राजनीतिक घटनाओं के अवसरों पर उत्कीर्ण कराये जाते थे। कभी-कभी मन्दिर, भवन, स्तम्भ, कूप और तड़ाग आदि के निर्माण या जीर्णोद्धार के समय भी अभिलेख उत्कीर्ण कराये जाते थे।

### 4. देवगढ़ के अभिलेखों का अध्ययन

प्रस्तुत भूमिका के परिप्रेक्ष्य में देवगढ़ के अभिलेखों का अध्ययन करेंगे और यह भी देखेंगे कि प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति, कला और पुरातत्त्व के लिए उनका क्या योगदान है।

#### (अ) बाह्य पक्ष

1. स्थान, उद्देश्य और अवसर : अधिकांश अभिलेख भित्तियों, स्तम्भों और मूर्तियों पर उत्कीर्ण हैं, कुछ शिलाओं पर भी अंकित हैं और कुछ (जैनेतर) वेत्रवती के तट पर निर्मित गुफाओं में और पर्वतशिलाओं पर प्राप्त हुए हैं। चूँकि सभी का उद्देश्य धार्मिक था इसलिए वे सभी मन्दिरों में या उनके आसपास ही उत्कीर्ण कराये गये हैं। पर्वतशिलाओं पर प्राप्त कुछ अभिलेखों का उद्देश्य धार्मिक नहीं है। अधिकांश अभिलेख दान के अवसर पर उत्कीर्ण कराये गये हैं। कुछ मन्दिरों और स्तम्भों के निर्माण और कुछ उनके जीर्णोद्धार तथा कुछ धार्मिक उत्सवों के अवसर पर अंकित किये गये हैं।

2. वर्गीकरण : देवगढ़ के अभिलेखों को मुख्य रूप से चार वर्गों में विभक्त किया जा सकता है : 1. दानसूचक, 2. स्तुतिपरक, 3. स्मारक और 4. अन्य।

252 :: देवगढ़ की जैन कला : एक सांस्कृतिक अध्ययन

1. **दानसूचक** : देवगढ़ में दानसूचक अभिलेख ही अधिकतर प्राप्त हुए हैं। ऐसे अभिलेख अत्यन्त संक्षिप्त हैं और कभी-कभी तो वे एक शब्द (दाता का नाम) तक ही सीमित होते हैं। उनमें दाता का नाम और उससे सम्बद्ध कुछ व्यक्तियों के नाम दिये जाते हैं, जिनसे तत्कालीन नामकरण की विधा पर प्रकाश भले ही पड़ता हो पर इतिहास आदि के क्षेत्र में कोई विशेष सहायता नहीं मिलती।

2. **स्तुतिपरक** : यहाँ कुछ ऐसे अभिलेख भी प्राप्त हुए हैं, जिन्हें स्तुतिपरक कहा जा सकता है। ऐसे अभिलेखों में मं. सं. 10 (चित्र 14) स्तम्भलेखों का उल्लेख सर्वप्रथम करना चाहिए। इस मन्दिर में तीन लघुस्तम्भों पर चारों ओर मध्यकालीन नागरी लिपि में उत्कीर्ण अभिलेखों में ऋषभनाथ, शान्तिनाथ, महावीर आदि तीर्थंकरों की स्तुति गायी गयी है। वे संस्कृत के सुन्दर पद्यों में लिखे गये हैं। अक्षर सुडौल हैं, पर कहीं-कहीं टूट गये हैं। इन स्तम्भों का पाषाण सफेद बलुआ है, जिससे उनपर अंकित अभिलेखों की स्थिति उत्तरोत्तर शोचनीय होती जा रही है।

3. **स्मारक** : यहाँ स्मारक अभिलेख बहुत हैं। दानसूचक अभिलेखों की भाँति कभी-कभी वे भी बहुत संक्षिप्त होते हैं। इनमें मन्दिरों के निर्माण की सूचना देनेवाले, एक अपवादस्वरूप लेख को छोड़कर कोई अभिलेख नहीं है। केवल एक अभिलेख<sup>1</sup> में किसी शान्तिनाथ-चैत्यालय के निर्माण की सूचना है, किन्तु अब यह चैत्यालय पूर्णतया नष्ट हो चुका है। यह कदाचित् वही मन्दिर होगा, जिसके अवशेष हमने मं. सं. एक के पास खोज निकाले हैं।<sup>2</sup> मं. सं. 5 के पीछे प्राप्त अवशेषों में भी इस मन्दिर का अस्तित्व माना जा सकता है।

मन्दिरों के जीर्णोद्धार की सूचना देनेवाले कई अभिलेख मिले हैं। इनमें से मं. सं. 5 का एक<sup>3</sup> और मं. सं. 12 के दो अभिलेख महत्त्वपूर्ण हैं। मं. सं. 12 का एक अभिलेख<sup>4</sup> संवत् 919 (862 ई.) का है। उसमें लिखा है कि परम भट्टारक महाराजाधिराज भोजदेव के महासामन्त विष्णुराम पचिन्द के राज्य में कमलदेवाचार्य के शिष्य श्रीदेव ने इस स्तम्भ का निर्माण कराया। यह स्तम्भ, जैसा कि कहा जा चुका है<sup>5</sup> पूर्ववर्ती स्तम्भ के नष्ट हो जाने पर स्थापित किया गया होगा। इसमें उल्लिखित नाम विशेष महत्त्व के हैं जिसपर आगे प्रकाश डाला जाएगा।

1. अब जैन धर्मशाला में प्रदर्शित। अभिलेख पाठ के लिए दे.—परि. दो, अभि. क्र. पाँच।
2. दे.—रेखाचित्र संख्या 37।
3. दे.—परि. एक, अभि. क्र. 37।
4. दे.—परि. दो, अभि. क्र. एक।
5. दे. अ. तीन में सम्बन्धित मन्दिर स्थापत्य का वर्णन।

इसी (संख्या 12) मन्दिर का दूसरा अभिलेख,<sup>1</sup> संवत् 1051 (994 ई.) एक द्वार के पुनर्निर्माण की सूचना देता है।

मं. सं. एक के पीछे की ओर स्थित एक स्तम्भ पर किसी कल्याण सिंह का नाम अंकित है, जिसने संवत् 1113 (1056 ई.) में उस स्तम्भ का निर्माण कराया था।<sup>2</sup> मं. सं. 18 के सामने विद्यमान दो (संख्या 15 और 16) में से एक मानस्तम्भ (दायें, संख्या 15) पर उत्कीर्ण है कि संवत् 1121 (1064 ई.) में आचार्य यशस्कीर्ति ने राज्य-पाल मठ (मं. सं. 18 का नाम) के सामने दो स्तम्भ (संख्या 15 और 16) निर्मित कराये थे।<sup>3</sup> उपाध्याय परमेष्ठी की एक मूर्ति<sup>4</sup> पर संवत् 1343 (1276 ई.) में उसके निर्माण का वर्णन है।<sup>5</sup> यहाँ के एक अभिलेख,<sup>6</sup> जो अब राष्ट्रीय संग्रहालय, दिल्ली में सुरक्षित है, में बहुत विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है कि संवत् 1481 (1424 ई.) में एक भट्टारक ने शुभचन्द्र की आज्ञा से पद्मनन्दी और दमवसन्त की मूर्तियाँ समर्पित की थीं।

संवत् 1493 (1436 ई.) का एक अभिलेख<sup>7</sup> देवगढ़ की ही जैन धर्मशाला में सुरक्षित है, जिसमें उक्त शान्तिनाथ चैत्यालय के निर्माण का उल्लेख है। मं. सं. पाँच के संवत् 1503 (1446 ई.) के एक अभिलेख<sup>8</sup> में उत्कीर्ण है कि शाह अलपखों के शासनकाल में इस मन्दिर का जीर्णोद्धार किया गया। इसमें शाह अलपखों का उल्लेख महाराजाधिराज आलम्भक के नाम से हुआ है।

मं. सं. 7 विद्यमान चरणपादुका<sup>9</sup> पर संवत् 1695 (1638 ई.) में उनके समर्पित किये जाने का वर्णन है।<sup>10</sup> उसमें महाराजाधिराज उदयसिंह और उनकी दो रानियों के साथ पालीगढ़ का भी उल्लेख है।

**4. अन्य :** अन्य अभिलेखों में समय-समय पर तीर्थयात्रियों द्वारा विभिन्न स्थानों पर उत्कीर्ण किये गये लेख, 'प्रणमति नित्यं' आदि अपूर्ण वाक्य और मानचित्र<sup>11</sup> सम्मिलित हैं।

1. प्रवेश-द्वार के दायें पक्ष पर उत्कीर्ण।

2. दे.-परि. एक, अभि.क्र. 10।

3. दे.-परि. एक, अभि. क्र. 99।

4. सम्प्रति जैनधर्मशाला स्थित दि. जैन चैत्यालय में विद्यमान। दे.-चित्र सं. 83।

5. दे.-परि. दो, अभि. क्र. तीन।

6. दे.-परि. दो, अभि. क्र. चार।

7. दे.-परि. दो, अभि. क्र. पाँच।

8. भीतर की ओर पूर्वोद्धार के ऊपर जड़ा हुआ। दे.-परि. एक, अभि. क्र. 37।

9. दे.-चित्र सं. 12।

10. अभिलेख पाठ के लिए दे.-परि. दो, अभि. क्र. छह।

11. दे.-मं. सं. 15 में स्थित त्रिलोक का मानचित्र।

3. लिपि, भाषा और तिथि : देवगढ़ के अभिलेखों में से कुछ ब्राह्मी लिपि<sup>1</sup> में और शेष नागरी लिपि में उत्कीर्ण हुए हैं। 'ज्ञानशिला' नामक पूर्वोक्त अभिलेख में 18 लिपियों का प्रयोग हुआ माना जाता है।<sup>2</sup>

यहाँ के अभिलेखों में से कुछ संस्कृत, कुछ अपभ्रंश और कुछ हिन्दी भाषाओं में अंकित हुए हैं।<sup>3</sup> कुछ की संस्कृत अशुद्ध है। इससे अनुमान होता है कि उस समय से ही संस्कृत के अशुद्ध रूप का प्रचलन प्रारम्भ हो गया था। कभी-कभी एक ही अभिलेख में एक से अधिक भाषाओं का भी प्रयोग मिलता है। कुछ अभिलेख विशुद्ध और उच्चकोटि की काव्यमय संस्कृत में उत्कीर्ण हुए हैं।<sup>4</sup> यहाँ के अभिलेखों पर बुन्देलखण्ड की क्षेत्रीय भाषा और स्थानीय बोलियों का भी प्रभाव पड़ा है।<sup>5</sup>

जैन स्मारकों से सम्बन्धित तिथियुक्त अभिलेखों में से प्राचीनतम, संवत् 919 (862 ई.) और नवीनतम संवत् 1995<sup>6</sup> (1939 ई.) में उत्कीर्ण हुए हैं।

### (ब) आन्तरिक पक्ष

देवगढ़ में प्राप्त अभिलेख बाह्य पक्ष की अपेक्षा आन्तरिक पक्ष में अधिक समृद्ध हैं। उनसे कुछ ऐसी सूचनाएँ प्राप्त होती हैं, जो भारतीय इतिहास के कुछ विवादास्पद पक्षों पर प्रकाश डालती हैं। 'जैन साधु-संस्था' में तो इन अभिलेखों से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण नाम और तिथियाँ जुड़ जाती हैं। इसके अतिरिक्त अन्य विषयों का परिज्ञान भी इनसे होता है। इन सबका अध्ययन यहाँ प्रस्तुत किया जा रहा है।

#### 1. भौगोलिक महत्त्व : यहाँ प्राप्त अभिलेखों में चन्देरीगढ़,<sup>7</sup> पालीगढ़ नगर,<sup>8</sup>

1. जैन धर्मशाला में इस लिपि में अंकित एक अभिलेख सुरक्षित है। नाहरघाटी में भी इस लिपि में अभिलेख उत्कीर्ण है।
2. दे.-चित्र सं. 49।
3. परिशिष्ट एक।
4. दे.- (अ) मं. सं. 10 के स्तम्भों पर उत्कीर्ण स्तुतिकाव्य। (व) जैन धर्मशाला में सुरक्षित सं. 1493 का अभिलेख तथा परि. दो, अभि. क्र. पाँच। (स) राष्ट्रीय संग्रहालय, देहली में सुरक्षित देवगढ़ का अभिलेख तथा परि. दो, अभि. क्र. चार।
5. दे.-मं. सं. 12 के अर्धमण्डप के दक्षिण-पूर्वी स्तम्भ पर उत्कीर्ण अभिलेख तथा परि. दो., अभि. क्र. एक।
6. दे.-सन् 1939 में, सिंघई भैयालाल गुरहा गजरथ के समय प्रतिष्ठापित मूर्तियों के अभिलेख एवं मं. सं. 11 के द्वितीय खण्ड के गर्भगृह तथा धर्मशाला-स्थित दि. जैन चैत्यालय में क्रमशः संगमरमर और पीतल की मूर्तियाँ।
7. दे.- परि. एक, अभि. क्र. 37।
8. दे.- परि. एक, अभि. क्र. 41।

लुअच्छगिरि<sup>1</sup> और गोपालगढ़<sup>2</sup> के उल्लेख हैं। इन सबका समीकरण प्रायः सर्वमान्य है।

**चन्देरीगढ़** : चन्देरीगढ़ गुना जिले में स्थित वर्तमान चन्देरी है, वहाँ का गढ़ आज भी विद्यमान है। देवगढ़ और चन्देरी का राजनीतिक ही नहीं, अपितु सांस्कृतिक सम्बन्ध भी रहा है।

**पालीगढ़ नगर** : पालीगढ़ नगर झाँसी जिले में स्थित वर्तमान पाली होना चाहिए, जो देवगढ़ से पूर्व की ओर लगभग बारह मील पर स्थित है।

**लुअच्छगिरि** : लुअच्छगिरि देवगढ़ के प्राचीन नामों में से एक है।

**गोपालगढ़** : गोपालगढ़ वर्तमान ग्वालियर होना चाहिए।<sup>3</sup>

**वेत्रवती** : एक अभिलेख में वेत्रवती का उल्लेख है।<sup>4</sup> यह वेतवा नदी है, इसके किनारे देवगढ़ स्थित है।

**करनाटकी** : एक शब्द करनाटकी भी प्राप्त हुआ है,<sup>5</sup> सम्यद्ध अभिलेख की भाषा इतनी अशुद्ध संस्कृत है कि उससे इस सुपरिचित शब्द कर्णाटक (भूतपूर्व मैसूर राज्य, जिसे अब कर्नाटक ही कहा जाने लगा है) की व्याकरण सम्यन्धी स्थिति जानना कठिन है। यह 'करनाटकी' शब्द यहाँ या तो लिपि के लिए आया है या किसी महिला के नाम या विशेषण के रूप में। इस शब्द के पूर्व 'देश' शब्द उत्कीर्ण है। अतः यह भी सम्भव है कि कर्णाटक को ही 'करनाटकी' लिखा गया हो।

**श्री-मालव-नाग-त्रात** : इसी प्रकार एक पद 'श्रीमालवनागत्रात'<sup>6</sup> भी विचारणीय है। चूँकि सम्यद्ध अभिलेख में इस शब्द के अतिरिक्त और कोई शब्द ही नहीं है, अतः इसमें उत्कीर्ण 'मालव' और 'नाग' शब्दों का समीकरण अनुमान से ही करना होगा। त्रात संस्कृत का विशेषणभूत कृदन्त (त्रै : क्त) शब्द है, जिसका अर्थ होता है 'रक्षित'। अतः सम्पूर्ण शब्द का अर्थ हुआ मालव और नाग द्वारा रक्षित। यह अभिलेख मन्दिर संख्या 22 के द्वार तोरण पर उत्कीर्ण है।

इस अभिलेख के सम्बन्ध में दूसरी अनुमिति इस प्रकार हो सकती है : चूँकि देवगढ़ मालवगण की सीमा में आता था और उसके तुरन्त समीप उत्तर-पूर्व में नाग-भारशिवों की सीमा प्रारम्भ हो जाती थी। अतः यह सम्भव है कि इस क्षेत्र पर

1. दे.-परि. एक, अभि. क्र. 88 तथा परि. दो, अभि. क्र. एक।

2. दे.-परि. दो, अभि. क्र. छह।

3. ग्वालियर के अभिलेखों में भी उसका उल्लेख गोपालगढ़ नाम से प्राप्त होता है। दे.-ग्वालियर का सं. 1510 में अभिलिखित महाराजाधिराज श्री हृंगरेन्द्रदेव का लेख—जे.ए.एस.वी., भाग 31, पृ. 404 और 423-24। तथा वहीं का संवत् 1497 का एक अन्य अभिलेख।

4. दे.-परि. दो, अभि. क्र. चार।

5. दे.-परि. दो, अभि. क्र. छह।

6. दे.-परि. एक, अभि. क्र. 121।

मालवों और नागों या उनके किन्हीं वंशजों की कृपा समान रूप से रही हो, जिसके फलस्वरूप यह मन्दिर (संख्या 22, दे.-चित्र संख्या 30) निर्मित हुआ हो। यह भी सम्भव है कि दानों ने इस मन्दिर की रक्षा आदि के लिए कोई स्थायी व्यवस्था कर दी हो, जिसके प्रमाणस्वरूप यह लेख उत्कीर्ण कराया गया हो।

**2. इतिहास की सामग्री :** इतिहास के निर्माण में देवगढ़ में प्राप्त अभिलेखों का विशेष महत्त्व है।

**भोजदेव :** यहाँ उपलब्ध तिथि सहित प्राचीनतम अभिलेख 'गुर्जरप्रतिहार शासक भोजदेव का है। इसे आश्वयुज (आश्विन = क्वार) शुक्ल चतुर्दशी, विक्रम संवत् 919 और शक संवत् 784 तदनुसार 10 सितम्बर 862 ई., गुरुवार को उत्कीर्ण कराया गया था। इस स्तम्भलेख में जिस महाराजाधिराज परमेश्वर भोजदेव का उल्लेख है, वही ग्वालियर के संवत् 933 (876 ई.) के एक अभिलेख में भी उल्लिखित हुआ है।<sup>2</sup> राजतरंगिणी में वर्णित 883 से 901 ई. तक के शंकरवर्मन् का समकालीन भोज भी यही था।<sup>3</sup> पेहोवा अभिलेख<sup>4</sup> का प्रमुख पात्र भी यही भोजदेव था। इन अभिलेखों के अतिरिक्त अन्य प्रमाणों से भी ज्ञात होता है कि इस गुर्जरप्रतिहार शासक का शासन प्रायः सम्पूर्ण उत्तर भारत पर था।

**विष्णुराम पचिन्द :** प्रस्तुत अभिलेख में महासामन्त विष्णुराम पचिन्द का भी उल्लेख हुआ है। इससे ज्ञात होता है कि भोज के शासन में सामन्त प्रथा थी, जो महाराजाधिराज परमेश्वर का विरुद्ध दिया गया है वह इस दृष्टि से सर्वथा उपयुक्त है।

**राजपाल :** दो अभिलेखों<sup>5</sup> से किसी राजपाल का नाम ज्ञात होता है। संवत् 1121 में एक मन्दिर (संख्या 18, चित्र 18) का नाम 'राजपाल मठ' प्रचलित था। श्री साहनी इसका समीकरण नहीं कर सके थे।<sup>6</sup> परन्तु जैसा कि डॉ. साँकलिया भी मानते हैं,<sup>7</sup> यह गुर्जरप्रतिहार वंश के अन्तिम शासकों में से कोई होना चाहिए।

**उदयपालदेव :** दो अभिलेखों<sup>8</sup> में महासामन्त उदयपालदेव का नाम प्रयुक्त

1. दे.-परि. दो, अभि. क्र. एक।

2. दे.-ए.पी.इं. भाग 18, पृ. 99-114 तथा एन्. रि., ए.एस.आइ., 1903-4 ई., पृ. 277-85।

3. कनिंघम : ए.एस.आइ., जिल्द 10, पृ. 101।

4. दे.-ए.पी. इं. भाग एक, पृ. 184-90।

5. दे.-परि. एक, अभि. क्र. 99, 100।

6. दे.-ए.पी.आर., 1918, पृ. 10।

7. दे.-यूलेटिन ऑफ़ दी डेक्कन कॉलेज गिस्च इंस्टीट्यूट, जिल्द एक, सं. 2-4 (मार्च, 1940 ई.), पृ. 162।

8. दे.-परि. एक, अभि. क्र. 47, 48।

हुआ है। उनमें से एक<sup>1</sup> पर संवत् 1210 अंकित है और दूसरे पर कोई संवत् नहीं है। चाँदपुर के संवत् 1207 (1150 ई.) के एक अभिलेख<sup>2</sup> में भी उदयपाल का नाम आया है। ये दोनों उदयपाल एक ही व्यक्ति होने चाहिए। इससे, उसकी राजनीतिक स्थिति का भी परिज्ञान होता है। संवत् 1207 में वह उल्लेखनीय व्यक्ति तो रहा होगा, पर संवत् 1210 (1153 ई.) तक उसे महासामन्त का विरुद भी प्राप्त हो चुका था।

**सुलतान महमूद** : संवत् 1503 (1446 ई.) के एक अभिलेख<sup>3</sup> से ज्ञात होता है कि चन्देरी पर (देवगढ़ पर भी) मालवा के सुलतान महमूद (1435-75 ई.) का शासन था। इन्हीं दिनों जौनपुर में भी इस नाम का एक शासक था। सुलतान महमूद को यहाँ महाराजधिराज कहा गया है।

**उदयसिंह-उदेतसिंह** : एक अभिलेख,<sup>4</sup> जिसमें संवत् 1693 (1636 ई.) और संवत् 1695 (1638 ई.) का उल्लेख है, में महाराजाधिराज उदयसिंह का नाम आया है। यहीं की 'सिद्ध की गुफा' के एक अभिलेख में उल्लिखित उदेतसिंह कदाचित् यही उदयसिंह होगा। श्री हारग्रीब्ज के अनुसार,<sup>5</sup> वरुवासागर का दुर्ग और सरोवर बनवाने के लिए विख्यात और उद्योत, उदोत एवं उदेतसिंह नामों से प्रसिद्ध ओरछा नरेश ही यह उदयसिंह होना चाहिए।

**देवीसिंह-दुर्गासिंह** : ठीक इन्हीं संवत्तों (1693 और 1695) के उल्लेख सहित एक अन्य अभिलेख<sup>6</sup> में महाराजाधिराज देवीसिंह का नाम अंकित है। 'सिद्ध की गुफा' में<sup>7</sup> भी संवत् 1789 (1732 ई.) के एक अभिलेख में दुर्गासिंह के पितामह के रूप में भी यह देवीसिंह उल्लिखित है। नाहरघाटी में भी एक अभिलेख ठीक उसी दिन (वैशाख शुक्ल 9, संवत् 1789) उल्कीर्ण कराया गया था, जिस दिन 'सिद्ध की गुफा' में। इसमें भी महाराजाधिराज देवीसिंह का नाम महाराजाधिराज दुर्गासिंह के पितामह के रूप में आया है। इस अभिलेख से इतना और ज्ञात होता है कि यह देवीसिंह चन्देरी का बुन्देला शासक था। यहीं के एक सतीस्तम्भ से ज्ञात होता है कि यह शासक संवत् 1698 (1641 ई.) में चन्देरी पर शासन कर रहा था। उसे

1. मं. सं. 12 के गर्भगृह में दायीं ओर की देवकुलिका पर।
2. दे.-ए.पी. इ., जिल्द पाँच, परिशिष्ट, सं. 126, पृ. 19।
3. दे.-परि. एक, अभि. क्र. 37।
4. दे.-परि. एक, अभि. क्र. 41।
5. दे.-ए.पी. आर.-1916, परि. अ. क्र. 15।
6. दे.-परि. दो, अभि. क्र. 6।
7. दे.-द्वितीय अ. में सम्बन्धित वर्णन। और भी दे.-दयाराम साहनी : ए. पी.आर., 1918, पृ. 10।

258 :: देवगढ़ की जैन कला : एक सांस्कृतिक अध्ययन



संवत् 1616 (1589 ई.) चन्देरी की राजगद्दी पर अभिषिक्त हुआ माना जाता है।<sup>1</sup>

**3. समाज का चित्रण :** जैसा कि सप्तम अध्याय में कहा जा चुका है, समाज का चित्रण करने में देवगढ़ से प्राप्त अभिलेखों का योगदान अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। उनसे समाज की विभिन्न गतिविधियों और रीति-रिवाजों का बोध होता है। समाज के वर्गीकरण का अनुमान भी इनकी सहायता से किया जा सकता है।

**गोत्र तथा उपजातियाँ :** कठनेरा और उसके साढ़े बारह गोत्र, अग्रोतक,<sup>2</sup> गर्ग,<sup>3</sup> अष्टशाख,<sup>4</sup> गोलापूर्व<sup>5</sup> आदि उपजातियों के उल्लेख तो केवल अभिलेखों से ही प्राप्त होते हैं।

**सम्मानित पद :** समाज के कुछ विशिष्ट श्रावक-श्राविकाओं का भिन्न-भिन्न प्रसंगों में उल्लेख हुआ है। इन उल्लेखों से निष्कर्ष निकलता है कि आधुनिक काल की भाँति उस काल में भी समाज में पण्डित<sup>6</sup> और प्रतिष्ठाचार्य<sup>7</sup> आदि का प्रचलन था। प्रतिष्ठाता,<sup>8</sup> प्रतिष्ठात्री,<sup>9</sup> संघाधिपति<sup>10</sup> और सिंघई<sup>11</sup> आदि जैसी पदवियाँ भी प्रदान की जाती थीं।

**उदार श्रावक-श्राविकाएँ :** यहाँ के अभिलेखों के अनुसार कल्याणसिंह (10),<sup>12</sup> छात्र (परि. दो, अभि. तीन), रामचन्द्र (वही), देव (वही), साहजी (22),

1. (अ) गजेन्द्रियर ऑफ़ दी यूनाइटेड प्रोविंसज़, जिल्द 24, पृ. 198। (ब) जे. ए.एस.वी., जिल्द 71, भाग एक, 1902 ई., पृ. 125 पर पाद टिप्पणी।

2-3. दे.—परि. दो, अभि. क्र. 4।

4. दे.—परि. दो, अभि. क्र. 5।

5. दे.—परि. दो, अभि. क्र. 6।

6. दे.—पं. अजित सिंह, ललितसिंह (परि. एक, अभि. 8), पं. गुणनन्दिन् (वही, अभि. 17, 114, 119), पं. शर्मकरदेव और पं. लालदेव (वही, अभि. 22), पं. माघनन्दी (वही, अभि. 95), पं. गंगपाल (वही, अभि. 104), पं. नेमिदेव (वही, अभि. 128), पं. नयनसिंह (परि. दो, अभि. 5) आदि पण्डितों के नाम।

7. दे.—अजितसिंह (परि. एक, अभि. 45), कमलदेवाचार्य (वही, अभि., 58), लोकनन्दी का शिष्य (वही, अभि. 109), नयनसिंह (परि. दो, अभि. 5) आदि प्रतिष्ठाचार्यों के नाम।

8. दे.—राजपाल (परि. एक, अभि. 60), मठपति जज्ञ (वही, 61), गंगक और शिवदेव (वही, 86), कमलदेव के शिष्य श्रीदेव (परि. दो, अभि. एक) आदि प्रतिष्ठाताओं के नाम।

9. दे.—सोमती (परि. एक, अभि. 51), मदन (वही, 52), धनिया (वही, 59), अमोदनी (वही. 104) आदि प्रतिष्ठत्रियों की नमावलि।

10. दे.—होली (परि. दो., अभि. चार), जुगराज (वही, पाँच) आदि संघाधिपतियों के नाम।

11. दे.—सिंघई लक्ष्मण, अर्जुन, जुगराज, चतुर्थवत (परि. दो, अभि. पाँच) आदि सिंघई उपाधिधारियों के नाम।

12. यहाँ कोष्ठक में दर्शित अंक परिशिष्ट एक तथा दो में निर्दिष्ट अभिलेखों की संख्या के सूचक हैं।

होली (परि. दो, अ. चार) गल्देश,<sup>1</sup> श्रीवल्लदेव, श्री लक्ष्मणपालदेव, क्षेमराज, नयनसिंह, रत्न, पद्मसिंह, वील्ह, पल्हिक, तल्हण, योल्हण, महीचन्द्र (4), महीन्द्रसिंह (6), साहससिंह (6), श्रीसिंह (9), जसदेव (9 और 20), जुगाराज (परि. दो, 5), खेमराज (वही), अर्जुन (वही), रामदेव (वही), पद्म (वही), नैमिचन्द्र (26), पाहस (20), केशव (20), विरच (इन्द्र) (31), भुवनसिंह (46), गंगक (86), शिवदेव (86), कल्लन (91), प्रभाकर (117), रुद्रवान (118) आदि श्रावकों ने विभिन्न धर्म कार्यों के लिए दान किये थे। इसी प्रकार स्रजासोधरा (111), सागरसिरि (परि. दो, अ. तीन), सालसिरि (वही), उदयसिरि (वही), देवरति (परि. दो, अ. चार), पद्मश्री (वही), रत्नश्री (वही), साविनी (7), सलाखी (7), अक्षयश्री (परि. दो, अ. पाँच), क्षेमा (वही), गुणश्री (वही), पद्मश्री (वही), कालश्री (वही), पूर्णश्री (वही), जसदेवी (इन्द्रपई), ठकुरानी (12), सदिया (98) आदि श्राविकाओं ने विभिन्न अवसरों पर विविध धर्म कार्यों के लिए दान किये थे।

#### 4. धार्मिक जीवन :

**संघ, गण, गच्छ :** विवेच्य अभिलेखों में उल्लिखित अनेक संघों,<sup>2</sup> गणों,<sup>3</sup> गच्छों,<sup>1</sup> आचार्यों, आर्यिकाओं और भट्टारकों आदि के नाम सूचित करते हैं कि देवगढ़ न केवल मन्दिरों और मूर्तियों के लिए ही प्रसिद्ध था, प्रत्युत धर्मात्मा पुरुषों और स्त्रियों के लिए भी प्रसिद्ध था।

**साधु-साध्वियों द्वारा धार्मिक कृत्य :** यहाँ के अभिलेखों में कमलदेव<sup>4</sup> (58 और परि. 2-1), श्रीदेव<sup>5</sup> (वही), रत्नकीर्ति<sup>7</sup> (3, परि. 2-4), देवेन्द्रकीर्ति

1. यहाँ से वोल्हण तक के नाम परि. दो, अभि. क्र. चार में उल्लिखित हैं।
2. दे.—मूलसंघ (परि. एक, अभि. तीन), नन्दिसंघ (परि. दो, अभि. तीन), मूलसंघ (परि. दो, अभि. चार), नन्दिसंघ (वही), मूलसंघ (वही, पाँच) आदि।
3. दे.—बलात्कारगण (परि. दो, अभि. तीन, चार और पाँच)।
4. दे—सरस्वतीगच्छ (परि. एक, अभि. तीन), मदसाग्दगच्छ (परि. दो, अभि. चार), सरस्वतीगच्छ (परि. दो, अभि. पाँच) आदि।
5. जै. शि. सं. दि., अभि. क्र. 128।
6. जै. प्र., पृ. 121।
7. (अ) म., प्रस्ता., पृ. 16, पा. टि. 29, 81, 231, 232, 258, 277, 297, 399, 400, 522, 539, 540, 589। (ब) जै. प्र., पृ. 11, 12, 14, 21, 34, 59, 60, 61, 80, 87, 93। (स) जै. दि., पृ. 33, 54, 130। (द) रा., पृ. 638, 722। (इ) वी., लेखांक 1373। (ई) रा. जे. सं., पृ. 61, 62, 70, 124, 127-30, 132-36, 148, 153, 159, 161, 171, 183, 185, 191, 192। (उ) अनं. (ब. 17, कि. एक), पृ. 38, (जुन 61), पृ. 61। (ऊ) जैन सिद्धान्त भास्कर, भाग 22, कि. एक, पृ. 58।

(3, परि. 2-5)<sup>1</sup>, त्रिभुवनकीर्ति<sup>2</sup> (3, 102, 103), शुभदेवनाथ (मुनि) (23), यशस्कीर्त्याचार्य<sup>3</sup> (99), माधवचन्द्र<sup>4</sup> (50), जयकीर्त्याचार्य<sup>5</sup> (25), माधवनन्दी<sup>6</sup> (95), लक्ष्मीचन्द्रदेव<sup>7</sup> (परि. 2-3), कनकचन्द्रदेव<sup>8</sup> आचार्य (परि. 2-3), हेमचन्द्रदेव<sup>9</sup> (परि.

1. (अ) भ. प्रस्ता., पृ. 6, पा. टि. 29, लेखांक 102, 103, 108-12, 148-78, 186-92, 294, 390, 391, 425, 426, 509, 510, 613, 664-66। (ब) बो. लेखक 1444। (स) आ., पृ. 7 प्र., 8 पृ. 92, 94, प. 123 प्र. 125, 127, 128, 140, 142, 143, 144, 147। प. 153 प्र. 1 (द) जे. शि. सं., टि. ले. 149-50। (इ) हि., पृ. 34, 200 (पा.टि.), 426, 493, 531। (ई) रा. जै.सं., पृ. 49, 66, 106, 110, 113, 159, 165, 166। (उ) अने. (व. 15, कि. दो), पृ. 160 (व. 18, कि. पाँच), पृ. 223।
2. (अ) भ. लेखांक 523, 524, 607, 635, 644, 655। (ब) आ. 153 प्र.। (स) जै. द्वि., पृ. 122, 134। (द) जै. प्र., पृ. 55, 68, 204। (इ) रा. जै. स., पृ. 193-94। (ई) अने. (व. 15, कि. तीन), पृ. 140।
3. (अ) भ., ले. 288, 395, 401, 402, 525, 529, 557, 562, 597-98, 646, 655। (ब) जै. प्र., पृ. 34, 35, 37, 60, 61, 68, 70, 98। (स) जै. द्वि., पृ. 37, 38, 41, 42, 44। (द) आ. पृ. 153, 154 प. 179 प्र. 181, 182 प। (इ) शो. सं., 20, पृ. 358। (ई) रा. जै. सं. पृ. 41, 84, 85, 88, 171, 185, 186, 188, 193।
4. (अ) शो. स. पाँच पृ. 200। (ब) जै. शि. सं. द्वि., अभि. क्र. 95, 121, 122, 142, 145, 148, 149, 213, 219, 267, 277, 299, 310। (स) सं. प्र., पृ. 165, 167, 188। (द) आ., पृ. 124 प. 132, 147 प। (इ) जै. द्वि., पृ. 21।
5. (अ) जै. प्र. पृ. 27, 56, 62, 75। (ब) जै. द्वि., पृ. 27। (स) आ., पृ. 124, 130, 147 प। (द) रा. जै. सं., पृ. 10, 183।
6. (अ) जै. शि. सं. द्वि., अभि. क्र. 95, 121, 122, 142, 148, 149, 213, 219, 267, 277, 299। (ब) शो. सं. 20, पृ. 358।
7. (अ) भ., ले. 283, 468-76। (ब) जै. द्वि., पृ. 130। (स) रा. जै. सं., पृ. 106, 109, 111, 148, 159। (द) अने. (व. 18, कि. 5), पृ. 227।
8. (अ) आ., पृ. 132, 133। (ब) जै. शि. सं. द्वि., अभि. क्र. 299।
9. (अ) शो. सं. 20, पृ. 360। (ब) आ., पृ. 84, 123, 170। (स) जै. प्र., पृ. 88, 142, 145, 222। (द) जै. द्वि. प., 57, 60, 71। (इ) जै. शि. सं. द्वि., अभि. क्र. 213, 215, 269, 274। (ई) ज. शि. सं. तृ., अभि. क्र. 560, 640, 643, 838। (उ) जै. शि. सं. च., अभि. क्र. 158, 214, 216, 221, 300, 301, 318, 401, 402, 410-12, 414, 422-23, 428। (ऊ) हि., पृ. 66, 90, 111-13, 426, 439, 526, 543, 561। (ऋ) रा., पृ. 116, 138-39, 171, 177, 260, 264, 270-71, 277, 209, 416, 573। (ए) भ. ले. 279, 588, 596-98, 693।

2-3), धर्मनन्दी<sup>1</sup> (57), ललितकीर्ति<sup>2</sup> भट्टारक (परि. 2-6), लोकनन्दिन्<sup>3</sup> (17, 109, 114, 116), धर्मचन्द्र<sup>4</sup> मुनीन्द्र (परि. दो, अभि. चार), प्रभाचन्द्रदेव<sup>5</sup> (परि. दो, अभि. चार, पाँच), पद्मानन्दी<sup>6</sup> (परि. दो, अभि. चार, पाँच), शुभवन्द्र<sup>7</sup>

1. (अ) जै. शि. सं. द्वि., अभि., क्र. 104। (ब) शो., सं. 20, पृ. 359।
2. (अ) भ., ले. 525-29, 552, 615-17। (ब) आ., पृ. 16-19, 37, 38, 109, 111, 153, 154, 182। (स) जै. प्र., पृ. 24, 35, 63, 67, 92, 205। (द) वी., लेखांक 1514। (इ) शो., सं. 20, पृ. 360। (ई) रा., पृ. 468, 514, 549, 645, 695, 794, 2206। (उ) जै. शि. सं. तृ., अभि. क्र. 448, 459-60, 634, 680। (ऊ) जै. शि. सं. च., अभि. क्र. 222-23, 225, 295-96, 319, 354-55, 379, 382, 403। (ऋ) रा. जै. सं., पृ. 6।
3. (अ) जै. शि. सं. तृ., अभि., क्र. 371। (ब) शो., सं. 20, पृ. 358।
4. (अ) जै. शि. सं. प्र., पृ. (भू.) 41 तथा अभि. क्र. 118। (ब) वही, तृ., अभि. क्र. 714। (स) वही, च., 717। (द) आ., पृ. 93, 94, 98, 123, 154। (इ) रा. जै. सं., पृ. 181, 184, 185। (ई) अने. (व. 17, कि. एक), पृ. 37 तथा (व. 15, कि. 2), पृ. 163-64। (उ) जैनसिद्धान्तभास्कर (भाग 22, कि. एक), पृ. 58।
5. (अ) जै. शि. सं. प्र., भू., पृ. 40, 55, 62-64, 92, 97, 500 तथा अभि. क्र. 43, 44, 47, 50-53, 56, 62, 105, 110, 112, 116, 122, 124, 128, 130, 132, 133, 142, 153, 154, 155, 159, (ब) जै. शि. सं. द्वि., अभि. क्र. 107, 122-23, 160, 180, 219, 267, 269, 275, 277, 280, 294, 299, 301। (स) जै. शि. सं. तृ., अभि. क्र. 452, 470, 617। (द) आ., पृ. 1, 6, 124-25, 155, 179। (इ) रा. जै. सं., पृ. 114, 181, 183-85। (ई) जै. सा. इ., पृ. 16, 35, 47, 70, 81, 128, 137, 159, 220-21, 236, 286, 378, 385, 550। (उ) अने. (व. 15, कि. 3), पृ. 138, (व. 17, कि. एक), पृ. 38, (व. 15, कि. 2), पृ. 161-64।
6. (अ) जै. शि. सं. प्र., भू., पृ. 41, 114, 130, 137, 498 तथा अभि. क्र. 42, 112, 124, 128, 152, 157, 159-60। (ब) जै. शि. सं. द्वि., अभि. क्र. 209। (स) वही, तृ., अभि. क्र., 313, 408, 431, 551, 585, 617, 702। (द) आ., पृ. 6, 89, 119, 124, 133, 152-53, 174, 178, 189-92, 196। (इ) रा. जै. सं., प. 3, 7, 106, 159, 161। (ई) जै. सा. इ., पृ. 109, 165, 258, 317, 371, 378। (उ) अने. (व. 17, कि. एक), पृ. 39 तथा कि. चार, पृ. 159-60, 162। (ऊ) जैनसिद्धान्त भास्कर, भाग 22, कि. एक, पृ. 58।
7. (अ) जै. शि. सं. प्र., भू., पृ. 40, 41, 49, 188, 471, 489 तथा अभि. क्र. 43, 45-50, 59, 63-65, 90-91, 92, 98, 112, 116, 130, 144, 153, 155, 158, 360, 446-47, 486, 489। (ब) वही द्वि., अभि. क्र. 160, 180, 232, 245, 251, 253, 284, 301। (स) वही तृ., अभि. 433, 448, 449, 454, 459, 465, 470, 592, 617, 621, 702। (द) आ., पृ. 20, 21, 22, 68, 119। (इ) रा. जै. सं., पृ. 5, 6, 52, 62-64, 66-68, 160-64, 172, 178, 180, 181, 206, 208, 209। (ई) जै. सा. इ., पृ. 48, 156, 203, 310, 332, 378, 408, 460, 473, 558। (उ) अने. (व. 17) कि. एक, पृ. 36, किरण चार, पृ. 159, 164। (ऊ) जैनसिद्धान्त-भास्कर, भाग 22, कि. एक, पृ. 58।

(परि. दो, अभि. चार), कीर्त्याचार्य<sup>1</sup> (19), गणी (32), भावनन्दी<sup>2</sup> (33), चन्द्रकीर्ति<sup>3</sup> (39), माघवदेवचन्द्र<sup>4</sup> (85), नागसेनाचार्य<sup>5</sup> (90), माघनन्दी<sup>6</sup> (101), सहस्रकीर्ति<sup>7</sup> (124) आदि अनेक आचार्यों और भट्टारकों के धार्मिक-कृत्यों का कभी संक्षिप्त तो कभी विस्तृत वर्णन उत्कीर्ण हुआ है। साथ ही इन्दुआ (11 और 30) लवणश्री (107), नवासी (25), मदन<sup>8</sup> (52), धर्मश्री (22) आदि आर्यिकाओं के सक्रिय धार्मिक सहयोग और जीवन की गाथाएँ भी अभिलिखित हैं।

**तीर्थकरों की उपासना :** देवगढ़ में उपलब्ध सहस्रों तीर्थकर मूर्तियों, उन पर उत्कीर्ण अभिलेखों तथा कुछ मूर्तियों के पादपीठ में विनीत भक्तों के अंकन के आधार पर वहाँ के समाज के धार्मिक जीवन और सुदृढ़ आस्था का परिचय सहज ही प्राप्त हो जाता है। इस सबके अतिरिक्त वहाँ के अभिलेखों में ऋषभ (17, 42-44, 52, 82 तथा परि. दो, अभि. चार), अजित (51, 61), सम्भव (60, 120), सुमति (1, 42-44), चन्द्रप्रभ (114-15, 119), शान्तिनाथ (42-44, 46, 106 तथा परि. दो, अभि. चार), पल्लि (117), पार्श्वनाथ (86, 87), तथा वर्धमान (42-44 एवं परि. दो, अभि. चार) आदि के नाम भी अंकित हैं। कुछ में<sup>9</sup> तीर्थकरों का स्तवन

1. भ., ले. 622।
2. (अ) जै. शि.सं. द्वि., अभि. क्र. 136। (ब) शो., सं. 20, पृ. 360।
3. (अ) आ., पृ. 84, 133। (ब) जै. प्र., पृ. 62, 83, 180। (स) जै. द्वि., पृ. 14, 56, 130। (द) जै. शि. सं. द्वि., अभि. क्र. 212, 227, 239, 241, 280। (इ) जै. शि.सं. तृ., अभि. क्र. 545, 571, 600। (ई) वही च., 208, 367, 383, 402, 403, 405। (उ) भ. ले. 204, 221, 222, 267, 285, 539, 540, 709, 724 आदि। (ऊ) रा., ले. 209, 594। (ऋ) रा. जै. सं., पृ. 156, 159, 160, 167।
4. (अ) जै. शि. सं. द्वि., अभि. क्र. 145, 301। (ब) वही तृ., 534, 568, 667। (स) वही च., पृ. 154, 233-34, 242-43, 266, 268, 372। (द) आ., पृ. 124, 132, 147। (इ) जै. सा. इ., पृ. 271-73, 310।
5. (अ) जै. शि. सं. प्र., भू., पृ. 14 तथा अभि. क्र. 112, 126, 150। (ब) वही द्वि., अभि. 45। (स) वही च., प. 72, 84-85। (द) आ., पृ. 129।
6. (अ) जै. शि. सं. प्र., भू., पृ. 40, 41, 55, 105, 129, 130, 499 तथा अभि. क्र. 42, 100, 112, 124, 128-30, 132-34, 157, 159, 461। (ब) वही द्वि., अभि. क्र. 204, 267, 277, 280, 293, 300। (स) वही तृ., अभि. क्र. 307-8, 313, 320, 334, 411, 465, 514, 524, 571, 667। (द) वही च., पृ. 22, 58, 60, 98, 150, 152, 166, 204, 207, 229, 258, 271-72। (इ) आ., पृ. 22, 43-47, 124, 133।
7. (अ) जै. शि. सं. च., पृ. 373, 379। (ब) जै. सा. इ., पृ. 333-34, 341, 361, 398। (स) अने. (व. 15, कि. दो), पृ. 81।
8. जै. शि. सं. तृ., अभि. क्र. 418।
9. दे.—(1) मं. सं. 10 में उत्कीर्ण अभिलेख (परि. एक, अभि. 42-44)। (2) परि. दो, अभि. चार और पाँच।

भी हुआ है। अतः यह कहा जा सकता है कि अभिलिखित तीर्थंकरों की उपासना देवगढ़ में विशेष रूप से प्रचलित थी।

**सिद्धात्माओं के उल्लेख** : यहाँ के एक अभिलेख (परि. दो, अभि. क्र. चार) में रामचन्द्र, सुग्रीव आदि सिद्धात्माओं का गुणस्मरण और अत्यन्त आदर के साथ उल्लेख हुआ है। अतः यह स्वीकार करना होगा कि देवगढ़ का समाज प्राचीन महा-पुरुषों का गुणस्मरण करता था तथा उसे पौराणिक कथाओं की अच्छी जानकारी थी।

**स्मारक और देव-देवियाँ** : देवगढ़ के कुछ अभिलेखों में वहाँ के स्मारकों और देव-देवियों के उल्लेख भी प्राप्त होते हैं। उदाहरणार्थ—शान्त्यायतन (परि. दो, अभि. एक) श्री शान्तिनाथ चैत्यालय (परि. दो, अभि. पाँच), जिनालय एवं जैन-धर्मालय (परि. दो, अभि. चार), दानशाला (परि. एक, अभि. क्र. 125, 126, 129), चरणपादुका (परि. एक, अभि. क्र. 18, 41), राजपाल मठ (परि. एक, अभि. क्र. 99), आदि स्मारकों तथा चक्रेश्वरी (परि. एक, अभि. 58, 100), सुलोचना (चित्र 101), पद्मावती (परि. एक, अभि. 104), मालिनी (परि. एक, अभि. 102), सरस्वती (परि. एक, अभि. 103 तथा परि. दो, अभि. चार) आदि देवियों के अभिलेखन भी देवगढ़ के समाज की धार्मिक आस्था को सूचित करते हैं।

**5. शिक्षा और साहित्य** : यह विस्तारपूर्वक कहा जा चुका है कि देवगढ़ के प्राचीन समाज में शिक्षा पर अधिक बल दिया जाता था। वह तथ्य मूर्त्यकनों,<sup>1</sup> द्वारा तो प्रमाणित होता ही है, अभिलेखों द्वारा भी संपुष्ट होता है। उनमें अनेक स्थानों पर गुरु-शिष्य परम्परा उत्कीर्ण की गयी है।<sup>2</sup> गुरुओं का स्मरण अत्यन्त श्रद्धा और भक्ति के साथ किया गया है।<sup>3</sup> देव नाम के एक छात्र का उल्लेख हुआ है,<sup>4</sup> जो अपने गुरु को नित्य प्रणाम करता था (प्रणमति नित्यं)। गुरु-शिष्य परम्परा महिलाओं में भी प्रचलित थी। सागरसिरि नामक महिला-गुरु की दो शिष्याओं (चेली), सालसिरि और उदयसिरि के नाम उत्कीर्ण हुए हैं।<sup>5</sup>

अध्ययन-अध्यापन विविध विषयों का होता था। एक अभिलेख से ज्ञात होता है कि वहाँ समयसार जैसे अध्यात्मशास्त्र, ज्ञानार्णव-जैसे योगशास्त्र और यशस्तिलक चम्पू-जैसे काव्यग्रन्थों का पठन-पाठन होता था।<sup>6</sup>

1. दे.—चित्र सं. 75 तथा 77 से 85 तक।

2. दे.—परि. दो, अभि. क्र. एक, तीन, चार, पाँच आदि।

3. दे.—वही।

4. दे.—परि. दो, अभि. क्र. तीन।

5. दे.—वही।

6. दे.—परि. दो, अभि. क्र. चार।

जहाँ तक भाषा और साहित्य का प्रश्न है, देवगढ़ के पण्डित और आचार्य प्रकाण्ड विद्वान् थे। काव्यरचना में वे कितने कुशल थे, इसका प्रमाण उनके द्वारा लिखित स्तुतिकार्यों<sup>1</sup> और अभिलेखीय काव्यों<sup>2</sup> में प्राप्त होता है। एक अभिलेख का प्रारम्भ करता हुआ काव्यकार प्राणिमात्र को मित्र की संज्ञा देकर उद्बोधित करता है, "अहो मित्र ! आत्महित का आश्रय ग्रहण कर, मोहरूपी वन को त्याग, कर्तव्य और अकर्तव्य को समझ, वैराग्य धारण कर, शरीर और आत्मा में सुनिश्चित अन्तर का चिन्तन कर तथा धर्मध्यानरूपी अमृत के समुद्र में गहरा गोता लगाकर अनन्त सुखरूपी स्वरूप से सम्पन्न कमलवदना मुक्ति का संगम कर।"<sup>3</sup>

विरोधाभास और मुदा अलंकारों का समन्वित प्रयोग करता हुआ कोई कवि जिनेन्द्रदेव की स्तुति करता है, "जो अपनी वामा (पत्नी) माया के साथ रहते हैं, फिर भी अमाय (मायारहित) हैं। साथ ही अत्यन्त असुन्दर माया (छल) और आमय (रोग) से रहित हैं, सुन्दर हैं, शोभमान लक्ष्मणों (लक्ष्णों) से सम्पन्न हैं, पूजा के योग्य हैं, सीतापति रामचन्द्र और सुग्रीव द्वारा जिनका महान् सम्मान हुआ है और जो एकमात्र शिरोधार्य हैं, जो शल्य के साथ दुश्शासन का भी नाश करनेवाले हैं, साथ ही शल्यसहित (कष्टप्रद) दुश्शासन (दूषितशासन) का नाश करनेवाले हैं, जो सहदेव द्वारा पूज्य अजातशत्रु (युधिष्ठिर) हैं, साथ ही देवों के द्वारा उपास्य और शत्रुरहित है,....ऐसे मृगांक (मृगलांछनवाले) शान्तिनाथ की वन्दना करता हूँ।"<sup>4</sup> इसी प्रकार विभिन्न अर्था- लंकारों और शब्दालंकारों का प्रशंसनीय प्रयोग स्थान-स्थान पर देखा जा सकता है।

**6. आर्थिक स्थिति :** अधिकांश अभिलेखों में मूर्तियों और मन्दिरों के निर्माण एवं जीर्णोद्धार आदि के हेतु दान करनेवाले श्रावक-श्राविकाओं के उल्लेख मिलते हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि देवगढ़ का प्राचीन समाज इतना सम्पन्न था कि वह जीवन सम्बन्धी भिन्न-भिन्न आवश्यकताओं की पूर्ति करके भी पर्याप्त दान कर सकता था।

1. दे.-परि. एक, अभि. क्र. 42-44।

2. दे.-परि. दो, अभि. क्र. चार, पाँच।

3. दे. परि. दो अभिलेख क्र. पाँच का पद्य प्रथम—

"आत्मार्थ अयं मुच मोहगगनं मित्रं विवेकं गुरु। वैराग्यं भज भाववस्य नियतं भेदं शरीरात्मनः।  
धर्मध्यानसुधासमुद्रकुहरो कृत्वाऽवगाहं परम्। पश्यानन्त-सुख-स्वभावकलितं मुक्तिं मुखाम्भोरुहम्।"

4. दे.-परि. दो, अभिलेख क्र. चार के पद्य पाँच और छह—

स्ववाममायामयमप्यमायं, वामं लसल्लक्ष्मणमर्हणार्हम्।

सीतेश-सुग्रीव-महाहर्णार्हं, वन्दे सहर्षं सहसैकशीपम् ॥5॥

मशल्यदुःशासननाशहेतुमजातशत्रुं सहदेववय्यम्।

वन्दे विशालार्जुनं सद्य... नन्दन्सतां कर्णं कुलं मृगाङ्गम् ॥6॥

इस कथन की पुष्टि उन मूर्त्यकनों से भी होती है, जिनमें अनेक श्रावक-श्राविकाओं को बहुमूल्य वस्त्रालंकारों से सुसज्जित तथा रँगरेलियाँ मनाते हुए प्रदर्शित किया गया है।<sup>1</sup>

इस प्रकार हम देखते हैं कि अभिलेख देवगढ़ के प्राचीन इतिहास, संस्कृति, धर्म, और कला आदि पर महत्त्वपूर्ण प्रकाश डालने में पूर्णतः समर्थ हैं।

---

1. दे.—चित्र सं. 88, 90, 93, 114, 116, 119, 121, 122 तथा 57, 118 आदि।



## 9

### उपसंहार

#### प्रस्तुत शोधकार्य की उपलब्धियाँ

प्रस्तुत प्रबन्ध के पिछले अध्यायों में देवगढ़ के जैन स्थापत्य, मूर्तिकला एवं सांस्कृतिक जीवन का समग्र अध्ययन प्रथम बार प्रस्तुत किया गया है। सर अलेक्जेंडर कनिंघम ने भारतीय पुरातात्विक सर्वेक्षण के सन्दर्भ में सन् 1874 ई. में देवगढ़ का भी आंशिक सर्वेक्षण किया था। उसके पश्चात् भी यहाँ की कला के सर्वेक्षण-अध्ययन के शासकीय तथा सामाजिक प्रयत्न होते रहे, किन्तु समग्र अध्ययन की दृष्टि से इस प्रबन्ध के पूर्व अन्य कोई प्रयत्न नहीं हुआ।

देवगढ़ में प्राप्त अभिलेखों से स्पष्ट ज्ञात होता है कि 'देवगढ़' यह इस स्थान का प्राचीन नाम नहीं है। इस स्थान का प्राचीन नाम 'लुअच्छगिरि' था। इस नाम का उल्लेख यहाँ के जैन मन्दिर संख्या बारह के अर्धमण्डप के दक्षिण-पूर्वी स्तम्भ पर उत्कीर्ण विक्रम संवत् 919 के अभिलेख में प्राप्त होता है। इसके पश्चात् ग्यारहवीं शताब्दी के अन्त में इस स्थान का नाम 'कीर्तिगिरि' प्रचलित हुआ। इस नाम का उल्लेख यहाँ की राजघाटी में चन्देलवंशी शासक कीर्तिवर्मा के मन्त्री वत्सराज द्वारा उत्कीर्ण कराये गये विक्रम संवत् 1154 के अभिलेख में उपलब्ध होता है।

इस स्थान का 'देवगढ़' नामकरण बारहवीं शताब्दी के अन्त अथवा तेरहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में हुआ प्रतीत होता है। चौदहवीं शताब्दी के एक अभिलेख में इस नाम का संकेत मिलता है। इस नाम के प्रचलन का प्रमुख कारण, यहाँ असंख्य देव-मूर्तियों तथा देवायतनों की उपलब्धि के साथ ही साथ एक विशिष्ट मूर्ति-निर्माण केन्द्र के रूप में इसकी प्रसिद्धि भी है। ऐसा एक भी साक्ष्य प्राप्त नहीं होता, जिसके आधार पर इस स्थान के नाम को किसी राजा, महाराजा और आचार्य के नाम के साथ जोड़ा जा सके।

ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में देवगढ़ के अध्ययन की उपलब्धियाँ अनेक दृष्टियों से विशिष्ट हैं। यहाँ प्रागैतिहासिक काल से लेकर मुगल, मराठा एवं अँगरेजों के

शासनकाल तक भारतीय सांस्कृतिक इतिहास की एक अविच्छिन्न धारा प्राप्त होती है। यहाँ बेतवा के तट पर उत्खनन में प्रागैतिहासिक काल के अस्त्र प्राप्त हुए हैं तथा राजघाटी की कतिपय गुफाओं में आदिमानव द्वारा निर्मित प्रागितिहास काल के चित्र मिलते हैं। यहाँ के एक अभिलेख में मौर्यकालीन ब्राह्मी का भी प्रयोग हुआ है। गुप्त युग में तो यहाँ अनेक विशिष्ट मन्दिरों एवं मूर्तियों का निर्माण हुआ। गुर्जर-प्रतिहारों के शासन में यहाँ की कला और स्थापत्य को पर्याप्त समृद्धि प्राप्त हुई। यहाँ उपलब्ध एक अभिलेख गुर्जर के प्रतिहारवंशी शासक भोज के समय तथा राज्य सीमा को स्पष्ट शब्दों में उद्घोषित करता है। चन्देलवंशीय शासक कीर्तिवर्मन् के समय से वर्तमान देवगढ़ का नाम लुअच्छगिरि से कीर्तिगिरि रखा गया तथा उसके मन्त्री वत्सराज ने यहाँ एक नवीन गिरिदुर्ग का निर्माण भी कराया। उसके पश्चात् भी सांस्कृतिक समृद्धि की एक अविच्छिन्न धारा यहाँ प्रवाहित होती है।

देवगढ़ में विद्यमान इकतीस मन्दिरों, नौ लघु मन्दिरों एवं उन्नीस स्तम्भों (मानस्तम्भों) की परिपूर्ण पैमाइश प्रथम बार इस अध्ययन में की गयी है। देवगढ़ दुर्ग तथा वहाँ की प्राचीन घाटियाँ, नाहरघाटी और राजघाटी, सिद्ध की गुफा, वराह एवं दशावतार मन्दिरों तथा सती स्तम्भों का भी इस प्रबन्ध में विवेचन किया गया है।

मन्दिर-वास्तु की दृष्टि से देवगढ़ के मन्दिरों में शास्त्रीय विधान का पूर्ण निर्वाह न होने पर भी सर्वतोभद्र, पूर्णभद्र, षोडशभद्र, पंचायतन आदि शैलियों का परिपूर्ण निदर्शन उपलब्ध होता है। इससे यह भी ज्ञात होता है कि प्राचीन काल से गुर्जर-प्रतिहारकाल तक मन्दिर-वास्तु का जो विकास हुआ, उसका स्पष्ट प्रभाव यहाँ के मन्दिर-वास्तु में परिलक्षित होता है।

देवगढ़ की जैन कला में तीर्थकरों, देव-देवियों, विद्याधरों, साधु-साध्वियों तथा उपासकों की मूर्तियाँ प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होती हैं। भारतीय मूर्तिकला के इतिहास में यहाँ की मूर्तियों का योगदान अद्वितीय है। देवगढ़ में उपलब्ध दो इंच से लेकर तेरह फुट तक की विशालकाय तीर्थकर मूर्तियों के अतिरिक्त नामोत्कीर्ण चौबीस यक्षियों, विद्यादेवियों, विद्याधरों, साधु-साध्वियों एवं उपासकों की मूर्तियों के निदर्शन भारतीय कला में अत्यन्त विरल हैं।

देवगढ़ की जैन कला में निदर्शित युग्मों और मण्डलियों, विभिन्न प्रकार के प्रतीकों, पशुओं और विभिन्न जीव-जन्तुओं, आसन एवं मुद्राओं तथा प्राकृतिक परिवेश के शिल्पांकन भारतीय कला में अपना विशिष्ट महत्त्व रखते हैं।

देवगढ़ की कला और स्थापत्य में वहाँ के सांस्कृतिक जीवन का इतिहास मुखरित होता है। समाज के विभिन्न वर्ग, चतुर्विध संघ, साधु सम्प्रदाय, भट्टारक, गृहस्थ-श्रावक, सामाजिक जीवन के विभिन्न अंग, शिक्षा और साहित्य, लिपि एवं

भाषा, वेशभूषा तथा प्रसाधन, आमोद-प्रमोद, आर्थिक जीवन इत्यादि का पर्याप्त विवरण प्राप्त होता है।

देवगढ़ के अभिलेख वहाँ की कला तथा सामाजिक जीवन के इतिहास की ही कहानी नहीं कहते प्रत्युत भारतीय भूगोल एवं प्राचीन इतिहास के अध्ययन के लिए भी प्रभूत सामग्री उपलब्ध कराते हैं और नागरी लिपि का विकास क्रम भी सूचित करते हैं।

प्रबन्ध के अन्त में संलग्न किये गये परिशिष्ट तथा 124 चित्र एवं विन्यास रूपरेखाएँ समग्र विवेचन के साथ अपना निजी वैशिष्ट्य रखते हैं। देवगढ़ के सभी जैन अभिलेखों का एक साथ विवरण एवं विशिष्ट अभिलेखों का मूलपाठ भी प्रस्तुत किया गया है। कला और संस्कृति के विभिन्न पक्षों से सम्बन्धित इतने अधिक चित्र भी अन्यत्र नहीं सँजोये गये। वस्तुतः ये चित्र एवं विन्यास रेखाएँ देवगढ़ की जैन कला के अध्ययन का एक अनिवार्य और अभिन्न अंग हैं। इनके माध्यम से भारतीय मूर्तिकला एवं मन्दिर-वास्तु के अध्ययन के लिए अनेक नवीन आयाम उद्घाटित होंगे।

इस प्रकार भारतीय सांस्कृतिक इतिहास के व्यापक परिप्रेक्ष्य में किया गया देवगढ़ की जैन कला का यह सांस्कृतिक अध्ययन वहाँ के स्थापत्य, शिल्प तथा सांस्कृतिक जीवन के अध्ययन का एक विनम्र प्रयत्न है।

## कतिपय शोचनीय तथ्य

प्रारम्भ में देवगढ़ के स्थापितियों और शिल्पियों ने अध्यात्मप्रधान कृतियाँ निर्मित कीं। कालान्तर में भट्टारकों के प्रभाव की वृद्धि के साथ यह प्रवृत्ति क्षीण होती गयी और उत्तरोत्तर भौतिक उपलब्धियों पर बल दिया जाने लगा। फलस्वरूप कला में निखार और विविधता तो अवश्य आयी, परन्तु उसमें प्राणतत्त्व का हास होता गया। सात्त्विकता और मौलिकता गुप्तोत्तर काल में क्षीण से क्षीणतर होती गयीं। भले ही यह तथ्य भारतव्यापी हो, पर इसके लिए देवगढ़ भी कम उत्तरदायी नहीं है।

देवगढ़ के भट्टारकों ने जैन कला को कितना ही समृद्ध बनाया हो, पर उन्होंने जैन साहित्य की ओर तनिक भी ध्यान नहीं दिया। इस दृष्टि से देवगढ़ का महत्त्व एकांगी रह जाता है।

यहाँ के कलाप्रेरकों और कलाकारों का झुकाव गुणवत्ता की अपेक्षा परिमाण की ओर अधिक रहा है। यही कारण है कि यहाँ सहस्रों मूर्तियाँ गढ़ी गयीं, पर कलागत विलक्षणता की दृष्टि से गिनी-चुनी मूर्तियों का ही उल्लेख किया जा सकता है।

कुछ मन्दिरों की, विशेषतः उपत्यका के मन्दिरों की भूमि का चयन उपयुक्त न हो सका। फलस्वरूप वे समय के प्रवाह में उलझकर रह गये। अधित्यका पर

निर्मित मन्दिरों में से भी अधिकांश ध्वस्त हो चले हैं। कुछ मन्दिरों के अधिष्ठान इतने नीचे रखे गये कि अब वे भूमि के समतल हो गये हैं। प्रवेशद्वार भी बहुत छोटे बनाये गये।

एक निश्चित और क्रमबद्ध निर्माण-परम्परा के न रहने से देवगढ़ की वास्तुकला की एक स्वतन्त्र शैली न बन सकी, जैसा कि अन्य अनेक कलाकेन्द्रों में हुआ। शास्त्रीय विधानों का पालन यथोचित रूप में न तो स्थपतियों ने किया और न ही शिल्पियों ने। इस प्रकार देवगढ़ की कला में कुछ शौचनीय तथ्य भी प्राप्त होते हैं।

## सुझाव

देवगढ़ की बहुमूल्य कलाराशि की सुरक्षा और मूल्यांकन की नितान्त आवश्यकता है।

1. सुरक्षा के लिए जीर्णोद्धार प्राचीन काल से ही किया जाता रहा, पर यह कार्य आर्थिक दृष्टि से उतना जटिल नहीं, जितना तकनीकी दृष्टि से। इसमें प्राचीन स्मारकों के मौलिक रूप का ज्ञान और उसके आधार पर जीर्णोद्धार कार्य आसान नहीं है। इसके लिए विशेषज्ञों की सहायता नितान्त आवश्यक है।

2. कुछ वर्ष पूर्व अनेक मूर्तियों का भंजन तथा बहुत से दुर्लभ कलावशेषों की चोरी हो गयी है। शासन का ध्यान विशेष रूप से इस ओर जाना चाहिए।

3. शासन की ओर से देवगढ़ 'क्षेत्रीय प्रबन्ध समिति' के अधिकार में जो भूमि दी गयी है, उसमें अधिकांश स्मारक स्थित हैं। कुछ स्मारकों के अवशेष उस भूमि के बाहर भी प्राप्त हुए हैं, अतः वह भूमि भी सुरक्षा की दृष्टि से क्षेत्रीय प्रबन्ध समिति के अधिकार में होनी चाहिए।

4. बिखरी हुई प्राचीन सामग्री को एकत्र करके एक अच्छे संग्रहालय में सुरक्षित करना बहुत आवश्यक है। परन्तु सम्पूर्ण सामग्री एक तो उसमें प्रदर्शित किये जाने के योग्य नहीं और विपुलता के कारण वह प्रदर्शित भी नहीं की जा सकती। ऐसी सामग्री की सर्वथा उपेक्षा नहीं होनी चाहिए। उसे जैन प्राचीर के पृष्ठभाग से संलग्न बरामदा जैसी अल्पव्ययसाध्य वीथिका निर्मित कराकर उसमें प्रदर्शित किया जाना चाहिए।

5. अभिलेखों को जलवायु और दर्शकों से पहुँचनेवाली क्षति से बचाये रखने के लिए पारदर्शक आवरणों से आवेष्टित किया जाना चाहिए।

6. देवगढ़ के भूगर्भ में पर्याप्त सामग्री के दये रहने के प्रमाण प्रायः मिलते हैं। अधित्यका पर खोदे जानेवाले कुएँ में छह फुट की गहराई पर एक दीपक प्राप्त हुआ है। इसी प्रकार जैन प्राचीर की नींव खोदते समय ईंटों की प्राचीन भित्तियाँ और अनेक प्रतिमाएँ प्राप्त हुई थीं। वस्तुतः यहाँ अब तक उत्खनन कार्य नहीं किया गया।

270 :: देवगढ़ की जैन कला : एक सांस्कृतिक अध्ययन

अतः केंद्रीय तथा राज्य शासनों को यहाँ वैज्ञानिक उत्खनन कराने की व्यवस्था करनी चाहिए।

7. मूर्तिभंजकों द्वारा काटे गये मूर्तियों के जो सिर वापस मिले हैं उन्हें संग्रहालय में प्रदर्शित न करके सम्बद्ध मूर्तियों से यथास्थान संयुक्त करा देना चाहिए।

8. अधित्यका तक परिवर्धित सड़क और भी परिवर्धित की जानी चाहिए ताकि नाहरघाटी, राजघाटी, सिद्ध की गुफा और बराह-मन्दिर तक वाहन द्वारा भी पहुँचा जा सके।

9. कला का समुचित मूल्यांकन होना चाहिए। इसके लिए प्रशिक्षित प्रदर्शक, प्रदर्शिका-पुस्तिका और चित्र-कार्डों की व्यवस्था की जा सकती है। कुछ मूर्तियों की 'पेरिस-प्लास्टर' की प्रतिकृतियाँ निर्मित करायी जा सकती हैं।

10. निकटवर्ती स्थानों से समय-समय पर प्राप्त होती रहनेवाली सामग्री का संचय और प्रदर्शन स्थानीय सामग्री से पूर्णतया भिन्न रूप में होना चाहिए, ताकि यहाँ की मौलिक विशेषताओं और उपलब्धियों की भिन्नता बनी रहे।

11. देवगढ़ को एक प्रथम श्रेणी के पर्यटन केंद्र का रूप दिया जाना चाहिए। मन्दिरों के आसपास उद्यानों की योजना की जा सकती है। हवाई पट्टी का निर्माण कराया जा सकता है। क्षेत्र को अधिकाधिक महत्त्व देने के लिए यहाँ विपुल मात्रा में उपलब्ध लकड़ी और पत्थर के उद्योग बड़े पैमाने पर स्थापित किये जा सकते हैं। बनोपज का 'डिपो' भी यहाँ स्थापित किया जा सकता है।

12. यहाँ की कला का मूल्यांकन करनेवाले विद्वानों को प्रोत्साहन मिलना चाहिए।

अन्त में यह कहना उपयुक्त होगा कि देवगढ़ की जैन कला की सुरक्षा और मूल्यांकन न केवल एक स्थानविशेष और धर्मविशेष के कारण प्रत्युत प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति और पुरातत्त्व के सन्दर्भ में अनिवार्य रूप से आवश्यक है।

## परिशिष्ट

### 1. अभिलेखों की सूची और संक्षिप्त विवरण

इस परिशिष्ट में देवगढ़ के जैन अभिलेखों की सूची और उनका संक्षिप्त विवरण इस क्रम से दिया गया है : (क) अभिलेखोत्कीर्ण वस्तु। (ख) माप। (ग) भाषा और लिपि। (घ) उत्कीर्ण तिथि और राजा का नाम आदि। (ङ) अभिलेख का विषय।

1. (क) श्री एफ. सी. ब्लेक को देवगढ़ दुर्ग में ही प्राप्त किन्तु सम्प्रति राष्ट्रीय संग्रहालय, दिल्ली में प्रदर्शित शिलाफलक। (ख) छह फुट दो इंच × दो फुट नौ इंच × तीन इंच। (ग) साहित्यिक संस्कृत, देवनागरी। (घ) गुरुवार, वैशाख शुक्ल पूर्णमासी, विक्रमाब्द 1481 तथा शालिवाहन (शक) संवत् 1346। राजा—गोरी वंश का शाह आलम्भक, यह मालवा का शासक था। सुलतान दिलावर गोरी के द्वारा संस्थापित मालवा के गोरी वंश में द्वितीय सरदार सुलतान हुशंग गोरी उर्फ अलपखौं था। इसने माण्डु नगर बसाकर अपनी राजधानी धार से माण्डु स्थानान्तरित की थी। इसका शासनकाल ई. 1405 से 1432 ई. तक माना जाता है। सरदार अलपखौं इस अभिलेख में शाह आलम्भक के नाम से अंकित किया गया है तथा इसी की नवीन राजधानी का नाम अभिलेख में 'मण्डपपुर' दिया गया है। (ङ) उच्चकोटि की काव्यात्मक संस्कृत में उत्कीर्ण इस अभिलेख में विस्तृत रूप से होली नामक दाता की प्रशस्ति अंकित हुई है। उसने आचार्य शुभचन्द्र की आज्ञा से देवगढ़ में एक विशाल जिनालय का निर्माण कराया था तथा कुछ मूर्तियों की प्रतिष्ठा भी करायी थी। (अभिलेख पाठ के लिए देखें परिशिष्ट दो, अभिलेख क्रमांक चार।)

2. (क) सम्प्रति जैन धर्मशाला स्थित दिगम्बर जैन नैत्यालय में विद्यमान

- उपाध्याय मूर्ति। (ख) ग्यारह इंच × द्वादश इंच। पाँच पंक्तियाँ। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) रविवार, ज्येष्ठ वदी दशमी, विक्रमाब्द 1333। (ङ) सालसिरि (शालश्री) एवं उदयसिरि (उदयश्री) नामक छात्राओं तथा देव नामक छात्र द्वारा श्रद्धापूर्वक इस मूर्ति के समर्पण का वर्णन। (अभिलेख पाठ के लिए दे.—परिशिष्ट दो, अभिलेख क्रमांक 3।)
3. (क) एक पत्थर की बावली के निकट रखा हुआ, किसी स्तम्भ का खण्डित अंश। (ख) तेरह पंक्तियाँ। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) माघ शुक्ल चतुर्दशी, संवत् 1016। (ङ) श्रीमूलसंघान्तर्गत सरस्वतीगच्छ के आचार्य रत्नकीर्ति के शिष्य देवेन्द्रकीर्ति और उनके शिष्य त्रिभुवनकीर्ति की प्रशस्ति।
  4. (क) जैन मन्दिर संख्या एक के पीछे (पश्चिम में) 5 फुट 3 इंच ऊँचा सादा स्तम्भ। (ख) दस इंच × दस इंच। नौ पंक्तियाँ। (ग) संस्कृत (अशुद्ध), देवनागरी। (घ) बुधवार, माघ सुदी दशमी, संवत् 1493। (ङ) महीचन्द्र द्वारा करायी गयी मूर्ति स्थापना का वर्णन।
  5. (क) जैन मन्दिर संख्या एक की दीवार का शिलाफलक। (ख) पाँच पंक्तियाँ। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) अज्ञात। (ङ) वीरनन्दी नामक जैन मुनि की वंशावली अंकित हुई है।
  6. (क) जैन मन्दिर संख्या एक के मण्डप में प्राप्त स्तम्भ—एक ओर। (ख) दो-दो पंक्तियों के दो अभिलेख। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) ज्येष्ठ सुदी एकम, संख्या 1113। (ङ) महीन्द्रसिंह एवं साहसिंह नामक दो दातारों के नाम आदि दिये गये हैं तथा इन दोनों को मूर्ति के पादपीठ के मध्य में विनयावनत मुद्रा में उल्कीर्ण भी किया गया है।
  7. (क) जैन मन्दिर संख्या एक के मण्डप में प्राप्त स्तम्भ—दूसरी ओर। (ख) एक-एक पंक्ति के दो अभिलेख। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) ज्येष्ठ सुदी एकम, संख्या 1113। (ङ) साविनी और सलाखी नामक दो महिला-दातारों के नाम अंकित हैं।
  8. (क) जैन मन्दिर संख्या एक के मण्डप में प्राप्त स्तम्भ—तीसरी ओर। (ख) तीन-तीन पंक्तियों के दो अभिलेख। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) ज्येष्ठ सुदी एकम, संख्या 1113। (ङ) पं. अजितसिंह तथा पं. ललितसिंह नामक दो दातारों के नाम उल्कीर्ण हैं।
  9. (क) जैन मन्दिर संख्या एक के मण्डप में प्राप्त स्तम्भ—चौथी ओर। (ख) दो-दो पंक्तियों के दो अभिलेख। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) ज्येष्ठ सुदी एकम, संख्या 1113। (ङ) श्रीसिंह और जसदेव नामक दो दाताओं के नाम अंकित हैं।

10. (क) जैन मन्दिर संख्या एक के मण्डप में प्राप्त—चौथी ओर। (ख) दस पंक्तियाँ। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) ज्येष्ठ सुदी एकम, संख्या 1113। (ङ) स्तम्भनिर्माण का वर्णन। इस पर कल्याणसिंह ने अभिलेख उत्कीर्ण कराया।
11. (क) जैन मन्दिर संख्या एक में कायोत्सर्ग तीर्थकर मूर्ति। (ख) दो पंक्तियाँ। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) संवत् 1095। (ङ) आर्यिका इन्दुआ द्वारा मूर्ति प्रदान करने का विवरण।
12. (क) जैन मन्दिर संख्या एक की दीवार का शिलाफलक। (ख) एक पंक्ति। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) अज्ञात। (ङ) माधविनी ठकुरानी जसदेवी इन्द्रपई के नाम का उल्लेख है।
13. (क) जैन मन्दिर संख्या एक के उत्खनन कार्य में प्राप्त तीर्थकर मूर्ति। (ख) दो पंक्तियाँ। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) अज्ञात। (ङ) किसी महिला द्वारा प्रणाम।
14. (क) जैन मन्दिर संख्या दो में विद्यमान बाहुवली की कायोत्सर्ग मूर्ति। (ख) एक पंक्ति। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) अज्ञात। (ङ) यह गोम्मट की मूर्ति है, ऐसा उल्लेख है।
15. (क) जैन मन्दिर संख्या दो में विद्यमान चार फुट पाँच इंच ऊँची पद्यासन मूर्ति। (ख) एक पंक्ति। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) संवत् 1052। (ङ) दाता का नाम उत्कीर्ण है।
16. (क) जैन मन्दिर संख्या दो में विद्यमान चार फुट आठ इंच ऊँची पद्यासन मूर्ति। (ख) एक पंक्ति। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) संवत् 1023। (ङ) अस्पष्ट।
17. (क) जैन मन्दिर संख्या दो के निकट प्राप्त आदिनाथ-मूर्ति का पादपीठ। (ख) एक पंक्ति। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) अज्ञात। (ङ) श्री लोकनन्दिन् के शिष्य पण्डित गुणनन्दिन् द्वारा आदिनाथ की इस मूर्ति की स्थापना कराये जाने का विवरण दिया गया है।
18. (क) जैन मन्दिर संख्या दो के निकट प्राप्त एक भग्न स्तम्भ (ख) दो पंक्तियाँ। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) अज्ञात। (ङ) जिनेन्द्र भगवान् (तीर्थकर) की चरणपादुका निर्माण कराने का विवरण।
19. (क) जैन मन्दिर संख्या दो के निकट प्राप्त उपर्युक्त स्तम्भ (दूसरी ओर)। (ख) दो पंक्तियाँ। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) अज्ञात। (ङ) कीर्त्याचार्य के नाम का उल्लेख है।
20. (क) जैन मन्दिर संख्या तीन में स्थित सिरहीन कायोत्सर्ग तीर्थकर मूर्ति



- (तीन फुट ऊँची)। (ख) दो पंक्तियाँ। (ग) अशुद्ध संस्कृत, देवनागरी। (घ) अज्ञात। (ङ) पाहस के पौत्र एवं जसदेव के पुत्र केशव ने यह मूर्ति स्थापित करायी।
21. (क) जैन मन्दिर संख्या तीन में स्थित पचासन तीर्थकर मूर्ति (चार फुट साढ़े आठ इंच ऊँची)। (ख) एक पंक्ति। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) अज्ञात। (ङ) केवल (प्र)तिमा शब्द अंकित है।
22. (क) जैन मन्दिर संख्या तीन में स्थित कायोत्सर्ग तीर्थकर मूर्ति (2 फुट 6 इंच ऊँची)। (ख) दो पंक्तियाँ। (ग) अशुद्ध संस्कृत, देवनागरी। (घ) संवत् 1209। (ङ) पण्डित शुभंकर देव, पण्डित लालदेव, आर्यिका धर्मश्री एवं साहजी के नाम उत्कीर्ण हैं।
23. (क) जैन मन्दिर संख्या तीन। (ख) तीन पंक्तियाँ। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) अज्ञात। (ङ) शुभदेवनाथ मुनि का वर्णन है।
24. (क) जैन मन्दिर संख्या चार के मण्डप का स्तम्भ। (ख) दस पंक्तियाँ। (ग) अशुद्ध संस्कृत, देवनागरी। (घ) संवत् 1224। (ङ) भट्टारक साधु की वंशावली दी गयी है।
25. (क) जैन मन्दिर संख्या चार के मण्डप का दायाँ स्तम्भ। (ख) दस पंक्तियाँ। (ग) अशुद्ध संस्कृत, देवनागरी। (घ) संवत् 1207। (ङ) आचार्य जयकीर्ति और आर्यिका नवासी के नाम उत्कीर्ण हैं।
26. (क) जैन मन्दिर संख्या चार की दक्षिणी बहिर्भित्ति में जड़ा, अभिलिखित प्रस्तरफलक। (ख) दस पंक्तियाँ। (ग) अशुद्ध संस्कृत, देवनागरी। (घ) शनिवार, अगहन सुदी चतुर्दशी, संवत् 1709। (ङ) नेमिचन्द्र तथा उनके पूर्वजों का विवरण अंकित है।
27. (क) जैन मन्दिर संख्या चार के ऊपर (गुमटी में) एक स्तम्भ (जिस पर चारों ओर एक-एक तीर्थकर मूर्तियाँ उत्कीर्ण हैं) के चारों ओर। (ख) दो-दो पंक्तियाँ। (ग) अशुद्ध संस्कृत, देवनागरी। (घ) अज्ञात। (ङ) सर्वतोभद्र प्रतिमा। दातारों के नाम पढ़े नहीं जा सकते हैं।
28. (क) जैन मन्दिर संख्या चार में स्थित चार फुट डेढ़ इंच ऊँचा प्रस्तरफलक (जिसपर दो कायोत्सर्ग तीर्थकर मूर्तियाँ अंकित हैं)। (ख) एक पंक्ति। (ग) अशुद्ध संस्कृत, देवनागरी। (घ) अज्ञात। (ङ) अक्षर टूट गये हैं। अनुमानतः दाताओं के नाम होने चाहिए।
29. (क) जैन मन्दिर संख्या चार के गर्भगृह में पश्चिमी भित्ति में जड़ी हुई तीर्थकर की माता की मूर्ति। (ख) एक पंक्ति। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) संवत् 1030। (ङ) संवत् 1030 के आगे उत्कीर्ण वर्ण अस्पष्ट हो गये हैं। अनुमानतः दाता का नाम होना चाहिए।

30. (क) जैन मन्दिर संख्या चार के गर्भगृह में स्थित (तीन फुट साढ़े आठ इंच ऊँची) पद्मासन तीर्थंकर मूर्ति। (ख) तीन पंक्तियाँ। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) अज्ञात। (ङ) आर्यिका इन्दुआ का नाम उत्कीर्ण है।
31. (क) जैन मन्दिर संख्या चार में दो फुट 11 इंच ऊँची कायोत्सर्ग तीर्थंकर मूर्ति। (ख) एक पंक्ति। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) अज्ञात। (ङ) दाता, विरच (इन्द्र) उत्कीर्ण है।
32. (क) जैन मन्दिर संख्या चार में 5 फुट ऊँची कायोत्सर्ग तीर्थंकर मूर्ति। (ख) एक पंक्ति। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) अज्ञात। (ङ) आर्यिका गणी का नाम उत्कीर्ण है।
33. (क) जैन मन्दिर संख्या चार के मण्डप का स्तम्भ। (ख) एक पंक्ति। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) अज्ञात। (ङ) भावनन्दी उत्कीर्ण है।
34. (क) जैन मन्दिर संख्या चार के मण्डप का स्तम्भ। (ख) सोलह पंक्तियाँ। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) संवत् 1307। (ङ) अस्पष्ट हो गया है।
35. (क) जैन मन्दिर संख्या पाँच के पश्चिमी द्वार की देहरी। (ख) एक पंक्ति। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) संवत् 1500। (ङ) अस्पष्ट हो गया है।
36. (क) जैन मन्दिर संख्या पाँच के प्रवेश-द्वार के दायें पश्चिमी भित्ति पर। (ख) तीन पंक्तियाँ। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) मंगलवार, माघ सुदी अष्टमी, संवत् 1120। (ङ) केवल तिथि उत्कीर्ण है।
37. (क) जैन मन्दिर संख्या पाँच के गर्भगृह में पूर्वी द्वार के ऊपर जड़ा हुआ प्रस्तरफलक। (ख) चौदह पंक्तियाँ। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) सोमवार, भाद्रपद सुदी सप्तमी, वि. संवत् 1503, सुलतान महमूद। (ङ) इस मन्दिर के जीर्णोद्धार का विवरण दिया गया है।
38. (क) जैन मन्दिर संख्या छह में स्तम्भ। (ख) क्रमशः दो और तीन पंक्तियों के दो अभिलेख। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) अज्ञात। (ङ) अस्पष्ट।
39. (क) जैन मन्दिर संख्या छह में तीर्थंकर मूर्ति। (ख) दो पंक्तियाँ। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) अज्ञात। (ङ) यह मूर्ति चन्द्रकीर्ति द्वारा अर्पित की गयी थी, इस तथ्य का विवरण दिया गया है।
40. (क) जैन मन्दिर संख्या छह में स्तम्भ। (ख) 21 पंक्तियाँ। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) मार्गशीर्ष सुदी पंचमी, संवत् 1382। (ङ) अस्पष्ट हो गया है।
41. (क) जैन मन्दिर संख्या सात में चरणपादुका। (ख) आठ पंक्तियाँ। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) फाल्गुन सुदी अष्टमी, वि. सं. 1693 तथा पौष सुदी द्वितीया वि. सं. 1695, महाराजाधिराज उदयसिंह। (ङ) चरण-पादुकाओं की स्थापना का विवरण दिया गया है।

- 42-44. (क) जैन मन्दिर संख्या 10 में मध्यवर्ती (मूर्तियुक्त) तीन स्तम्भ।  
 (ख) ..... (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) अज्ञात।  
 (ङ) आदिनाथ, शान्तिनाथ, महावीर आदि जैन तीर्थकरों का स्तवन है।
45. (क) जैन मन्दिर संख्या 11 की मुख्य मूर्ति (पहली मंजिल के गर्भगृह में स्थापित)। (ख) तीन पंक्तियाँ। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) संवत् 1105। (ङ) वर्मसिंघ, ललितसिंघ और अजितसिंघ आदि के नाम उत्कीर्ण हैं; अनुमानतः ये मूर्तिसमर्पक होंगे।
46. (क) जैन मन्दिर संख्या 11 में शान्तिनाथ की मूर्ति। (ख) एक पंक्ति। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) अज्ञात। (ङ) इस मूर्ति की स्थापना भुवनसिंह द्वारा की गयी।
- 47-48. (क) जैन मन्दिर संख्या 12 के गर्भगृह में उत्तरी एवं दक्षिणी भित्ति में देवकुलिकाएँ। (ख) एक-एक पंक्ति। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) संवत् 1210। (ङ) महासामन्त श्री उदयपाल देव के द्वारा निर्मापित और भेंट की गयी एक मूर्ति की यहाँ स्थापना का विवरण।
49. (क) जैन मन्दिर संख्या 12 में एक फुट चार इंच ऊँची पद्मासन तीर्थकर मूर्ति। (ख) दो पंक्तियाँ। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) संवत् 1105। (ङ) अस्पष्ट।
50. (क) जैन मन्दिर संख्या 12 में एक फुट साढ़े तीन इंच ऊँची पद्मासन तीर्थकर मूर्ति। (ख) एक पंक्ति। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) संवत् 1139। (ङ) यह मूर्ति माधवचन्द्र द्वारा स्थापित की गयी।
51. (क) जैन मन्दिर संख्या 12 में अजितनाथ की चार फुट साढ़े चार इंच ऊँची कायोत्सर्ग मूर्ति। (ख) दो पंक्तियाँ। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) सोमवार, आषाढ़ सुदी 5, संवत् 1176। (ङ) सोमती ने इस मूर्ति की प्रतिष्ठा करायी।
52. (क) जैन मन्दिर संख्या 12 में आदिनाथ की दो फुट छह इंच ऊँची कायोत्सर्ग मूर्ति। (ख) चार पंक्तियाँ। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) संवत् 1201। (ङ) आर्यिका मदन जिन्होंने इस मूर्ति की प्रतिष्ठा करायी।
53. (क) जैन मन्दिर संख्या 12 के महामण्डप में पृथक् रखा हुआ स्तम्भ। (ख) छह पंक्तियाँ। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) संवत् 1384 (? )। (ङ) अस्पष्ट।
54. (क) जैन मन्दिर संख्या 12 के महामण्डप में पश्चिमी बहिर्भित्ति (जो अब हटा दी गयी है) में से प्राप्त अभिलेख। (ख) चार पंक्तियाँ। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) संवत् 1394। (ङ) अस्पष्ट।
55. (क) उक्त बहिर्भित्ति से प्राप्त किन्तु सम्प्रति जैन धर्मशाला में सुरक्षित।

- (ख) तेरह पंक्तियाँ। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) गुरुवार, वैशाख वदी पंचमी, संवत् 1493। (ङ) शान्तिनाथ मन्दिर का मण्डप संघश्री के सहयोग से पति जुगराज द्वारा बनवाये जाने का विवरण।
56. (क) जैन मन्दिर संख्या 12 के महामण्डप में छह फुट ढाई इंच ऊँचा स्तम्भ। (ख) नौ पंक्तियाँ। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) मार्गशीर्ष वदी 11, संवत् 1591। (ङ) अस्पष्ट।
57. (क) अठारह भाषा और लिपियों के लिए प्रसिद्ध 'ज्ञानशिला' नामक अभिलेख। (ख) नौ पंक्तियाँ। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) अज्ञात। (ङ) इसकी सभी लिपियाँ अब तक पढ़ी नहीं जा सकी हैं।
58. (क) जैन मन्दिर संख्या 12 के महामण्डप का स्तम्भ। (ख) तीन पंक्तियाँ। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) अज्ञात। (ङ) चक्रेश्वरी की मूर्ति तथा उसके मूल प्रतिष्ठापक श्री कमलदेवाचार्य एवं श्रीदेव का वर्णन।
59. (क) जैन मन्दिर संख्या 12 में चन्द्रप्रभ की कायोत्सर्ग मूर्ति। (ख) एक पंक्ति। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) अज्ञात। (ङ) मूर्ति प्रतिष्ठात्री सोमती की बहिन धनिया।
60. (क) जैन मन्दिर संख्या 12 में सम्भवनाथ की चार फुट दो इंच ऊँची कायोत्सर्ग मूर्ति। (ख) एक पंक्ति। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) अज्ञात। (ङ) मूर्ति प्रतिष्ठापक राजपाल।
61. (क) जैन मन्दिर संख्या 12 में अजितनाथ की चार फुट ऊँची कायोत्सर्ग मूर्ति। (ख) एक पंक्ति। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) अज्ञात। (ङ) मूर्ति प्रतिष्ठापक मठपति जज।
- 62-81. (क) जैन मन्दिर संख्या 12 के प्रदक्षिणापथ की बहिर्भित्तियों में जड़ी हुई यक्षी मूर्तियाँ। (ख) एक-एक पंक्ति। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) अज्ञात। (ङ) यक्षी मूर्तियों के ऊपर उनके नाम उत्कीर्ण हैं।
82. (क) जैन मन्दिर संख्या 12 में ऋषभनाथ की 4 फुट 6 इंच ऊँची पद्मासन मूर्ति। (ख) दो पंक्तियाँ। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) संवत् 1210। (ङ) अस्पष्ट।
83. (क) जैन मन्दिर संख्या 12 में चतुर्भुजी देवी। (ख) एक पंक्ति। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) अज्ञात। (ङ) अस्पष्ट।
84. (क) जैन मन्दिर संख्या 12 के प्रदक्षिणापथ में 7 फुट 3 इंच ऊँची पार्श्वनाथ की कायोत्सर्ग मूर्ति। (ख) दो पंक्तियाँ। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) अज्ञात। (ङ) अस्पष्ट।
85. (क) उक्त मन्दिर के प्रदक्षिणापथ में स्थित 10 फुट ऊँची तीर्थकर की कायोत्सर्ग मूर्ति। (ख) चार पंक्तियाँ। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) अज्ञात। (ङ) माधवदेवचन्द्र का नाम अंकित है।

278 :: देवगढ़ की जैन कला : एक सांस्कृतिक अध्ययन

86. (क) उक्त मन्दिर के प्रदक्षिणापथ में स्थित पार्श्वनाथ की 10 फुट 2 इंच ऊँची कायोत्सर्ग मूर्ति। (ख) छह पंक्तियाँ। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) अज्ञात। (ङ) प्रतिष्ठापक युगल भ्राता गंगक और शिवदेव।
87. (क) उक्त मन्दिर के महामण्डप में आठ फुट ऊँची पार्श्वनाथ की कायोत्सर्ग मूर्ति। (ख) क्रमशः तीन एवं दो पंक्तियों के दो अभिलेख। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) अज्ञात। (ङ) अस्पष्ट।
88. (क) जैन मन्दिर संख्या 12 के अर्धमण्डप का दक्षिण-पूर्वी स्तम्भ। (ख) दस पंक्तियाँ। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) गुरुवार, अश्वयुज शुक्ल चतुर्दशी, वि. सं. 919, भोजदेव (कन्नौज के गुर्जर-प्रतिहारवंशी शासक)। (ङ) इस स्तम्भ की स्थापना श्री कमलदेवाचार्य के शिष्य श्रीदेव ने करायी थी। उस समय यह स्थान गुर्जर-प्रतिहारवंशी शासक भोजदेव की राज्यसीमा में था और यहाँ उसके महासामन्त विष्णुराम पचिन्द का शासन था तथा इस स्थान का नाम उस समय लुअच्छगिरि था। अभिलेख पाठ के लिए देखे, परिशिष्ट दो, अभिलेख क्रमांक एक।
89. (क) जैन मन्दिर संख्या 13 में तीर्थकर मूर्ति का सिंहासन। (ख) एक पंक्ति। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) अज्ञात। (ङ) इस मूर्ति के समर्पण का विवरण।
90. (क) जैन मन्दिर संख्या 14 के दायीं प्रवेश-द्वार का सिरदल। (ख) एक पंक्ति। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) अज्ञात। (ङ) श्री नागसेन आचार्य द्वारा इस द्वार के दान कराने का विवरण।
91. (क) जैन मन्दिर संख्या 14 के द्वार के बाहर। (ख) एक पंक्ति। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) अज्ञात। (ङ) दाता कल्लण।
92. (क) जैन मन्दिर संख्या 15 में चार फुट एक इंच ऊँची कायोत्सर्ग तीर्थकर मूर्ति। (ख) दो पंक्तियाँ। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) अज्ञात। (ङ) मूर्ति समर्पण का विवरण।
93. (क) जैन मन्दिर संख्या 16 के अर्धमण्डप का दायीं स्तम्भ। (ख) चार अभिलेख। (ग) अशुद्ध संस्कृत, देवनागरी। (घ) अज्ञात। (ङ) चार विभिन्न भक्तों द्वारा इस स्तम्भ के निमित्त किये गये दान का विवरण।
94. (क) उक्त मन्दिर के अर्धमण्डप का बायाँ स्तम्भ। (ख) पाँच अभिलेख। (ग) अशुद्ध संस्कृत, देवनागरी। (घ) संवत् 1208। (ङ) विभिन्न भक्तों द्वारा इस स्तम्भ के निमित्त दिये गये दान का विवरण।
95. (क) उक्त मन्दिर के गर्भगृह का स्तम्भ। (ख) एक पंक्ति। (ग) अशुद्ध संस्कृत, देवनागरी। (घ) संवत् 1220। (ङ) पण्डित माधवनन्दी की वन्दना का विवरण।

96. (क) उक्त मन्दिर के गर्भगृह के स्तम्भ पर उत्कीर्ण पद्मासन मूर्ति। (ख) दो पंक्तियाँ। (ग) हिन्दी, देवनागरी। (घ) अज्ञात। (ङ) अस्पष्ट।
97. (क) उक्त मन्दिर के गर्भगृह का स्तम्भ। (ख) आठ पंक्तियाँ। (ग) अशुद्ध संस्कृत, देवनागरी। (घ) बुधवार, माघ सुदी अष्टमी, संवत् 1495। (ङ) अस्पष्ट।
98. (क) जैन मन्दिर संख्या 17 में स्थित चार फुट ऊँची कायोत्सर्ग तीर्थकर मूर्ति। (ख) एक पंक्ति। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) अज्ञात। (ङ) प्रदाता सदिया।
99. (क) जैन मन्दिर संख्या 18 के समक्ष (चबूतरे पर) अवस्थित मानस्तम्भ। (ख) तीन पंक्तियाँ। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) संवत् 1121, राज्यपाल। (ङ) श्री यशस्कीर्त्याचार्य ने राज्यपाल मठ (मं. सं. 18) के समक्ष दो मानस्तम्भ स्थापित कराये। यह राज्यपाल मठ मन्दिर सं. 18 का प्राचीन नाम होना चाहिए।
100. (क) जैन मन्दिर संख्या 19 में विद्यमान चक्रेश्वरी यक्षी की मूर्ति। (ख) एक पंक्ति। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) अज्ञात। (ङ) इस मूर्ति का दान राज्यपाल की पत्नी ने किया।
101. (क) जैन मन्दिर संख्या 16 के समीप प्राप्त अभिलिखित स्तम्भ। (ख) बारह पंक्तियाँ अपूर्ण। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) अज्ञात। (ङ) आचार्य माघनन्दी और उनकी प्रभावोत्पादक व्याख्यान शैली का वर्णन।
102. (क) जैन मन्दिर संख्या 19 में स्थित देवी मूर्ति। (ख) छह पंक्तियाँ। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) संवत् 11... (यह अभिलेख 12वीं शती का होना चाहिए, इसमें 11 के परवर्ती दो वर्ण टूट गये हैं)। (ङ) इस देवी मूर्ति का निर्माण त्रिभुवनकीर्ति की प्रेरणा से हुआ।
103. (क) जैन मन्दिर संख्या 19 में स्थित सरस्वती की मूर्ति। (ख) आठ पंक्तियाँ। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) अज्ञात। (ङ) यह मूर्ति भी त्रिभुवनकीर्ति की प्रेरणा से निर्मित हुई।
104. (क) जैन मन्दिर संख्या 19 में स्थित पद्मावती यक्षी की मूर्ति। (ख) छह पंक्तियाँ। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) संवत् 1126। (ङ) पद्मावती यक्षी की यह मूर्ति अमोदिनी के द्रव्य से प्रतिष्ठित हुई। इस अभिलेख में उत्कीर्ण-कर्ता ने अपना नाम भी अंकित किया है—पं. गोपाल।
105. (क) जैन मन्दिर संख्या 20 का प्रवेश-द्वार। (ख) तीन पंक्तियाँ। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) अज्ञात। (ङ) अत्यन्त टूटा-फूटा।
106. (क) जैन मन्दिर संख्या 20 में स्थित शान्तिनाथ की कायोत्सर्ग मूर्ति। (ख)

- एक पंक्ति। (ग) अशुद्ध संस्कृत, देवनागरी। (घ) अज्ञात।  
 (ङ) प्रदाता—त्रिभुवनकीर्ति।
107. (क) जैन मन्दिर संख्या 20 में चार फुट ऊँची कायोत्सर्ग तीर्थकर मूर्ति।  
 (ख) एक पंक्ति। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) संवत् 1135। (ङ) प्रदात्री  
 आर्यिका लवणश्री।
108. (क) जैन मन्दिर संख्या 20 में पाँच फुट नौ इंच ऊँची कायोत्सर्ग तीर्थकर  
 मूर्ति। (ख) दो पंक्तियाँ। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) अज्ञात।  
 (ङ) अस्पष्ट।
109. (क) उक्त मन्दिर में एक तीर्थकर मूर्ति का सिंहासन। (ख) एक पंक्ति।  
 (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) अज्ञात। (ङ) इस तीर्थकर-मूर्ति की प्रतिष्ठा  
 लोकनन्दी के शिष्य द्वारा हुई।
110. (क) उक्त मन्दिर में चार फुट दो इंच ऊँची कायोत्सर्ग तीर्थकर मूर्ति।  
 (ख) एक पंक्ति। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) अज्ञात। (ङ) प्रदाता मौना  
 साह।
111. (क) उक्त मन्दिर में चार फुट छह इंच ऊँची कायोत्सर्ग तीर्थकर  
 मूर्ति। (ख) तीन पंक्तियाँ। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) संवत् 1136।  
 (ङ) सरजासौधरा के पुत्र द्वारा इस मूर्ति के समर्पण का विवरण।
112. (क) जैन मन्दिर संख्या 21 के मण्डप की भित्ति। (ख) दो पंक्तियाँ।  
 (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) अज्ञात। (ङ) श्री गुणनन्दी आदि का  
 आदरपूर्वक उल्लेख।
113. (क) उक्त मन्दिर में चार फुट ग्यारह इंच ऊँची कायोत्सर्ग तीर्थकर मूर्ति।  
 (ख) एक पंक्ति। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) अज्ञात। (ङ) अस्पष्ट है।
114. (क) उक्त मन्दिर में चन्द्रप्रभ स्वामी की पद्यासन मूर्ति। (ख) दो  
 पंक्तियाँ। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) संवत् 1136। (ङ) आ. लोकनन्दी  
 के शिष्य गुणनन्दी द्वारा यह मूर्ति प्रतिष्ठित हुई।
115. (क) उक्त मन्दिर में पाँच फुट साढ़े चार इंच ऊँची कायोत्सर्ग तीर्थकर  
 मूर्ति। (ख) दो-दो पंक्तियों के दो अभिलेख। (ग) संस्कृत, देवनागरी।  
 (घ) अज्ञात। (ङ) आ. लोकनन्दी के शिष्य गुणनन्दी द्वारा यह मूर्ति  
 प्रतिष्ठित हुई।
116. (क) उक्त मन्दिर के मण्डप की भित्ति। (ख) एक पंक्ति। (ग) संस्कृत,  
 देवनागरी। (घ) अज्ञात। (ङ) लोकनन्दी के शिष्य गुणनन्दी द्वारा इस  
 भित्ति के पुनरुद्धार का संकेत।
117. (क) जैन मन्दिर संख्या 21 में चार फुट साढ़े सात इंच ऊँची मल्लिनाथ

- की कायोत्सर्ग मूर्ति। (ख) एक पंक्ति। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) अज्ञात। (ङ) प्रदाता प्रभाकर।
118. (क) जैन मन्दिर संख्या 21 में चार फुट दस इंच ऊँची कायोत्सर्ग मूर्ति। (ख) एक पंक्ति। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) अज्ञात। (ङ) प्रदाता रुद्रवान।
119. (क) उक्त मन्दिर में चन्द्रप्रभ की पद्मासन मूर्ति। (ख) एक पंक्ति। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) अज्ञात। (ङ) प्रदाता गुणनन्दी।
120. (क) उक्त मन्दिर में सम्भवनाथ की कायोत्सर्ग मूर्ति। (ख) एक पंक्ति। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) अज्ञात। (ङ) प्रदात्री लालसा।
121. (क) जैन मन्दिर संख्या 22 के प्रवेशद्वार का सिरदल। (ख) एक पंक्ति। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) अज्ञात। (ङ) 'श्री मालव नागत्रात' केवल इतना अभिलेख उत्कीर्ण है।
122. (क) जैन मन्दिर संख्या 28 में स्थित नौ फुट दो इंच ऊँची कायोत्सर्ग तीर्थंकर मूर्ति। (ख) चार पंक्तियाँ। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) अज्ञात। (ङ) इस मूर्ति का निर्माण चतुर्विध संघ के लिए किया गया।
123. (क) जैन मन्दिर संख्या 28 की पश्चिमी बहिर्भित्ति। (ख) एक पंक्ति। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) आषाढ़ वदी त्रयोदशी, संवत् 1496। (ङ) केवल तिथि उत्कीर्ण है।
124. (क) जैन मन्दिर संख्या 30 में स्थित चार फुट पाँच इंच ऊँची कायोत्सर्ग तीर्थंकर मूर्ति का सिंहासन। (ख) एक पंक्ति। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) अज्ञात। (ङ) सहस्रकीर्ति का उल्लेख है।
125. (क) जैन मन्दिरों के कोट की उत्तरी दीवार। (ख) पाँच पंक्तियाँ। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) अज्ञात। (ङ) इसमें उल्लेख है कि कुछ पण्डितों ने सामूहिक रूप से एक दानशाला का निर्माण कराया था।
126. (क) जैन मन्दिरों के कोट की उत्तरी दीवार। (ख) दो पंक्तियाँ। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) अज्ञात। (ङ) इसमें उल्लेख है कि एक गोष्ठी द्वारा दानशाला का निर्माण कराया गया था।
127. (क) जैन मन्दिरों के कोट की उत्तरी दीवार। (ख) तीन पंक्तियाँ। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) अज्ञात। (ङ) एक गोष्ठी का वर्णन किया गया है।
128. (क) जैन मन्दिरों के कोट की उत्तरी दीवार। (ख) दो पंक्तियाँ। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) अज्ञात। (ङ) श्री नेमिदेव पण्डित का वर्णन।
129. (क) जैन मन्दिरों के कोट की उत्तरी दीवार। (ख) तीन पंक्तियाँ। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) अज्ञात। (ङ) एक दानशाला का वर्णन।



130. (क) जैन मन्दिर संख्या 12 में स्थित तीर्थंकर मूर्ति। (ख) तीन पंक्तियाँ। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) अज्ञात। (ङ) जैन शासन से प्रभावित किसी नागेन्द्र आदि का वर्णन। अधिकांश अक्षर टूट गये हैं।
131. (क) जैन मन्दिर संख्या 12 में स्थित तीर्थंकर मूर्ति। (ख) पाँच पंक्तियाँ। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) अज्ञात। (ङ) आचार्य माधवदेव और उनके शिष्यों का उल्लेख है। बीच-बीच में इस अभिलेख के अधिकांश अक्षर टूट गये हैं। इसके नीचेवाली पंक्तियों में उल्लेख है 'जिनबिम्ब कारितम् शुभम्'।
132. (क) जैन मन्दिर संख्या 12 में स्थित तीर्थंकर मूर्ति। (ख) दो पंक्तियाँ। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) अज्ञात। (ङ) इस अभिलेख के अक्षर सुरक्षित होने पर भी अपाठ्य हो गये हैं। केवल प्रारम्भिक शब्द 'सिद्धंश्री' पढ़ने में आता है। ऐसा प्रतीत होता है कि इसमें कुछ वर्ण बाद में उत्कीर्ण किये गये हैं।
133. (क) जैन मन्दिर संख्या 12 में स्थित तीर्थंकर मूर्ति। (ख) दो पंक्तियाँ। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) अज्ञात। (ङ) उल्लेख है कि इस मूर्ति का निर्माण इताम के पुत्र गणदेव ने कराया।
134. (क) जैन मन्दिर संख्या 12 के गर्भगृह के प्रवेश-द्वार का दायें पक्ष। (ख) चार पंक्तियाँ। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) संवत् 1051। (ङ) संवत् 1051 में इस प्रवेश-द्वार के नवीनीकरण का विवरण दिया है।
135. (क) जैन चहारदीवारी, पश्चिमी भित्ति (भीतरी ओर) में प्रवेश-द्वार के दायें जड़ी हुई तीर्थंकर की कायोत्सर्ग मूर्ति। (ख) एक पंक्ति। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) अज्ञात। (ङ) ब्रह्मचारी नवल का प्रणाम उत्कीर्ण है।
136. (क) जैन चहारदीवारी, पश्चिमी भित्ति (भीतरी ओर) में प्रवेश-द्वार के दायें जड़ी हुई तीर्थंकर की कायोत्सर्ग मूर्ति। (ख) एक पंक्ति। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) अज्ञात। (ङ) जिनमती का प्रणाम अंकित है।
137. (क) जैन चहारदीवारी पश्चिमी भित्ति (भीतरी ओर) में प्रवेश-द्वार के दायें जड़ी हुई तीर्थंकर की कायोत्सर्ग मूर्ति। (ख) एक पंक्ति। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) अज्ञात। (ङ) सालसा का प्रणाम अंकित है।
138. (क) एक पत्थर की बावड़ी के निकट प्राप्त स्तम्भ का खण्डित अंश। (ख) दस पंक्तियाँ। (ग) संस्कृत, देवनागरी। (घ) शनिवार, फाल्गुन बदी दशमी, सं. 1631। (ङ) कुछ पण्डितों का वर्णन है।

## 2. अभिलेख-पाठ

### अभिलेख क्रमांक एक

(विक्रम संख्या 919, गुर्जर प्रतिहार शासक भोजदेव के समय का, मं. संख्या 12 के अर्धमण्डप के दक्षिण-पूर्वी स्तम्भ पर उत्कीर्ण)

1. (ओं) परमभट्टारकमहाराजाधिराजपरमेश्वरश्री
2. भोजदेवमहीवर्द्धमान-कल्याणविजयराजे
3. तत्प्रदत्तपंचमहाशब्दमहासामन्तश्रीविष्णु ।
4. रामपचिन्द्रराज्यमध्ये लुअच्छगिरे श्रीशान्त्यायत(न) ।
5. (स)निधे श्रीकमलदेवाचार्यशिष्येण श्रीदेवेन कारा—
6. पितं इदं स्तम्भम् संवत् 919 अस्व(श्व)युजशुक्ता
7. पक्षचतुर्दश्यां बृहस्पतिदिनेन उत्तरभाद्रप
8. दानक्षत्रे इदं स्तम्भं समाप्तमिति ॥ 0 ॥

### अभिलेख क्रमांक दो

(विक्रम संवत् 1154, राजघाटी में चन्देल शासक कीर्तिवर्मा के मन्त्री द्वारा उत्कीर्ण कराया गया)

1. ॐ नमः शिवाय चान्देल्लवंशकुमुदेन्दुविशालकीर्तिः, ख्यातो बभूव नृप-संघनतांघ्रिपद्मः ।
2. विद्याधरो नरपतिः कमला-निवासो, जातस्ततो विजयपालनृपो नृपेन्द्रः ॥  
(1) तस्माद् धर्मपरश्रीम-
3. न् कीर्तिवर्मनृपोऽभवत् । यस्य कीर्तिसुधाशुभ्रे त्रैलोक्यं सौधतामगात् ॥ (2)  
अगदं नूतनं विष्णुमाविर्भूतमवाप्स्य...
4. यम् । नृपाब्धितस्समाकृष्टा श्रीरस्थैर्यममार्जयत् ॥ (3)  
राजोद्भुमध्यगतचन्द्रनिभस्य यस्य नूनं युधिष्ठिर यदा शिवरामच...

5. न्द्रः । एते प्रसन्नगुणरत्ननिधौ निविष्टा, यत्तद्गुणप्रकररत्नमयं शरीरं ॥ (4)  
तदीयामात्य-मन्त्रीन्द्रो रमणीपूर्वाविनिर्ग-
6. तः । वत्सराजेति विख्यातः श्रीमान् महीधरात्मजः ॥ (5)  
ख्यातो बभूव किल मन्त्रिपदैकमन्त्रे वाचस्पर्तिस्त....
7. दिह मन्त्रगुणैरुभास्थाम् ॥ योऽयं समस्तमपि मण्डलमाशु  
शत्रोराच्छिद्य कीर्तिगिरि-दुर्गमिदं व्यधत् ॥ (6)
8. श्रीवत्सराजघाटोऽयं नूनं तेनात्र कारितः ।  
ब्रह्माण्डमुज्ज्वलं कीर्तिमारोहयितुमात्मनः ।  
संवत् 1154 चैत्रवदि 2 बुधौ ।

### अभिलेख क्रमांक तीन

(उपाध्याय मूर्ति पर उत्कीर्ण, विक्रम संवत् 1333)

सं. 1333 ज्येष्ठवदि 11 रवौ श्री नन्दिसंघ बलात्कारगणे आचार्यश्री  
कनकचन्द्रदेव तस्य शिष्य लक्ष्मीचन्द्र देव तस्य शिष्य हेमचन्द्रदेव ।

रामचन्द्र तस्य माता सागरसिरि तस्य चेली सालसिरि, उदयसिरि, छात्रनामदेव ।  
प्रणमति नित्यं ।

सरधान-मत सुतहुसौ प्रणमति नित्यं ।

### अभिलेख क्रमांक चार

(दिल्ली संग्रहालय में सुरक्षित, विक्रम संवत् 1481)

1. वृषभ जयत संश्रीमद्वर्द्धमानमहोदये विपुलं विलसत्कान्तौ कान्ताख्येऽमृत-  
सागरे । सुगतसुमतिम-नेणाकाकलंक सकीमुदं वितनुते सतां शान्त्यै शान्तिश्रियं  
सुमिर्तजयं ॥1॥ ...भुवः श्रौते नश्वरानुदयाय ते । तच्चिद्वद्वज्ज्वल-ज्ज्योतिराहृतं  
श्रेयसे ध्रियं ॥2॥ पायादपायात् सदवः सदा नः सदाशिवो यद्विशदो  
हिताप्तो चंचच्चिदा
2. नन्दविशुद्धचन्द्रद्युतो चक्रोरं त्यपि (?) शुद्धहंसाः ॥3॥ श्रीशंकरं श्रीरमणा-  
भिरामं... सल्लक्ष्मणमहंणार्हं । जिनेन्द्रनन्दं धनदं सुमित्रमजातशत्रुं विभजे  
चक्रोरं ॥4॥ स्वधाममायायामयमप्यमायं वामं लसल्लक्ष्मण महंणार्हं ।  
सीतेशसुप्रोवमहाहंणार्हं वन्दे
3. सहर्षं सहसैकशीर्षं ॥5॥ सशन्यदुःशासननाशहेतुमजातशत्रुं सहदेववच्यं ।  
वन्दे विशालाजुन सद्य... नन्दत्सतां कर्णकुलं मृगाकं ॥6॥ वामयैघाष्टकं (?)  
स्येन कर्माधाक्षीदु यरक्षरं (?) । साद्योर्द्धाद्धदुरेखं तन्हंलीयं विलयश्रियं ॥7॥  
विगर्जन्नागरजाकं

4. मजितं तक्षकं नुमः । दुर्घटं सुघटद्वर्द्धमानजैनमहोत्सवं ॥8॥ वदनपरगिरीशो  
...वित्रिदशन....वेत्रवत्याकलैर्यत् । प्रभवत् स भृगांकोप्यस्तदोपोऽकलंकः ।  
कुवलयसुखहेतुर्नः श्रिये शान्तिसोमः ॥9॥ योदीदहच्च तिलकक्षेणवह्निनेह  
क्रामं
5. अमीपरदरं जनकं तदीयं । शक्त्यान्वितस्त्रिनयनोप्यपवामवामः शान्तीश्वरस्त्रि-  
जगतां स शिवाय....पदपदायुग्म....उच्य उपास्महे तदहं मुदा यदमर्त्यमर्त्यभुजंग-  
मनभ्रमौलिकुलास्मज्जित । विदलत्तमालसमुल्लसत्सुनखेन्दुमण्डपमण्डली-  
विगलांशुभिर्भवश्री
6. मुखः शशिनोऽर्हतो भवसंवभे ॥1॥ क्षीरकूर्पूनीहार-हारहीरहरावरां कुन्देन्दुकुमु-  
...क्षीरसमुद्रसान्द्र विलसत्कल्लोलमालोज्ज्वलां श्रीसर्व्वज्ञ सुधांशुमण्डलमिलत्-  
वर्लोककल्लोलिनीं । विद्रावन् निजभक्तचेतसि समुन्मीलतमोपद्रवां वन्दे
7. जाड्यभिदे मुदे च भगवद्द्वारणीं च सत्सम्पदे ॥ श्रीमूल-लक्ष्म्या नृपनन्दिसंघे  
गच्छेपतुच्छं मदसारदाख्ये । क्षणे वलात्कारगणे गरिष्ठे श्रीकुं....जिनेन्द्र-  
चन्द्राममदुर्गमार्गीं यस्योडुपं त्यत्र सतां हि वाचः । अद्याप्युदंनद्यशामजस्र-  
वन्धाश्च स धर्मचन्द्रः ॥2 यस्याशागजकर्णकैरववना
8. नन्दैकसत्कौमुदीकीर्तिर्नागनरामरेन्द्रभुवने जेगीयतेऽहर्निशं । धर्मेन्दुः सकलः  
कलंकविकलः स स्याच्छुधांशुश्रिये श्रीमूल....विलसत्त्व...दने ॥3  
धर्मचन्द्रमुनीन्द्रस्य पट्टोत्कृष्टोदयाचले । यस्योदयोऽ भवत्तस्य तमस्तोमाप-  
नादिनः ॥4 रत्नकीर्तिलसन्मूर्त्तिस्तिग्मांशोः क
9. मलोदये । सतामप्यपपंकानां तपसां स्युर्यशोऽशवः ॥5 अद्याप्युच्चैर्नृम्भे  
चरणचवचितस्रम्भदम्भाद् यदीया ज्योत्सनेवानुष्णरश्मेः क्षरदमृतमयी.... ।  
सस्या....समिनां पुण्यपुण्योपदेष्टा सृष्टा सप्तप्रतिष्ठासु च जिनशशिना  
रत्नकीर्तिं प्रशस्त्ये ॥2 रत्नकीर्तिपदाम्भोजकमलालंकृतासने । ये नौद्यदाग्नि
10. लासेन भारती भूषणायितं ॥ गज्जदुर्वादिवृन्दाम्बुददलनविधौ योऽभवत्ती-  
व्रवातस्त्वेकान्तध्वान्तभानुः कुवलयसुखकृद् यस्त्वनैकान्त....द्वान्तांकोकलंक  
...सकलकलः शंकरो + + वृत्तः स्याद्वृद्धये मूलसंघामलकमलनिधौ श्री  
प्रभाचन्द्रदेवः ॥1 पदे ततो नमदशेषमहीशभाललग्नानि यत्क्रमरजस्तिल-  
कान्यभूवन्
11. कल्याणकारिकमलाकुचकेलिदानि पापापहानि सभभूदिह पचनन्दी ॥ कः  
सरीतर्त्ति साम्यत्वं सन्निधावब्जनन्दिनः । न...न सम्ममे वस्य स...॥2 के के  
पुराणसारीण्यं शिष्यानाकर्ण्य कर्णयोः । श्रीपद्मनन्दिनः प्रापुः सस्मितां  
धर्मदेशनां ॥3 प्रेम्ना कज्जलितं विशच्छलभितं चेतोभुवा वर्त्ति...
12. तं रागाद्यैः स्मयदृषितैः परमतेऽप्रस्वत्तमस्तोमितं । भादैः प्रस्फुटितं नयैर्विरचितं  
धर्मैः समुद्योतितं सत्यात्राम्बुजनन्दिदीपतपसि प्राग्जैनधर्मात्ये ॥4 से...क

..चलति सदसत्यनुष्णा द्युतिः क्षीराम्भोध्यातिचन्द्रमत्यहरहः स्पर्द्धन्ति हन्ता  
अति । श्रीमानम्बुजनन्दिनस्त्रिभुवने जेगीयमाना न वै

13. बाघत्सद्यशसा न केन सुनटी कीर्तिर्नरीनर्त्वहो ॥5 ज्ञानार्णवः समयसार-  
गभीरशब्दसल्लक्षणः प्रणवलीनलयः प्रमाणः । सि-भुवनोपकृत्यै...॥6  
इन्द्रोपेन्द्रफणीन्द्रगीष्णतिमतिं यः कोऽपि धत्ते पुमान् मन्ये पंकजनन्दिनो  
गणगुणान् वक्तुं न सोपीश ते । संसारार्णवतीर्ण
14. यामलधिया सन्नौकया सन्मुनेर्निष्कल्लोलचिदम्बुधावचलया पद्यायितं लीलया  
॥2 श्रीपञ्चनन्दिसुगुरोः पदपञ्चप...धर्मोपलक्षितदिशा + + + + भारमनोभिरम्यः  
प्रोद्भेद्ये कांमुदभरं शुभचन्द्रदेवः ॥1 अथ संवत्सरोस्मिन् नृपविक्रमादित्यगताब्द  
1481 शा
15. के श्रीशालिवाहानाम् 1346 वैशाखमासशुक्लपक्षीयपूर्णमास्यां गुरुवासरे ।  
स्वातिनः(न)क्षत्रे । सिंहलग्नोदये ॥ अतिविक्र ...व्यैव्ये चन्द्राद्र्यध्वीन्दु  
वेशाखे पूर्णराकायां...मृगयोदये ॥...साकृष्टकृपाणपाणिविलसत्तीव्रप्रतापानल-  
ज्यालाजालसमाकुलीकृतगजाधीशा
16. घरीशैणपे । श्रीमान् मालवपालकैशकनृपे गौरीकुलोद्योतके निःक्रान्ते विजयाय  
मण्डपगुराच्छ्रीसाहि आलम्भके ॥1.....सुमण्डलमण्डमानाखण्डलबालकुल-  
मण्डमपी + + न्ये । संनिर्ममे शिवशिरोमणिवन्मनोज्ञं सद्वोधितः सुविधिना  
सुविधिः सुबोधः ॥1 सोऽभूत्स्मिन् त्रिभुवनपालो भुवने
17. लसद्यशः कलशः योऽलं त्रिभुवनलक्ष्म्या लेभे गणगुणं गणा ...रणं ॥2  
निर्दम्भः स्रम्भगर्जद् गजसकलकला लांकाकलंक....विपुलयशसो यस्य चित्रं  
पवित्रं । तस्य श्रीपुण्यलक्ष्याखिलगुणनिलयो धीरधीरो गभीरः पुत्रो गोत्रामप  
+ पममहिमनिधिर्धीरधीः साधुसाधुः ॥3 + + लवालकीर्तिलता वि
18. तानधारावरः सुसमयोप्यतमस्ककल्यः सन्तापहारि...कापसायंभव...वनिवि  
... देवः ॥ विद्युल्लतेव विमला....पतिव्रतांका सौभाग्यभूधरसुता नररत्नगर्भा  
तस्याम्बिका च वनिता जनिताम्बिकेव ॥5 अभूदसमसौम्योपि तयोपि  
तयोर्वागर्थयोरेव होलीसुनन्दनः श्रीमान्
19. रसोत्साहाभिनन्दनः ॥6 वर्द्धमानार्थिनामर्थे वर्द्धमानान् मनोरथान् सार्थयन्न्थतः  
श्रीमान् होली कल्पान्निपायते ॥7 सन्मूलः सदलोल्लसत्...प्रशाखोच्छिखः  
श्लाघ्य स्वच्छकुलैः फलैरविकलः सुच्छायकायश्चिवः । सन्तापेऽपि क्षपाकरः  
कुवलये श्रीहोलिकल्पान्निपो जीयात्तज्जितदुर्जनोऽर्जुनय
20. शोबासोऽर्कचन्द्रार्थिभिः (?) । 8 अविकल्पकल्पलतया सुकान्तया कान्तया-  
कान्तः । असकृत् सकृतसमुन्नतधाराधरनिर्भरासारैः ॥9 यः कान्ता ...लत  
....कमलाख्ययाधनाख्यं धनदं सुधर्नजयं साधुः ॥10 वधूधनश्रीफलमालयालं  
गल्लैशवंशानुजनन्दनैश्च सुवर्णरुक्माहिरमा

21. गरेभिः सरत्नभूगजरठकुराग्यैः ॥11 गाम्भीर्यजलदासयै विचलतां देवाचलो  
मार्दवं नृयत्कार्तिककेकिकाय विगलत्प ...तं ...दयः.....सदाश्रिततया सब्दे  
सहत्वं धरा यस्मादेव मिता ददुः स जयतात् श्रीहोलिसिंधाधिपः ॥2  
विस्मयन्ते परित्राणि...होलिसाधुना । य
22. वशोऽक्कृप्तदुरधाव्यो वृषः कौमुदमेधते ॥13 यद्यशो विष्णुनाप्युच्चैः  
कलाव्रप्यकलकिना । ...स मेघशेषत्वं विश्वविश्वमुपाददे ॥14 ...देव ...ति  
सुजनवांछ....णां । अनुभवित वचांसि गुरुविश्वं विस्मयति होलिकृतील ॥15  
गुणवानपि धर्मात्मा वक्रः सद्धर्मजोपि यः । यद ...सोमदो हो
23. ली ऋजुपन्थाप्यलोभभाक् ॥16 रोदसांवरसच्छुक्लासंपुराद् यद्यशोलसत्  
मुक्ता मुक्त्वांगना मुक्ताहारं होल्या रसोर्हतात् ॥17 सत्केतकीकु...काशसंकास  
...यशसात्ममयीकृताशः । सोल्लाससारसनिवासिमया महान्तो होलीश्वरोऽस्तु  
सधनंजयसार्धवाहः ॥18 नाको
24. सि त्वमहं वृषस्तनुतनुः किं पुत्रपित्रोः शुचा सानन्दं वद सद्य किं मृगयसे  
भूयोवतारस्तयोः । त ...क्व कलो वदाशु नृकवे किं वर्द्धमानेऽक्षये...मद्रूपो  
...होलि सं. ...रे ॥19 श्रीहोलीकमलाकरे कुवलयं सत्कीर्तिकंजायते  
शेषेनालसि सदहलीयति गजैर्दिक्षु प्रकाशीयति । मेरौ चित्रम
25. जात्र चित्रमपि तन्मित्रास्तचिन्तापमृद् यन्नालीयति सन्मगलति कलंकी यत्र  
दोषाकरः ॥20 चन्द्रो निहसिता ...तिप्रविकशद्...जम्यालति । सिद्धीपत्य-  
खिलाचलाचलविभुमं ...नन्तमित्युद्यद्दोलियशोम्बुधौ सम....धम्मकनोकेत्यहो ॥
26. 21 तत्रप्यत्रेको हेतुस्तद् यथा तथा हि॥ विविक्तः शक्तिमान् होली  
विविद्यश्चोक्तिमानहं । इत्यावयोर्महान् स्नेहः सततं ववृधे वुधाः ॥23  
येनाकारि मनोहारि...पुरन्दर...श्रीलजिनालवं ॥23 सतां सन्तोपपोपाय श्रेयसं  
चात्मनः श्रिवे । सुखाय विमुखाक्षाणां वंह स्नेहाय पश्यतां ॥24 खण्डे भू  
+ त + शो
27. तंसोभूत् साधुदेहाख्यः । वेदश्रिया स लेभेसुसुतं श्रीवल्लदेवाख्यं ॥ स  
वल्लणश्रीरमणोपि सूनुं विचक्षणं लक्षणलक्षितांग । लेभे नृपं लक्षणपालदेवं  
देवा.....श्रिया श्रीमत्क्षेमराजाभिधांगजं ॥ धर्मार्थकामसंसिद्धिसाधकं  
भाग्यतोऽलभत् ॥3 द्वितीयमद्वितीयोद्यतप्रतापातापि
28. तद्विषं । ...भाधुराधूर्यवर्यं माधुर्यसागरं ॥4 नाम्ना देवरतिं सदोदयमतं  
सन्मत्यलक्ष्मीपतिं धर्मध्यानगतिं निरस्तकुमतिं यो नित्यमेवाददे । यश्चक्रे  
जिन ...र्चनेऽ चलरतिं स....साधुजनेवि.....॥5 श्रेष्ठः पचश्रिया श्रेष्ठं  
स्ववंशाभोजभास्करं सूनुं नयनसिंधाख्य लेभे रत्यामरावरं । ॥6 नृत्वं  
रत्ननामानम्

29. यत्नाभ्यस्तपादवं (?) सुतमाप्य समस्तास्तकुमति स दिवं ययो ॥7  
अलभन्मल्हणदेगनयारम्भाभयांगजं चाथ । बालकलेशमिवालंकलया कलया  
.....पतिसंघनाथो....दिल्लणदेव्याभिनन्दितनन्दनः । अथ पद्मसिंहनन्दनमुख्यैरपि  
नन्दताद्रनिशं ॥9॥ प्रतिष्ठयाति गारिष्ठ्यं यन्नामादेव देहिनां । तस्याब्जनन्दि
30. नो मूर्तेः कः प्रतिष्ठाघटामटेत् ॥1 शुभसोमाज्ञया सोसौ तथापि गुणकीर्तिना ।  
वर्द्धमानाभिधैः श्रीमद्वरपत्यादिभिर्बुधैः ॥2 श्रीपद्मनन्दि...दमवसन्तमहात्मने  
मूर्त्योर्विधाय विधिनाभिमतां प्रतिष्ठामेतां हि नन्दनसुनन्दन नन्दनाद्यैः ॥3  
संघेश्वरः कुवलये मलहोलिचन्द्रः संघेश
31. देवपतिवाकूपतिनेन्द्रमुद्रः । सन्मंगलैः सकलबन्धुजनो ...वृन्दैर्वर्षत्  
सहस्रमुपकारसुधाश्रुधारां ॥4 परोपकर्ता यो यद् यशा....श्रीमान् सतत-  
धम्मात्मवृष्टिं यो दानवारिणा । धत्ते स सत्यधर्मेशो जीयाद्धोलो नरोत्तमः  
॥2 मोदत् कुवलयं यस्य यशस्ति लकमुत्तमं । दि
32. दीपे उपमं सोमः स जीयाद्धोलिशंकरः ॥3 प्रातः कालीयरागदलदखिलत-  
मोरेगुरिपादपद्महत्पद्मोल्लासिलक्ष्यमास्तरुण.....चंचव्यान्द्रीयश्चाकलंक सकल-  
कुवलये साधुतां होलिसाधोः ॥4 अग्रोतकान्वये गर्गोत्रे हाटबुधांगजाः बभू
33. वुः साधवः क्षीमाहरुगंगामराभिधाः ॥5 तेषामाद्यात्मजस्तत्र वील्लोभूपल्लिकांगज  
हरुरलश्रियोः सुनुस्ततो भूतल्लणः सुदृक् ॥2.....गनया ततः ॥3 समजनि  
वसन्तकीर्त्यार्व्यो वील्लणवर्द्धमानजन्मा मृगयन् माताजयितश्रीक्षाल्हीचार्याकरो  
हिमासबुधः
34. प्रशस्तिमुद्यद्वृषभार्हचन्द्रसान्द्रार्थतीर्थो ...धा चकोरः सतां मुदे सत्कविवर्द्धमानो  
जिनं समाराध्य विवर्द्धमानं ॥5 श्रीवर्द्धमानविबुधाननपद्मचंचत् पीयू....धारां  
पीत्वा द्रुतां श्रुतियुगांजलिभिस्त्वमीमां नन्दस्तु संसुमनसः शुचिचंचरीकाः  
॥6॥ शुभमस्तु सतां सदा॥.....सुतश्चिरं जीयात् । रिपुनृपसिन्धुसवा.....  
विभू....पस्माहि आलम्भः ॥1 श्रीसाहायलम्भाधिपतनुजे रिभूपमीलिमाणिके ।  
गर्जति गर्जनस्थाने ...गौरीकुलं कुवलयेस्मिन्.....

## अभिलेख क्रमांक पाँच

(विक्रम संवत् 1493, सम्प्रति जैन धर्मशाला में सुरक्षित)

ॐ । आत्मार्थं श्रय मुंच मोहगगनं मित्रं विवेकं कुरु ।

वैराग्यं भज भावयस्व नियतं भेदं शरीरात्मनः ।

धर्मध्यान सुधासमुद्रकुहरे कृत्वाऽवगाहं परम् ।

पश्यानन्त सुखस्वभावकलितं मुक्तिं मुखाम्भोरुहं ॥1॥

आयुस्त्वं न्यन्तु तुष्टिं विदधतु विविधाश्चापदः सन्तु विघ्नान् ।  
 कुर्वश्चारोग्यमुर्वी बलय-विलसितां कीर्तिवल्लीं सृजन्तु ।  
 धर्म संवर्धयन्तु श्रियमभिरामामनपायां.....चेष्टिकामान् ।  
 कैवल्यश्री कटाक्षानपि जिनचरणा सज्जयन्तं.....सावः ॥

संवत् 1493 शाके 1368 वर्षे वैशाख वदी 5 गुरौ दिने मूलनक्षत्रे श्रीमूलसंघे बलात्कारगणे सरस्वतीगच्छे कुन्दकुन्दाचार्यान्वये भट्टारकः श्रीप्रभाचन्द्रदेवः तच्छिष्यः वादवादीन्द्रभट्टारक श्रीपद्मनन्ददेवः तच्छिष्यः श्रीदेवेन्द्रकीर्तिदेवस्तस्योदारपादान्वये अष्टशाखे आहारदान दानेश्वरः श्रीसिंघई लक्ष्मणः तस्य भार्या अक्षयश्रीः तस्याः कुक्ष्याकुत्पन्नः सिंघईअर्जुनस्तस्य भार्या क्षेमा त (त्र) तः जातः खेमराजः तत्भार्या खियुसिणि संघाधिपतिरर्जुनस्तत्पुत्रः संघाधिपतिः सिंघईजुगराजः तस्य भार्या गृणश्रीः सुबान्धवबंधस्तत्पुत्रभार्या पद्मश्रीः तत्पुत्रः बंधवं रामदेवः तत्भार्या कालश्रीः तत्पुत्रः सिंघई चतुर्थवतः तत्भार्या रव्युश्रीः रव्युराजः तस्य पुत्रः म्युराजश्च म्युश्रीः तस्य भार्या सधनपतिः तत्पुत्रः भ्राता वेनुः श्री शान्तिनाथ चैत्यालये सकलकलाप्रवीणः पद्मस्तस्य भार्या पूर्णश्रीः तस्याः पुत्रः पण्डितनयनसिंहस्तेन प्रतिष्ठितं संघाधिपतिः सिंघई जगाराजः तेन कर्मक्षयनिमित्तेनेदंकारितं नित्यं प्रणमन्ति । सूत्रधारः जैनसिपुत्रककर्मचन्द्रः सधनपतिः तत्पुत्रः जिनः तस्य पुत्रसंधपेन सासा सूत्रधारः । येन कृतमिदं नित्यं प्रणमन्तीति ।

## अभिलेख क्रमांक छह

(विक्रम संवत् 1693, मन्दिर संख्या सात में चरणपादुकाओं पर उल्कीर्ण)

ॐ नमः सिद्धेभ्यः गुरुपूज्यपाद.....ज्ञानदर्शनचारित्र मोक्षमार्ग-श्रीललितकीर्ति भट्टारक-वध देवलवन शान्तिनाथ संवत् 1693 फाल्गुन सुदी 8 विक्रमादित्य साके सालवाहन तस्यां नगरी वर्तते महाराजाधिराजदेवीसिंह तस्य पद्मिनी सुजानकुमारी दुहिता राणितं कुरिम दीक्षिते ललितकीर्ते संवत् 1695 पौष सुदी 2 वर्तमान दिनधरी दीक्षा 6 ॥ मोक्षप्राप्ते श्रीसागरे देशजातिदेशकरनाटकी अठारा लिखा गोलापूरव गोपालगढ़ ।



### 3. सहायक ग्रन्थ सूची

#### प्राचीन ग्रन्थ

1. अकलंकदेव (आचार्य) : तत्त्वार्थवार्तिक (राजवार्तिक), पं. महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य सम्पादित, द्वितीय भाग, प्रका. भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, 1957 ई.।
2. अगरचन्द और भँवरलाल नाहटा : वीकानेर जैन लेख संग्रह, प्रका. नाहटा ब्रदर्स, 4 जगमोहन मल्लिक लेन, कलकत्ता, 2482 वी. नि.।
3. अमरसिंह : अमरकोष, पं. हरगोविन्द शास्त्री सम्पादित, प्रकाशक चौखम्भा संस्कृत सिरीज ऑफिस, बनारस, 1957 ई.।
4. अर्हदास (कविवर) : मुनिसुव्रत काव्य, पं. कं. भुजबलि शास्त्री तथा पं. हरनाथ द्विवेदी सम्पादित, प्रका. श्री जैन सिद्धान्त भवन, आरा, 1929 ई.।
5. अंगविज्जा : सम्पा. मुनि पुण्यविजय, प्रका. प्राकृत जैन टेक्स्ट सोसायटी, 1957 ई.।
6. आदिसागर (मुनि) : त्रिकालवर्ती महापुरुष, प्रका. दिगम्बर जैन समाज, वाराणसि, 1959 ई.।
7. आशाधर (पण्डित) : अनगार धर्माभूत, सम्पा. पं. वंशीधर एवं मनोहरलाल, प्रका. माणिकचन्द्र दि. जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, 1919 ई.।
8. आशाधर (पण्डित) : प्रतिष्ठासरोद्धार, सम्पा. पं. मनोहरलाल शास्त्री, प्रका. जैन ग्रन्थ उद्धारक कार्यालय, बम्बई, 1974 वीर नि.।
9. आशाधर (पण्डित) : सागार धर्माभूत, सम्पा. पं. मोहनलाल शास्त्री, प्रका. हरप्रसाद जैन, लुहरा (झाँसी), 2474 वी. नि.।
10. उमास्वामी (आचार्य) : तत्त्वार्थसूत्र, सम्पा. पं. पन्नालाल साहित्याचार्य, प्र.

मूलचन्द्र किसनदास कापडिया, दिगम्बर जैन पुस्तकालय, सूरत, 2472 वी. नि. ।

11. (डॉ.) आ. ने. उपाध्ये : प्रवचनसार (आ. कुन्दकुन्द कृत), प्रस्तावना, प्र. परमश्रुत प्रभावक मण्डल, बम्बई, 1935 ई. ।
12. (डॉ.) आ. ने. उपाध्ये : चरांगचरित (जटासिंहनन्दीकृत), प्रस्तावना, प्र. माणिकचन्द्र दि. जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, 1938 ई. ।
13. ए. चक्रवर्ती : समयसार (आ. कुन्दकुन्दकृत) (अँगरेजी) प्रस्तावना, प्र. भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, 1950 ई. ।
14. ओववाइए : प्रकाशक पं. भूरालाल कालिदास, सूरत, 1914 वि. सं. ।
15. कालिदास (महाकवि) : कुमारसम्भव (कालिदास ग्रन्थावली), सम्पा. पाण्डेय तेजराम शास्त्री, प्र. पण्डित पुस्तकालय, काशी, 1961 ई. ।
16. कुन्थुसागर (आचार्य) : श्रावकधर्मप्रदीप, सम्पा. पं. जगन्मोहनलाल सि. शा., प्र. वर्णी जैन ग्रन्थमाला, बनारस, 2481 वी. नि. ।
17. (पं.) के. भुजवली शास्त्री : प्रशस्ति संग्रह, प्र. मन्त्री, जैन सिद्धान्त भवन, आरा, 1942 ई. ।
18. पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री : उपासकाध्ययन, प्र. भारतीय ज्ञानपीठ, काशी 1964 ई. ।
19. पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री : न्यायकुमुदचन्द्रोदय, प्रथम भाग, प्रस्तावना, प्र. माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, 1938 ई. ।
20. गणेश सहस्रनाम : प्र. गीताप्रेस, गोरखपुर, 2015 वि. ।
21. चतुर्वेदी द्वारकाप्रसाद शर्मा : संस्कृत शब्दार्थ कौस्तुभ, प्र. रामनारायणलाल, इलाहाबाद, 1957 ई. ।
22. छान्दोग्योपनिषद् : सम्पा. पं. रामस्वरूप शर्मा, प्र. सनातन धर्म प्रेस, मुरादाबाद, 1934 ई. ।
23. जम्बुद्वीवपण्णती : प्र. देवचन्द्र लाल भाई ग्रन्थमाला, बम्बई, 1920 ।
24. जयसेन (आचार्य) : प्रतिष्ठा पाठ, प्र. सेठ नेमचन्द्र हीराचन्द्र दोशी, शोलापुर, 1925 ई. ।
25. जिनप्रभसूरि : भैरवपद्मावती कल्प (शारदास्तवन), अहमदाबाद, 1937 ई. ।
26. जिनप्रभसूरि : विविध तीर्थकल्प, सम्पा. मुनि जिनविजय, प्रका. सिंघी जैन ज्ञानपीठ, शान्तिनिकेतन, कलकत्ता, 1934 ई. ।
27. बृहज्जिनवाणी संग्रह : सम्पादक पं. पन्नालाल बाकलीवाल, प्र. जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, नं. 62, बौसतल्ला स्ट्रीट, कलकत्ता, 1937 ई. ।
28. जिनसेन (आचार्य) : पार्श्वाम्बुदय, प्र. सेठ नाथारंग गान्धी, आकलूण, 1909 ई. ।

29. जिनसेन (आचार्य) : महापुराण (आदिपुराण), भाग 1 तथा 2, सम्पा. पं. पन्नालाल साहित्याचार्य, प्र. भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, 1951 ई., 1954 ई.।
30. जिनसेन (आचार्य) : हरिवंशपुराण, सम्पा. पं. पन्नालाल साहित्याचार्य, प्र. भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, 1963 ई.।
31. (पं.) जुगलकिशोर मुख्तार एवं पं. परमानन्द शास्त्री : जैन ग्रन्थ प्रशस्ति संग्रह, प्रथम भाग, प्र. वीर सेवा मन्दिर, सरसावा।
32. जे. एल. जैनी : समयसार (आ. कुन्दकुन्दकृत) (अँगरेजी) प्रस्तावना, प्रका. दी सेण्ट्रल जैन पब्लिशिंग हाउस, अजिताश्रम, लखनऊ, 1930 ई.।
33. ठक्कुर फेरु : वास्तुसार प्रकरण, सम्पा. पं. भगवानदास जैन, प्रकाशक—जैन विविध ग्रन्थमाला, मोतीसिंह भोमिया का रास्ता, जयपुर सिटी, 1936 ई.।
34. गिरयावलियाओ : प्रका. आगमोदय समिति, अहमदाबाद, 1934 ई.।
35. तारानाथ भट्टाचार्य : वाचस्पत्यम्, तृतीय भाग, प्रका. चौखम्भा संस्कृत सीरीज ऑफिस, वाराणसी, 1962 ई.।
36. (प्रो.) दरबारीलाल कोटिया : देवागम अपरनाम आप्तभीमांसा, प्रस्तावना, प्रका. वीर सेवा संघ, दिल्ली, 1967 ई.।
37. दिगम्बर जैन ब्रतोद्यापन संग्रह : सम्पा. फूलचन्द्र सूरचन्द दोशी, ईडर, 1954 ई.।
38. (डॉ.) द्विजेन्द्रनाथ शुक्ल : वास्तुशास्त्र, जिल्द 2, प्रका. वास्तु वाड्मय प्रकाशन, शुक्ल कुटी, फिरोजाबाद रोड, लखनऊ (प्रकाशन वर्ष नहीं दिया)।
39. देवसेन सूरि : दर्शनसार, सम्पा. पं. नाथूराम प्रेमी, बम्बई, 1974 वि.।
40. दौलतराम (पण्डित) : छहढाला, अनु. मगनलाल जैन, प्रकाशक श्री दि. जैन स्वाध्याय मन्दिर ट्रस्ट, सोनगढ़, 2017 वि.।
41. धनंजय : नाममाला, सम्पा. पं. शम्भुनाथ त्रिपाठी, प्र. भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, 1950 ई.।
42. धर्मचन्द्र (भट्टारक) : गौतमचरित्र, अनु. पं. लालाराम जैन, प्र. पं. मूलचन्द्र किसनदास कापडिया, सूरत, 1927 ई.।
43. नायाधम्मकहाओ : सम्पा. एन. वी. वैद्य, पूना, 1940 ई.।
44. नेमिचन्द्र सिद्धान्तचक्रवर्ती : द्रव्यसंग्रह : सम्पा. पं. मोहनलाल शास्त्री, प्र. सरल जैन ग्रन्थ भण्डार, पुरानी चरहाई, जबलपुर, 2492 बी. नि.।

45. नेमिचन्द्र सिद्धान्त चक्रवर्ती : त्रिलोकसार, सम्पा. पं. मोहनलाल शास्त्री, प्र. हिन्दी जैन साहित्य प्रकाशक कार्यालय, बम्बई, 1918 ई.।
46. नेमिचन्द्रदेव (पण्डित) : प्रतिष्ठा तिलक (मराठी अनुवाद सहित), बम्बई, 1914 ई.।
47. (पं.) पन्नालाल साहित्याचार्य : महापुराण (आ. जिनसेन कृत), भाग 1, प्रस्तावना, प्र. भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, 1951 ई.।
48. (पं.) परमानन्द शास्त्री : जैन ग्रन्थ प्रशस्ति संग्रह, द्वितीय भाग, प्रका. वीर सेवा मन्दिर, दिल्ली।
49. प्रभाचन्द्र : प्रभावकचरित, प्र. सिन्धी जैन ग्रन्थमाला, भारतीय विद्याभवन, बम्बई, 2015 वि.।
50. (पं.) फूलचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री : सर्वार्थसिद्धि, प्रस्तावना, प्र. भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, 1955 ई.।
51. (डॉ.) बलदेव उपाध्याय : पुराण विमर्श, प्र. चौखम्भा संस्कृत सीरीज ऑफिस, बनारस, 1965 ई.।
52. भद्रबाहु स्वामी : उवसगगहर स्तोत्र (सप्त स्मरण के साथ प्रकाशित), प्र. देवचन्द्र लालभाई जैन पुस्तकोद्धार ग्रन्थमाला, बम्बई, 1933 ई.।
53. भद्रबाहु स्वामी : कल्पसूत्र, सम्पा. हरमन याकोबी, लिपजिग, 1879 ई.।
54. भावदेवसूरि : पार्श्वनाथ चरित्र।
55. भुवनदेव (आचार्य) : अपराजितपृच्छा, सम्पा. पोपट भाई अम्बाशंकर मनकड, (गायकवाड़) ओरियण्टल सीरीज नम्बर (8 > 4), प्र. ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा, 1950 ई.।
56. भोज : समरांगण सूत्रधार, खण्ड एक, सम्पा. टी. गणपति शास्त्री, प्र. ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा, 1924 ई.।
57. मत्स्यमहापुराण : प्र. आनन्दाश्रम मुद्रणालय, पूना, 1907 ई.।
58. मल्लिषेण सूरि : पद्मावतीदण्डक, सम्पा. के. वी. अभ्यंकर, अहमदाबाद, 1937 ई.।
59. मल्लिषेण सूरि : भैरवपद्मावती कल्प, अहमदाबाद, 1937 ई.।
60. मल्लिषेण सूरि : सरस्वतीकल्प (भैरव पद्मावती कल्प), अहमदाबाद, 1937 ई.।
61. महाराजाधिराज श्री डूंगरेन्द्रदेव का संवत् 1510 का अभिलेख, जर्नल ऑव एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल, जिल्द 31।
62. (श्री) भा. स. महाजन : नागपुर के संग्रह की हस्तलिखित प्रति संख्या 49।

63. (पं.) महेन्द्रकुमार न्यायाचार्य : न्यायविनिश्चय विवरणम्, प्रथम भाग, प्रस्तावना, प्र. भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, 1949 ई.।
64. माघ (महाकवि) : शिशुपालवध महाकाव्य, प्रका. चौखम्भा संस्कृत सीरीज, ऑफिस, वाराणसी, 1964 ई.।
65. यतिवृषभ (आचार्य) : तिलोयषण्णत्ति, सम्पा. डॉक्टर आ. ने. उपाध्ये तथा डॉ. हीरालाल जैन, प्रका. जैन संस्कृति संरक्षक संघ, शोलापुर, 1943 ई.।
66. योगीन्द्रदेव : परमात्मप्रकाश, सम्पा. पं. मनोहरलाल शास्त्री, बम्बई, 1972 वि.।
67. वराहमिहिर : वृहत्संहिता, प्रका. पं. भूषण वी. सुब्रह्मण्य, वातवनगुडी, बंगलोर, 1947 ई.।
68. वसुनन्दि (आचार्य) : वसुनन्दिश्रावकाचार, प्रका. भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, 1952 ई.।
69. वादिचन्द्र : अम्बिका कथासार।
70. वादिराज सूरि : पार्श्वनाथ चरित्र, सम्पा. पं. मनोहरलाल, प्रका. माणिकचन्द्र दि. जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, 1916 ई.।
71. वासुपूज्य (महर्षि) : दानशासन, सम्पा. पं. वर्द्धमान पार्श्वनाथ शास्त्री, शोलापुर, 1941 ई.।
72. (पं.) विजयमूर्ति : जैन शिलालेख संग्रह, द्वितीय भाग, प्र. माणिकचन्द्र दि. जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, 1952 ई.।
73. (पं.) विजयमूर्ति : जैन शिलालेख संग्रह, तृतीय भाग, प्रकाशक उपर्युक्त, 1957 ई.।
74. (डॉ.) विद्याधर जोहरापुरकर : जैन शिलालेख संग्रह, चतुर्थ भाग, प्र. भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, 2491 वीर नि.।
75. (डॉ.) विद्याधर जोहरापुरकर : भट्टारक सम्प्रदाय, प्रका. जीवराज जैन ग्रन्थमाला, शोलापुर।
76. विष्णुसहस्रनाम : प्रका. गीताप्रेस, गोरखपुर, 2013 वि. सं.।
77. वीरनन्दी (महाकवि) : चन्द्रप्रभचरितम्, सम्पा. पं. काशीनाथ शर्मा, प्रका. निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, 1892 वि. सं.।
78. वेदव्यास : अग्निपुराण, सम्पा. डॉ. बलदेव उपाध्याय, प्र. चौखम्भा संस्कृत सीरीज ऑफिस, वाराणसी, 1966 ई.।
79. वेदव्यास : गरुड़पुराण, सम्पादक डॉ. रामाशंकर भट्टाचार्य, प्रका. उपर्युक्त, 1964 ई.।
80. रविपेण (आचार्य) : पद्मपुराण, प्रथम भाग, सम्पा. पं. पन्नालाल साहित्याचार्य, प्रका. भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, 1958 ई.।

81. रामचन्द्र मुमुक्षु : पुण्याश्रव कथाकोश, सम्पा. पं. नाथूराम प्रेमी, प्रका. जैन साहित्य प्रसारक कार्यालय, बम्बई, 1916 ई.।
82. शिवकोटि (भट्टारक) : रत्नमाला, अनु. पं. गौरीलाल (सिद्धान्तसारादि संग्रह में प्रकाशित), प्रका. माणिकचन्द्र जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, 1933।
83. शिवसहस्रनाम : प्रका. गीताप्रेस, गोरखपुर।
84. शुभचन्द्र (आचार्य) : ज्ञानार्णव, सम्पा. पं. पन्नालाल बाकलीवाल, प्रका. श्री परमश्रुत प्रभावक मण्डल, जबेरीबाग, बम्बई, 1927 ई.।
85. श्रुतसागर सूरि : तत्त्वार्थवृत्ति, प्रका. भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, 1949 ई.।
86. श्रुतसागर सूरि : षट्प्राभृत (आ. कुन्दकुन्द के अष्टपाहुड पर संस्कृत टीका) सम्पा. पं. पन्नालाल सोनी, प्रका. माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, 1977 वि.।
87. श्रीकुमार : शिल्परत्नम्, सम्पा. के. साम्बशिव शास्त्री, प्रका. त्रिवेन्द्रम् संस्कृत सीरीज (नं. 98), त्रिवेन्द्रम्, 1929 ई.।
88. श्रीकृष्ण मिश्र : प्रबोधचन्द्रोदय नाटक, प्रका. चौखम्भा संस्कृत सीरीज ऑफिस, वाराणसी, 1955 ई.।
89. समन्तभद्र (आचार्य) : रत्नकरण्ड श्रावकाचार, प्रका. अ. भा. केन्द्रीय जैनमहासमिति, दिल्ली, 1951 ई.।
90. समन्तभद्र (आचार्य) : स्तुतिविद्या, सम्पा. पं. पन्नालाल साहित्याचार्य, प्रका. वीर सेवा मन्दिर, सरसावा, 1950 ई.।
91. समवायांग : अहमदाबाद से 1938 में प्रकाशित।
92. सुकुमार सेन (मुनि) : विधानुशासन, भैरवपद्मावती कल्प।
93. पं. सुमतिबाई शहा : षट्खण्डागम, प्रस्तावना, प्रका. क्षुतभण्डार व ग्रन्थ प्रकाशन समिति, फलटन, शोलापुर, 1965।
94. सोमेश्वरदत्त : मानसोल्लास, प्र. औरियण्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा, 1939 ई.।
95. सौभाग्यलक्ष्म्युपनिषद् : प्रका. निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, 1925 ई.।
96. हरमन याकोबी : दी कल्पसूत्र आफ भद्रबाहु, लिपजिग, 1879 ई.।
97. हरिकृष्ण (कवि) : बृहत्संचकल्याणक विधान, प्रका. जैन साहित्य प्रसारक, कार्यालय, बम्बई, 1929 ई.।
98. हेमचन्द्र (आचार्य) : अभिधानचिन्तामणि, सम्पा. पं. हरगोविन्द शास्त्री, प्रका. चौखम्भा संस्कृत विद्याभवन, वाराणसी, 1964 ई.।
99. (डॉ.) हीरालाल जैन : जैन शिलालेख संग्रह, प्रथम भाग, प्र. माणिकचन्द्र जैन ग्रन्थमाला, बम्बई, 1928 ई.।
100. (डॉ.) हीरालाल जैन : षट्खण्डागम, जिल्द एक, प्रस्तावना, प्रका. श्रीमन्त

सेठ लक्ष्मीचन्द्र शिताबराय जैन साहित्योद्धारक फण्ड कार्यालय, अमरावती,  
1939 ई.।

101. (पं.) हीरालाल सिद्धान्तशास्त्री : जैन धर्मामृत, प्रका. भारतीय ज्ञानपीठ,  
काशी, 1960 ई.।

### आधुनिक ग्रन्थ और शोध-निबन्ध

102. अगरचन्द नाहटा : भारतीय वास्तुशास्त्र में जैन प्रतिभा सम्बन्धी ज्ञातव्य;  
अनेकान्त, व. 20, कि. पाँच।
103. अमूल्यचन्द्र सेन : सोसल लाइफ इन जैन लिटरेचर : कलकत्ता रिव्यू, मार्च  
1933 ई.।
104. आनन्द के. कुमारस्वामी : आर्ट्स एण्ड क्राफ्ट्स।
105. आनन्द के. कुमारस्वामी : केटलाग आफ दी इण्डियन कलेक्शन  
इन दी म्युजियम आफ फाइन आर्ट्स, बोस्टन, जिल्द चार, बोस्टन, 1924  
ई.।
106. आनन्द के. कुमारस्वामी : यक्षसू, खण्ड एक, प्रकाशक दी स्मीथसोनियम  
इन्स्टीट्यूट, वाशिंगटन, 1928 ई.।
107. आनन्द के. कुमारस्वामी : हिस्ट्री आफ इण्डियन एण्ड इण्डोनेशियन आर्ट,  
प्रका. डोवर पब्लिकेशंस, 180 वैरिक स्ट्रीट, न्यूयार्क।
108. आर. जी. हर्षे : मेरु, होमलैण्ड आफ दी आरियंस, विश्वेश्वरानन्द  
भारत-भारती, होशियारपुर।
109. (डॉ.) उमाकान्त प्रेमानन्द शाह : स्टडीज इन जैन आर्ट, प्रका. जैन  
कल्चरल रिसर्च सोसायटी, बनारस-5, 1955 ई.।
110. (डॉ.) उमाकान्त प्रेमानन्द शाह : ए नोट आन अकोटा होर्ड जैन ब्रोंजेज :  
बड़ौदा थू दी एजेज।
111. (डॉ.) उमाकान्त प्रेमानन्द शाह : दी ट्रेडीशन आफ जीवन्तस्वामी इमेजेज  
: जर्नल आफ दी ओरियण्टल इन्स्टीट्यूट, बड़ौदा, जिल्द एक, अंक एक  
और जिल्द एक, अंक चार।
112. (प्रो.) उदयचन्द एम. ए. : आचार्य वीरसेन की धवला टीका, भारतीय  
जैन साहित्य परिवेशन, एक, प्रका. प्रधान मन्त्री, भारतीय जैन साहित्य  
संसद, भोला भवन, महाजनी टोली, आरा, 1965 ई.।
113. (डॉ.) उर्मिला अग्रवाल : खजुराहो स्कल्पचर्स एण्ड देयर सिग्नीफिकंस,  
प्रका. एस. चाँद एण्ड कम्पनी, दिल्ली, 1964 ई.।
114. (डॉ.) एन. वेंकटराम नय्यर : एस्से आन दी ओरिजन आफ दी साउथ  
इण्डियन टेम्पल्स, मद्रास, 1930 ई.।

115. एलन : केटलाग आफ क्वाइन्स आफ एंश्येण्ट इण्डिया इन दी ब्रिटिश म्युजियम, लन्दन, 1936 ई.।
116. (पं.) कल्याण कुमार जैन 'शशि' : देवगढ़ काव्य, प्रका. सिंघई नाथूराम जैन, मन्त्री श्री देवगढ़ मैनेजिंग दिगम्बर जैन कमेटी, ललितपुर, 1939 ई.।
117. (डॉ.) कस्तूरचन्द कासलीवाल : तीन ऐतिहासिक भट्टारक पट्टावलियाँ : सन्मति-सन्देश, मार्च 1962 ई.।
118. डॉ. कस्तूरचन्द कासलीवाल : राजस्थान के जैन शास्त्रभण्डारों की ग्रन्थ-सूची, चतुर्थ भाग, प्रका. मन्त्री, श्री दिगम्बर जैन अतिशय क्षेत्र श्री महावीरजी, जयपुर।
119. राजस्थान के जैन सन्त : व्यक्तित्व एवं कृतित्व, प्रका. उपर्युक्त, 1967 ई.।
120. भट्टारक सकलकीर्ति : जीवन, व्यक्तित्व एवं कृतित्व, जैन सन्देश शोधांक सोलह।
121. क्लाउड बटले : दी डिजायन डेवलपमेण्ट आफ इण्डियन आर्चिटेक्चर, लन्दन, 1948 ई.।
122. (डॉ.) क्लॉज़ ब्रून : देवगढ़ के जैनमन्दिर, वीर, मई, 1956 ई.।
123. (डॉ.) क्लॉज़ ब्रून : मध्यप्रदेश के जैनतीर्थ : देवगढ़, जैनयुग, मई 1959 ई.।
124. (डॉ.) क्लॉज़ ब्रून : लेक्चर रेड एट दी मेल्टा एट देवगढ़, 1956 ई.।
125. (मुनि) कान्तिसागर : खोज की पगडण्डियाँ, प्रका. भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, 1953 ई.।
126. (मुनि) कान्तिसागर : खँडहरों का वैभव, प्रकाशक उपर्युक्त, 1959 ई.।
127. (डॉ.) कामताप्रसाद जैन : जैनतीर्थ और उनकी यात्रा, प्रका. मन्त्री भारतीय दि. जैन परिषद्, पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1962 ई.।
128. (डॉ.) कामताप्रसाद जैन : महाराणी चेलनी, प्रका. मूलचन्द किशनदास कापडिया, दि. जैन पुस्तकालय, सूरत, 1967 ई.।
129. काशीप्रसाद जायसवाल : कलिंग चक्रवर्ती महाराज खारवेल के शिलालेख का विवरण : नागरी-प्रचारिणी सभा पत्रिका, भाग आठ, अंक तीन।
130. (प्रो.) कृष्णकान्त हन्दिकी : यशस्तिलक एण्ड इण्डियन कल्चर, प्रका. जीवराज जैन ग्रन्थमाला, शोलापुर, 1949 ई.।
131. (प्रो.) कृष्णदत्त वाजपेयी : उत्तरप्रदेश का सांस्कृतिक इतिहास, प्र. शिवलाल अग्रवाल एण्ड कं. प्रा. लि. आगरा, 1959 ई.।
132. (प्रो.) कृष्णदत्त वाजपेयी : उत्तरप्रदेश की ऐतिहासिक विभूति, प्र. शिक्षा विभाग, उत्तरप्रदेश, लखनऊ, 1957 ई.।

298 :: देवगढ़ की जैन कला : एक सांस्कृतिक अध्ययन



133. (प्रो.) कृष्णदत्त वाजपेयी : उत्तरप्रदेश में पुरातत्त्वीय अनुसन्धान, शिक्षा, अक्टूबर, 1955 ई.।
134. (प्रो.) कृष्णदत्त वाजपेयी : कंकाली टीला (मथुरा) की जैन कला का अनुशीलन, गुरु गोपालदास बरैया स्मृति ग्रन्थ, सागर, 1967 ई.।
135. (प्रो.) कृष्णदत्त वाजपेयी : कला का इतिहास : हिन्दी साहित्य, जिल्द दो, प्रयाग, 1962 ई.।
136. (प्रो.) कृष्णदत्त वाजपेयी : गुप्त तथा मध्यकालीन मूर्तिकला : कल्पना, जनवरी 1962 ई.।
137. (प्रो.) कृष्णदत्त वाजपेयी : चन्देल और उनकी देन : मध्यप्रदेश सन्देश, 11 अगस्त 1962 ई.।
138. (प्रो.) कृष्णदत्त वाजपेयी : देवगढ़ की जैन प्रतिमाएँ, अनेकान्त, वर्ष 15, कि. 1, अप्रैल 1962 ई.।
139. (प्रो.) कृष्णदत्त वाजपेयी : प्राचीन भारत के तपोवन, नागरीप्रचारिणी पत्रिका, काशी, वि. सं. 2005, अंक 3-4।
140. (प्रो.) कृष्णदत्त वाजपेयी : प्राचीन भारत के शिक्षाकेन्द्र, विक्रम स्मृति ग्रन्थ (संवत् 2001) खालियर, 1944 ई.।
141. (प्रो.) कृष्णदत्त वाजपेयी : प्राचीन कला में गुरु-शिष्यों का चित्रण : त्रिपथगा, 1956 ई.।
142. (प्रो.) कृष्णदत्त वाजपेयी : भारतीय कला में भगवान् महावीर : सन्मति-सन्देश, मई 1961 ई.।
143. (प्रो.) कृष्णदत्त वाजपेयी : भारतीय पुरातत्त्व में तीर्थकर सुपार्श्वनाथ : अहिंसावाणी, अगस्त-सितम्बर, 1963 ई.।
144. (प्रो.) कृष्णदत्त वाजपेयी : भारतीय साहित्य और कला में लक्ष्मी, त्रिपथगा, नवम्बर 1955 ई.।
145. (प्रो.) कृष्णदत्त वाजपेयी : भारतीय संस्कृति में मध्यप्रदेश का योग, प्रका. सरोज प्रकाशन, इलाहाबाद, 1967 ई.।
146. (प्रो.) कृष्णदत्त वाजपेयी : मथुरा का देवनिर्मित बौद्धस्तूप : श्री महावीर स्मृति ग्रन्थ, खण्ड एक, 1948-49 ई.।
147. (प्रो.) कृष्णदत्त वाजपेयी : मथुरा कला में नाग, त्रिपथगा, जुलाई 1962 ई.।
148. (प्रो.) कृष्णदत्त वाजपेयी : मथुरा से प्राप्त दो नवीन अभिलेख : वर्षी अभिनन्दन ग्रन्थ, सागर, 2476 वी. नि.।
149. (प्रो.) कृष्णदत्त वाजपेयी : म. प्र. की कला का ऐतिहासिक परिशीलन : मध्यप्रदेश सन्देश, 26 जनवरी 1963 ई.।

150. (प्रो.) कृष्णदत्त वाजपेयी : युग-युगों में उत्तरप्रदेश, इलाहाबाद, 1954 ई.।
151. (प्रो.) कृष्णदत्त वाजपेयी : सागर श्रू दी एजेज, प्रका. प्राचीन भारतीय इतिहास, संस्कृति एवं पुरातत्त्व विभाग, सागर विश्वविद्यालय, सागर, 1964 ई.।
152. कुन्दनलाल जैन : गंज बासोदा के जैनमूर्ति व यन्त्र लेख : सन्मति-सन्देश, अगस्त, 1965 ई.।
153. कुन्दनलाल जैन : भट्टारक सकलकीर्ति कृत द्वादशअनुप्रेक्षा चुपई : सन्मति-सन्देश, वर्ष 12, अंक 11।
154. कुन्दनलाल जैन : आचार्य सकलकीर्ति और उनकी हिन्दी सेवा : अनेकान्त, वर्ष 19, अंक एक-दो।
155. (पं.) के. भुजबलि शास्त्री : मेरी देवगढ़ यात्रा : जैन सिद्धान्त भास्कर, भाग आठ, कि. दो।
156. (पं.) कैलाशचन्द्र शास्त्री : जैन धर्म, प्रका. भा. दिगम्बर जैन संघ, मथुरा, 1955 ई.।
157. (पं.) कैलाशचन्द्र शास्त्री : जैन न्याय, प्रका. भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, 1966 ई.।
158. ग्वालियर अभिलेख (संख्या 933)—एपीग्राफिया इण्डिका, जिल्द 18।
159. (डॉ.) गोकुलचन्द्र जैन : यशस्तिलक का सांस्कृतिक अध्ययन, प्रका. सोहनलाल जैन धर्म प्रचारक समिति, अमृतसर, 1967 ई.।
160. (पं.) गोपीलाल अमर : एक प्रतीकांकित द्वार : अनेकान्त, वर्ष 22, किरण 2।
161. (पं.) गोपीलाल अमर : पतियानदाई, एक गुप्तकालीन जैन मन्दिर : अनेकान्त, वर्ष 19, किरण छह।
162. (पं.) गोपीलाल अमर : पतियानदाई की अद्वितीय प्रतिमा : जैन सिद्धान्त भास्कर, भाग 25, किरण दो।
163. गोरेलाल तिवारी : बुन्देलखण्ड का संक्षिप्त इतिहास, प्रका. काशी नागरीप्रचारिणी सभा, संवत् 1990 वि.।
164. (भिक्षु) चिमनलाल : जब शिवजी ने जापान को चीन के हमले से बचाया था : धर्मयुग, 12 फरवरी, 1961 ई.।
165. (डॉ.) जगदीश चन्द्र जैन : प्राकृत साहित्य का इतिहास, प्रका. चौखम्भा विद्याभवन, वाराणसी, 1961 ई.।
166. (सर) जान मार्शल एण्ड अलफ्रेड फीचर : दी मानुमेण्ट्स ऑफ साँची,

300 :: देवगढ़ की जैन कला : एक सांस्कृतिक अध्ययन

- जिल्द एक और तीन, प्रका. मैनेजर आफ पब्लिकेशंस, गवर्नमेण्ट आफ इण्डिया, दिल्ली, 1937 ई.।
167. (पं.) जुगलकिशोर मुख्तार : जैन साहित्य और इतिहास पर विशद प्रकाश, प्रका. वीर शासन संघ, कलकत्ता 1956 ई.।
168. (पं.) जुगलकिशोर मुख्तार : देवगढ़ पर सम्पादकीय टिप्पणी : अनेकान्त, वर्ष एक, किरण दो।
169. (पं.) जुगलकिशोर मुख्तार : युगवीर निबन्धावली, प्रथम भाग, दिल्ली, 1963 ई.।
170. (पं.) जुगलकिशोर मुख्तार : समीचीन धर्मशास्त्र, प्रका. वीरसेवा मन्दिर, दरियागंज, दिल्ली, 1955 ई.।
171. (पं.) जुगलकिशोर मुख्तार : स्वामी समन्तभद्र, प्रका. जैन ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, हीराबाग, बम्बई, 1925 ई.।
172. जे. एफ. फ्लीट : कार्पस इंस्क्रिपशनम इण्डीकेरम, जिल्द तीन, कलकत्ता, 1888 ई.।
173. (डॉ.) ज्योतिप्रसाद जैन : जैन साहित्य में मथुरा, अनेकान्त, व. 15, कि. दो।
174. (डॉ.) ज्योतिप्रसाद जैन : दिल्ली पड़ के मूलसंधी भट्टारकों का समय क्रम : अनेकान्त, व. 17, कि. दो।
175. (डॉ.) ज्योतिप्रसाद जैन : देवगढ़ और उसका कला वैभव : जैन सिद्धान्त भास्कर, भा. 22, कि. एक।
176. (डॉ.) ज्योतिप्रसाद जैन : प्राचीन भारत का वैभव देवगढ़ : वीर, मई 1956 ई.।
177. (डॉ.) ज्योतिप्रसाद जैन : भारतीय इतिहास : एक दृष्टि, प्रका. भारतीय ज्ञानपीठ काशी, 1961 ई.।
178. टी. ए. गोपीनाथ राव : एलीमेण्ट्स आफ हिन्दू आइकनोग्राफी, जिल्द एक, प्रका. दी ला प्रिण्टिंग हाउस, माउण्ट रोड, मद्रास, 1914 ई.।
179. डी. सी. दासगुप्ता : जैन सिस्टम आफ एजुकेशन, कलकत्ता, 1942 ई.।
180. (प्रो.) दलसुखभाई मालवणिया : जैन दार्शनिक साहित्य का सिंहावलोकन, प्रका. जैन कलचरल रिसर्च सोसायटी, पार्श्वनाथ विद्याश्रम, बनारस, 1949 ई.।
181. दिगम्बरदास जैन : स्वस्तिक के चमत्कार : जैनमित्र, फाल्गुन सुदी 15, वी. नि. संवत् 2494।
182. देवगढ़ चित्रावलि : प्रका. मन्त्री श्री देवगढ़ मैनेजिंग दिगम्बर जैन कमेटी, ललितपुर (प्रकाशन वर्ष नहीं दिया)।

183. (भिक्षु) धर्मरक्षित : सारनाथ का इतिहास, वाराणसी, 1961 ई.।
184. नवलजी : नालन्दा विशाल शब्द सागर, दिल्ली, 2007 विक्रमाब्द।
185. पं. नाथूराम प्रेमी : विद्वद्रत्नमाला, प्रका. जैनमित्र कार्यालय, बम्बई, 1912 ई.।
186. पं. नाथूराम प्रेमी : जैन साहित्य और इतिहास, प्रका. संशोधित साहित्यमाला, हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर (प्रा.) लि. बम्बई, 1956 ई.।
187. नाथूराम सिंघई : देवगढ़ : अनेकान्त, व. एक, किरण दो।
188. नीरज जैन : देवताओं का गढ़ : देवगढ़, अनेकान्त, व. 17, कि. चार।
189. नीलकण्ठ पुरुषोत्तम जोशी : मथुरा की मूर्तिकला, प्रका. पुरातत्त्व संग्रहालय, मथुरा, 1965 ई.।
190. (डॉ.) नेमिचन्द्र शास्त्री : आदिपुराण में प्रतिपादित भारत, प्रका. गणेशप्रसाद वर्णी ग्रन्थमाला, अस्ती, वाराणसी, 1968 ई.।
191. (डॉ.) नेमिचन्द्र शास्त्री : जिनसेन का काव्य सिद्धान्त : अनेकान्त, व. 16, कि. एक।
192. (पं.) परमानन्द शास्त्री : काष्ठासंघ लाट बागड गण की गुर्वावली : अनेकान्त, व. 15, कि. तीन।
193. (पं.) परमानन्द शास्त्री : ब्रह्म नेमिदत्त और उनकी रचनाएँ : अनेकान्त, व. 18, कि. दो।
194. (पं.) परमानन्द शास्त्री : मध्यभारत का जैन पुरातत्त्व, मुनिश्री हजारीमाल स्मृति ग्रन्थ, ब्यावर, 1965 ई. तथा अनेकान्त, अप्रैल, जून 1966 ई.।
195. प्रभाकर गोविन्द परांजपे : केन्द्रीय संग्रहालय इन्दौर की संक्षिप्त मार्गदर्शिका, 1961 ई.।
196. पी. के. आचार्य : मानसार आन आर्चिटेक्चर एण्ड स्कल्पचर, प्रका. दी आक्सफोर्ड युनिवर्सिटी प्रेस, लन्दन, 1932 ई.।
197. पेहोवा अभिलेख (882 ई.) : एपीग्राफिया इण्डिका, जिल्द एक।
198. (ब्र.) प्रेमसागर : अतिशय क्षेत्र देवगढ़-पूजा, प्रका. सिंघई नाथूराम जैन, व्यवस्थापक श्री देवगढ़ जीर्णोद्धार कमेटी, ललितपुर, वी. नि. संवत् 2454।
199. (डॉ.) प्रेमसागर जैन : जैन भक्तिकाव्य की पृष्ठभूमि, प्रका. भारतीय ज्ञानपीठ काशी, 1963 ई.।
200. बरह कापरप्लेट : एपीग्राफिया इण्डिका, जिल्द उन्नीस।
201. (डॉ.) बलदेव उपाध्याय : भारतीय दर्शन, प्रका. शारदा मन्दिर, वाराणसी, 1960 ई.।

302 :: देवगढ़ की जैन कला : एक सांस्कृतिक अध्ययन

202. (पं.) बालचन्द्र सिद्धान्तशास्त्री : आ. वीरसेन और उनकी धवला टीका : गुरु गोपालदास बैरैया स्मृति ग्रन्थ, सागर, 1967 ई.।
203. वूलर : स्पेसीमेन्स ऑफ जैन स्कल्पचर्स फ्राम मथुरा : एपीग्राफिया इण्डिका, जिल्द दो।
204. बी. एन. लूनिया : प्राचीन भारतीय संस्कृति, प्रका. लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, अस्पताल मार्ग, आगरा-3, 1966 ई.।
205. बी. एल. राइस : मर्करा ताम्रपत्र : इण्डियन एण्टीक्वेरी, भा. एक, 1872 ई.।
206. बी. सी. भट्टाचार्य : जैन आइकानोग्राफी, लाहौर, 1939 ई.।
207. वेंजामिन रौलेंड : दी आर्ट एण्ड आर्चिटेक्चर ऑफ इण्डिया : हिन्दू, बुद्धिस्ट एण्ड जैन, प्रकाशक पेनजाइन बुक्स लि., विक्टोरिया, 1959 ई.।
208. (प्रो.) भागचन्द्र भागेन्दु : भारतीय संस्कृति में जैन तीर्थों का योगदान, प्रका. अ. विश्व जैन मिशन, अलीगंज (एटा), 1961 ई.।
209. (पं.) माधवस्वरूप वत्स : मेम्वायर्स ऑफ दी आर्क्योलॉजिकल सर्वे आफ इण्डिया (संख्या 70), दी गुप्ता टेम्पल एट देवगढ़, प्रका. दी मैनेजर आफ पब्लिकेशंस, गवर्नमेण्ट ऑफ इण्डिया, नयी दिल्ली, 1952 ई.।
210. (श्रीमती) माधुरी देसाई : दी गुप्ता टेम्पल एट देवगढ़, प्रका. भूलाभाई मेमोरियल इन्स्टीट्यूट, वम्बई, 1958 ई.।
211. मिलापचन्द्र कटारिया आदि : जैन निबन्ध रत्नावली, प्रका. श्री वीर शासन संघ कलकत्ता 1966 ई.।
212. मिलापचन्द्र कटारिया : भट्टारक सकलकीर्ति का जन्म काल : वीरवाणी, व. 21, अंक 24।
213. (पं.) मोहनलाल शास्त्री : जैनाचार्य, प्रका. सरल जैन ग्रन्थ भण्डार, पुरानी चरहाई, जबलपुर, 2482 बी. नि.।
214. वाचस्पति गैरोला : संस्कृत साहित्य का संक्षिप्त इतिहास, प्र. चौखम्भा संस्कृत विद्यापीठ, वाराणसी, 1960 ई.।
215. (प्रो.) वामन सदाशिव आप्टे : संस्कृत इंग्लिश डिक्शनरी, प्र. मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी 1963 ई.।
216. (डॉ.) वासुदेवशरण अग्रवाल : ए शार्ट गाइड बुक टु दी आर्क्योलॉजिकल सेक्शन ऑफ दी प्राविशियल म्युजियम, लखनऊ, 1953 ई.।
217. (डॉ.) वासुदेवशरण अग्रवाल मथुरापुरी कल्प : ब्र. पं. चन्दाबाई अभिनन्दन ग्रन्थ, आरा, 1954 ई.।
218. (डॉ.) वासुदेवशरण लम्पसकस से प्राप्त भारतलक्ष्मी की मूर्ति : नागरी प्रचारिणी पत्रिका (विक्रमांक), 2000 वि.।

219. (डॉ.) विमलचन्द्र पाण्डेय : प्राचीन भारत का राजनीतिक तथा सांस्कृतिक इतिहास, प्र. सेण्ट्रल बुक डिपो, इलाहाबाद, 1965 ई.।
220. विंसेण्ट ए. स्मिथ : ए हिस्ट्री ऑफ फाइन आर्ट इन इण्डिया एण्ड सीलोन, कार्ल खण्डेलवाला द्वारा परिष्कृत संस्करण (तृतीय), बम्बई।
221. विंसेण्ट ए. स्मिथ : जैन स्तूप एण्ड अदर एण्टीक्विटीज फ्राम मथुरा, ए. एस. आई., न्यू इम्पीरियल सीरीज जिल्ड 20, इलाहाबाद, 1901 ई.।
222. विश्वम्भरदास गार्गीय : देवगढ़ के जैन मन्दिर, ललितपुर, 1922 ई.।
223. (म. म.) विश्वेश्वरनाथ रेऊ : जैनाचार्य और बादशाह मुहम्मदशाह, वर्णी अभिनन्दन ग्रन्थ, सागर, 2486 वी. नि.।
224. (पं.) बेचरदास : भगवान् महावीर नी धर्मकहाओ।
225. (डॉ.) रमाशंकर त्रिपाठी : प्राचीन भारत का इतिहास, दिल्ली 1955 ई.।
226. (डॉ.) रमाशंकर त्रिपाठी : हिस्ट्री ऑफ कन्नौज, प्रका. मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, 1959 ई.।
227. रमेशचन्द्र मजूमदार : दी एज ऑफ इम्पीरियल कन्नौज, प्रका. भारतीय विद्या भवन, बम्बई, 1964 ई.।
228. रमेशचन्द्र मजूमदार : दी एज ऑफ इम्पीरियल युनिट, प्रका. उपर्युक्त, 1953 ई.।
229. रमेशचन्द्र मजूमदार : डॉ. हेमचन्द्रराय चौधरी तथा डॉ. कालिकिंकर दत्त : एन एडवांस्ड हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, प्रका. मैकमिलन एण्ड कम्पनी लि., लन्दन, 1960 ई.।
230. रमेशचन्द्र मजूमदार : भारत का वृहत् इतिहास, प्रथम भाग (प्राचीन भारत), प्रका. उपर्युक्त, 1964 ई.।
231. राखालदास बैनर्जी : दी एज ऑफ इम्पीरियल गुप्ताज, बनारस, 1963 ई.।
232. (डॉ.) राजकुमार जैन : अध्यात्मपदावली, प्र. भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, 1954 ई.।
233. (डॉ.) राजबली पाण्डेय : प्राचीन भारत, प्र. नन्दकिशोर एण्ड संस, वाराणसी, 1962 ई.।
234. (डॉ.) राधाकुमुद मुकर्जी : प्राचीन भारत, प्र. राजकमल प्रकाशन प्रा. लि., दिल्ली-6, 1962 ई.।
235. (डॉ.) रामजी उपाध्याय : संस्कृत साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, प्र. रामनारायणलाल बेनीमाधव इलाहाबाद, 2018 वि.।

304 :: देवगढ़ की जैन कला : एक सांस्कृतिक अध्ययन

236. (डॉ.) राय गोविन्दचन्द्र : प्राचीन भारत में लक्ष्मी प्रतिमा, प्र. हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी-1, 1964 ई.।
237. रिचार्ड अल्डिगटन एण्ड डित्तानो अमेस : लारोसी एनसाइक्लोपीडिया ऑफ माइथालोजी, लन्दन, 1959 ई.।
238. लुइस फ्रेडरिक : इण्डियन टेम्पल्स एण्ड स्कल्पचर, लन्दन, 1959 ई.।
239. शान्ताराम भालचन्द्र देव : हिस्ट्री ऑफ जैन मोनाकिज्म फ्राम इस्क्रिपशंस एण्ड लिटरेचर, प्र. डेक्कन कॉलेज पोस्ट ग्रेजुएट रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, 1956 ई.।
240. (ब्र.) शीतलप्रसाद : बृहत् जैन शब्दार्णव, द्वितीय भाग, प्र. मूलचन्द्र किसनदास कापडिया, सूरत, 2460 वी. नि.।
241. (ब्र.) शीतलप्रसाद : संयुक्त प्रान्त के प्राचीन जैन स्मारक, प्र. हीरालाल जैन एम. ए., जैन होस्टल, इलाहाबाद, 1932 ई.।
242. (डॉ.) सत्यनारायण दुबे : प्राचीन भारत का इतिहास, प्रका. शिवलाल अग्रवाल एण्ड कम्पनी, आगरा-3, 1967 ई.।
243. (पं.) सुमेरचन्द्र दिवाकर : जैन शासन, प्र. भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, 1950 ई.।
244. (प्रो.) सैयद मुजफ्फरअली : दी जाग्रफी ऑफ दी पुराणाज, प्रका. पीपुल्स पब्लिशिंग हाउस, प्रा. लि., नयी दिल्ली, 1966 ई.।
245. डॉ. स्टेला क्रैमरिश : दी हिन्दू टेम्पल, जिल्द दो, प्र. कलकत्ता युनिवर्सिटी, 1946 ई.।
246. हरमन गट्टज : आर्ट ऑफ दी वर्ल्ड : इण्डिया, प्र. डी. वी. तारापोरवाला संस एण्ड कम्पनी प्रा. लि., बम्बई, 1959 ई.।
247. हरिप्रसाद 'हरि' : देवगढ़, प्र. दरबारीलाल जैन, ललितपुर, 1954 ई.।
248. (डॉ.) हंसमुख धीरज संकालिया : जैन आइकानोग्राफी : ए वाल्यूम ऑफ इण्डियन एण्ड इरानियन स्टडीज, बम्बई (प्रकाशन वर्ष नहीं दिया है)।
249. (डॉ.) हंसमुख धीरजलाल संकालिया : जैन यक्षस् एण्ड यक्षिणीज : बुलेटिन आफ दी डेक्कन कॉलेज, रिसर्च इन्स्टीट्यूट, जिल्द 1, अंक 2, 4 मार्च 1940 ई.।
250. (डॉ.) हीरालाल जैन : भारतीय संस्कृति में जैन धर्म का योगदान, प्रका. मध्यप्रदेश शासन साहित्य परिषद्, भोपाल, 1962 ई.।
251. हीरालाल जैन : संयुक्त प्रान्त के प्राचीन जैन स्मारक, प्रस्तावना, प्रका. हीरालाल जैन, जैन होस्टल, इलाहाबाद, 1923 ई.।
252. हैनरिच जिम्मर : दी आर्ट ऑफ इण्डियन एशिया, जिल्द 1 (वालिगटन सीरीज), न्यूयार्क, 1954 ई.।

## अभिनन्दन और स्मृति ग्रन्थ

253. ब्र. पं. चन्दाबाई अभिनन्दन ग्रन्थ : सम्पादक श्रीमती सुशीला सुलतानसिंह एवं श्रीमती जयमाला जैनेन्द्रकिशोर, प्रका. अ. भा. दि. जैन महिला परिषद्, आगरा, 1954 ई. ।
254. वर्षी अभिनन्दन ग्रन्थ : सम्पा. प्रो. खुशालचन्द्र गोरवाला आदि, प्रका. श्री वर्षी हीरक जयन्ती महोत्सव समिति, सागर, 2476 वी. नि. ।
255. गुरु गोपालदास बैरैया स्मृति ग्रन्थ : सम्पादक पं. कैलाशचन्द्र शास्त्री आदि, प्रका. अ. भा. दिगम्बर जैन विद्वत्परिषद्, सागर, 1967 ई. ।
256. श्री महावीर स्मृति ग्रन्थ : बम्बई 1948-49 ई. ।
257. विक्रम स्मृति ग्रन्थ : ग्वालियर, 2001 वि. सं. ।
258. मुनिश्री हजारीमल स्मृति ग्रन्थ : प्रधान सं. पं. शोभाचन्द्र भारिल्ल, प्रका. मुनिश्री हजारीमल स्मृति-ग्रन्थ प्रकाशन समिति, ब्यावर (राजस्थान), 1965 ई. ।

## रिपोर्ट्स

259. ए. कनिंघम : ए. एस. आई. आर. : टूरस इन बुन्देलखण्ड एण्ड मालवा इन 1874-75 एण्ड 76-77, जिल्द 10, कलकत्ता, 1880 ई. ।
260. ए. कनिंघम : ए. एस. आई. आर., जिल्द 18 ।
261. (डॉ.) ए. फुहरर : ए. एस. आई. आर., दी मानुमेण्टल एण्टिक्विटीज एण्ड इस्क्रिपशंस इन दी नार्थ-वेस्टर्न प्राविंसेज एण्ड अवध, इलाहाबाद, 1891 ई. ।
262. पी. सी. मुकर्जी : रिपोर्ट आन दी एण्टिक्विटीज इन दी डिस्ट्रिक्ट ऑफ ललितपुर, जिल्द 1, 1891 ई. ।
263. वी. ए. स्मिथ : दी जैन स्तूप एण्ड अदर एण्टिक्विटीज ऑफ मथुरा, ए. एस. आई., न्यू इम्पीरियल सीरीज, जिल्द 20, इलाहाबाद 1901 ई. ।
264. एनुअल रिपोर्ट ऑफ दी आर्क्योआलोजिकल सर्वे ऑफ इण्डिया, 1903-4 ई. ।
265. दी इम्पीरियल गजेटियर ऑफ इण्डिया, जिल्द 11, 1908 ई. ।
266. वाई. आर. गुप्ते : ए. पी. आर. : हिन्दू एण्ड बुद्धिस्ट मानुमेण्ट्स, नादर्न सर्किल, लाहौर, 1915 ई. ।
267. एच. हारग्रीव्ज : ए. पी. आर., ए. एस. आई., 1915 ई. ।
268. एच. हारग्रीव्ज : ए. एस. आई. : एनुअल प्रोग्रेस रिपोर्ट फार 1916 ई. ।

306 :: देवगढ़ की जैन कला : एक सांस्कृतिक अध्ययन



269. सर जॉन मार्शल : ए. एस. आई. : एनुअल रिपोर्ट, 1914-15, भाग 1, कलकत्ता, 1916 ई.।
270. दयाराम साहनी : ए. पी. आर. ऑफ दी सुपरिण्टेण्डेण्ट हिन्दू एण्ड बुद्धिस्ट मानुमेण्ट्स, नादन सर्किल, भाग 2, लाहौर, 1918 ई.।
271. डॉ. डी. बी. स्पूनर : ए. एस. आई. : एनुअल रिपोर्ट, 1917-18, भाग 1, कलकत्ता, 1920 ई.।
272. दयाराम साहनी : ए. एस. आई. : एनुअल प्रोग्रेस रिपोर्ट, 1920, लाहौर 1921 ई.।
273. सर जॉन मार्शल : ए. एस. आई. : ए. पी. आर., 1919-20, कलकत्ता 1922 ई.।
274. गजेटियर ऑफ दी युनाइटेड प्राविंसेज, जिल्द 24।
275. पं. माधवस्वरूप वत्स : ए. एस. आई. संख्या 70, दी गुप्ता टेम्पल ऐट देवगढ़, दिल्ली, 1952 ई.।

### पत्र-पत्रिकाएँ

276. अनेकान्त, 277. अहिंसावाणी, 278. आर्क्योलोजी इन इण्डिया, 279. इण्डियन आर्क्योलोजी, 280. इण्डियन एण्टिक्वेरी, 281. एपीग्राफिया इण्डिका, 282. कलकत्ता रिव्यू, 283. कल्पना, 284. जर्नल ऑफ इण्डियन सोसायटी ऑफ ओरियण्टल आर्ट, 285. जर्नल आफ एशियाटिक सोसायटी ऑफ बंगाल, 286. जैन मित्र, 287. जैन युग, 288. जैन सन्देश, 289. जैन सिद्धान्तभास्कर, 290. जैन हितैषी, 291. धर्मयुग, 292. नागरीप्रचारिणी पत्रिका, 293. बुलेटिन ऑफ एशियण्ट इण्डियन हिस्ट्री एण्ड आर्क्योलोजी, सागर विश्वविद्यालय, 294. बुलेटिन ऑफ दी डक्कन कॉलेज रिसर्च इन्स्टीट्यूट, पूना, 295. मध्यप्रदेश सन्देश, 296. विश्वेश्वरानन्द भारत-भारती, होशियारपुर, 297. वीर, 298. वीरवाणी, 299. शिक्षा, 300. सागर विश्वविद्यालय पुरातत्त्व पत्रिका, 301. सन्मति-सन्देश, 302. त्रिपथगा।

## 4. चित्र-परिचय

यहाँ परिचय के प्रारम्भ में दिये गये अंक चित्र-संख्या के सूचक हैं।

1. जैन मन्दिर संख्या एक।
2. जैन मन्दिर संख्या दो।
3. जैन मन्दिर संख्या तीन।
4. जैन मन्दिर संख्या चार।
5. जैन मन्दिर संख्या पाँच : सहस्रकूट चैत्यालय।
6. जैन मन्दिर संख्या पाँच का पूर्वी द्वार।
7. जैन मन्दिर संख्या पाँच का पश्चिमी द्वार।
8. सहस्रकूट स्तम्भ (मन्दिर संख्या पाँच)।
9. जैन मन्दिर संख्या छह।
10. जैन मन्दिर संख्या सात।
11. कमल (मन्दिर संख्या सात के भीतर छत के ऊपरी भाग में आलिखित)।
12. चरणपादुकाएँ (मन्दिर संख्या सात)।
13. जैन मन्दिर संख्या आठ।
14. जैन मन्दिर संख्या दश।
14. ब-जैन मन्दिर संख्या दश में साधु और साध्वी।
15. जैन मन्दिर संख्या ग्यारह।
16. जैन मन्दिर संख्या बारह का अर्धमण्डप।
17. जैन मन्दिर संख्या बारह का महामण्डप।
18. जैन मन्दिर संख्या बारह के गर्भगृह का प्रवेश-द्वार।
19. लक्ष्मी, नवग्रह, सोलह स्वप्न, विद्याधर आदि; मन्दिर संख्या 12 के गर्भगृह के प्रवेश-द्वार के सिरदल पर।
20. तीर्थंकर मूर्तियाँ, विद्याधर, सरस्वती, नवग्रह, सोलह स्वप्न आदि;

308 :: देवगढ़ की जैन कला : एक सांस्कृतिक अध्ययन

- मन्दिर संख्या 12 के गर्भगृह के प्रवेश-द्वार के सिरदल पर ।
21. यमुना (कच्छपारूढा) : मन्दिर संख्या 12 के गर्भगृह के प्रवेश-द्वार के दायें पक्ष पर ।
  22. पौराणिक कथाएँ—मुनि द्वारा शूकर को सम्बोधन, नवधा भक्ति तथा युग्म : मन्दिर संख्या 12 के गर्भगृह के प्रवेश-द्वार के दायें पक्ष पर ।
  23. प्रेमालिंगित युग्म तथा नवधा भक्ति (आहार ग्रहण करते हुए मुनि) : मन्दिर संख्या 12 के प्रदक्षिणापथ के प्रवेश-द्वार के दायें पक्ष पर ।
  24. देवगढ़ का विशाल और भव्य जैन मन्दिर (संख्या 12) ।
  25. जैन मन्दिर संख्या 12 का कलापूर्ण शिखर ।
  26. जैन मन्दिर संख्या 15 ।
  27. जैन मन्दिर संख्या 16 ।
  28. जैन मन्दिर संख्या 18 ।
  29. जैन मन्दिर संख्या 21 ।
  30. जैन मन्दिर संख्या 22 ।
  31. जैन मन्दिर संख्या 27 ।
  32. जैन मन्दिर संख्या 28 ।
  33. यमुना, नागी एवं युग्म : मन्दिर संख्या 28 के प्रवेश-द्वार के दायें पक्ष पर ।
  34. जैन मन्दिर संख्या 30 ।
  35. जैन मन्दिर संख्या 31 का प्रवेश-द्वार ।
  36. जैन मन्दिर संख्या 31 ।
  37. वर्तमान जैन मन्दिर संख्या एक के दक्षिण में स्थित ध्वस्त अधिष्ठान और स्तम्भों के आधार पर पूर्ववर्ती मन्दिर संख्या एक का कल्पित रेखाचित्र ।
  38. जैन मन्दिर संख्या ग्यारह की विन्यास रूपरेखा ।
  39. जैन मन्दिर संख्या बारह के महामण्डप में श्रीमण्डप की परिकल्पना ।
  40. जैन मन्दिर संख्या 15 की विन्यास रूपरेखा ।
  41. जैन मन्दिर संख्या 18 की विन्यास रूपरेखा ।
  42. जैन मन्दिर संख्या 28 की विन्यास रूपरेखा ।
  43. मानस्तम्भ क्रमांक चार, तीन, दो (मन्दिर संख्या एक के पीछे स्थित) ।
  44. मानस्तम्भ क्रमांक पाँच ।
  45. मानस्तम्भ क्रमांक ग्यारह ।
  46. मानस्तम्भ क्रमांक बारह : 176 मूर्तियाँ उत्कीर्ण ।
  47. मानस्तम्भ क्रमांक तेरह : 176 मूर्तियाँ उत्कीर्ण ।

48. मानस्तम्भ क्रमांक 17।
49. अठारह भाषा और लिपिवाला अभिलेख।
50. प्राचीनतम तीर्थकर मूर्ति : मन्दिर संख्या 12।
51. विशालतम तीर्थकर मूर्ति (शान्तिनाथ के नाम से प्रसिद्ध) मन्दिर संख्या 12।
52. पद्मासन तीर्थकर : मन्दिर संख्या 15।
53. पद्मासन तीर्थकर : मन्दिर संख्या छह।
54. नेमिनाथ : मन्दिर संख्या 15।
55. पार्श्वनाथ : दोनों बगलों में सर्प का अंकन—मन्दिर संख्या 6।
56. पार्श्वनाथ : चकवा के चिह्न सहित (जैन चहारदीवारी)।
57. संगीत मण्डली, नृत्यमण्डली तथा पद्मासन तीर्थकर : जैन चहारदीवारी।
58. अभिनन्दननाथ : मन्दिर संख्या 9।
59. आदिनाथ : मन्दिर संख्या 3।
60. आदिनाथ तथा अन्य तीर्थकर : मन्दिर संख्या 2।
61. कलापूर्ण किन्तु सम्प्रति शिरहीन तीर्थकर : मन्दिर संख्या 21 के पश्चिमी कोष्ठ में।
62. नमिनाथ : मन्दिर संख्या 28।
63. तीर्थकर : नवग्रह एवं अम्बिका यक्षी अंकित होते हुए भी फणावलिधारी (मन्दिर संख्या 12)।
64. कलापूर्ण चतुर्विंशति पट्ट : मन्दिर संख्या 12।
65. चतुर्विंशति पट्ट : जिसमें केवल 23 मूर्तियाँ हैं : मन्दिर संख्या 4।
66. आदिनाथ : मन्दिर संख्या 2।
67. आदिनाथ : मन्दिर संख्या 2।
68. तीर्थकर : (1) लम्बी और सुसज्जित केश राशियुक्त तथा (2) नवग्रह अंकित (मन्दिर संख्या 13)।
69. तीर्थकर : (1) तकिया के रूप में फणावलि तथा (2) सुसज्जित केशराशि (जैन चहारदीवारी)।
70. पार्श्वनाथ : तकिया के रूप में फणावलि : मन्दिर संख्या 12।
71. पार्श्वनाथ : सर्प के आसन पर आसीन : मन्दिर संख्या 25।
72. तीर्थकर (जैन चहारदीवारी) तथा तीर्थसेवक बरयाजी।
73. तीर्थकर : चीनी मुखाकृति तथा केशराशि : मन्दिर संख्या 12।
74. ऋषभनाथ (जैन धर्मशास्त्र)।
75. तीर्थकर, पाठशाला दृश्य एवं चतुर्विंशति पट्ट : मन्दिर संख्या 4।
76. तीर्थकर तथा खड़ी सरस्वती : मन्दिर संख्या 1।

310 :: देवगढ़ की जैन कला : एक सांस्कृतिक अध्ययन

77. तीर्थंकर तथा पाठशाला दृश्य : मन्दिर संख्या 11।
78. पाठशाला दृश्य : मन्दिर संख्या 1।
79. पाठशाला दृश्य : मन्दिर संख्या 4।
80. आचार्य, जिनके पीछे एक ओर श्राविका छत्र लिये खड़ी है तथा दूसरी ओर अंजलिबद्ध भक्त (झोली लटकाये हुए) अंकित हैं। पाठशाला दृश्य : मन्दिर संख्या 1।
81. पाठशाला दृश्य : द्वितीय कोट का प्रवेश-द्वार।
82. पाठशाला दृश्य तथा तीर्थंकर : मन्दिर संख्या 12 के सामने पड़ा हुआ, किसी द्वार का सिरदल।
83. उपाध्याय (दिगम्बर जैन चैत्यालय)।
84. उपाध्याय (जैन धर्मशाला)।
85. उपाध्याय : मन्दिर संख्या एक के निकट ध्वस्त अधिष्ठान पर।
86. बाहुबली (जैन धर्मशाला)।
87. बाहुबली (मन्दिर संख्या 11)।
88. बाहुबली (मन्दिर संख्या 2)।
89. भरत चक्रवर्ती : जैन धर्मशाला।
90. मुनिविहार, उपदेश एवं प्रेभालिगित युग्म : मन्दिर संख्या 12 के सामने पड़े हुए ध्वंसावशेष।
91. लेटे हुए मुनि : कोई महिला जिसका संवाहन कर रही है : मन्दिर संख्या 18।
92. साधु और आर्यिका : मन्दिर संख्या 10।
93. तीर्थंकर की माता : मन्दिर संख्या 4।
94. उदासीन श्रावक : मन्दिर संख्या 10।
95. सरस्वती : मन्दिर संख्या 19।
96. सरस्वती-मन्दिर संख्या 19।
97. मानसी देवी : मन्दिर संख्या 19।
98. गोमुखयक्ष : मन्दिर संख्या 12।
99. चक्रेश्वरी : विंशतिभुजी (जैन धर्मशाला)।
100. चक्रेश्वरी : विंशतिभुजी (जैन धर्मशाला)।
101. सुलोचना यक्षी (मन्दिर संख्या 12)।
102. सुमालिनी यक्षी (मन्दिर संख्या 12)।
103. अम्बिका : बड़ा पेट (जैन चहारदीवारी)।
104. अम्बिका।
105. अम्बिका : मन्दिर संख्या 12।

106. पद्मावती : जैन धर्मशाला ।
107. धरणेन्द्र पद्मावती (मन्दिर संख्या 24) ।
108. धरणेन्द्र पद्मावती : जैन चहारदीवारी ।
109. संगीत मण्डली, नृत्य मण्डली, धरणेन्द्र पद्मावती एवं अम्बिका (जैन चहारदीवारी) ।
110. धरणेन्द्र-पद्मावती ।
111. चक्रेश्वरी : दशभुजी (मानस्तम्भ क्रमांक 11) ।
112. देवी : द्वादशभुजी (मानस्तम्भ क्रमांक 11) ।
113. क्षेत्रपाल (मानस्तम्भ क्रमांक तीन) ।
114. स्नेही दम्पती (मन्दिर संख्या 4) ।
115. पिटता हुआ पुरुष और लजाती हुई नारी : मन्दिर संख्या चार ।
116. दर्पण के सहारे ललाटिका ठीक करती हुई सुन्दरी (मन्दिर संख्या 18) ।
117. दर्पणधारिणी शुचिस्मिता : मन्दिर संख्या 11 ।
118. संगीत मण्डली और गोमुख यक्ष : मन्दिर संख्या 12 का अर्धमण्डप ।
119. युग्म : स्नेहालिंगन (जैन धर्मशाला) ।
120. सम्भोगरत एवं स्नेहालिंगित युग्म (मन्दिर संख्या 11) ।
121. स्नेहालिंगन, दाढ़ी आदि (जैन चहारदीवारी) ।
122. वैभवसम्पन्न किन्तु विनम्र उपासक (जैन चहारदीवारी) ।



1. जैन मन्दिर संख्या एक



2. जैन मन्दिर संख्या दो

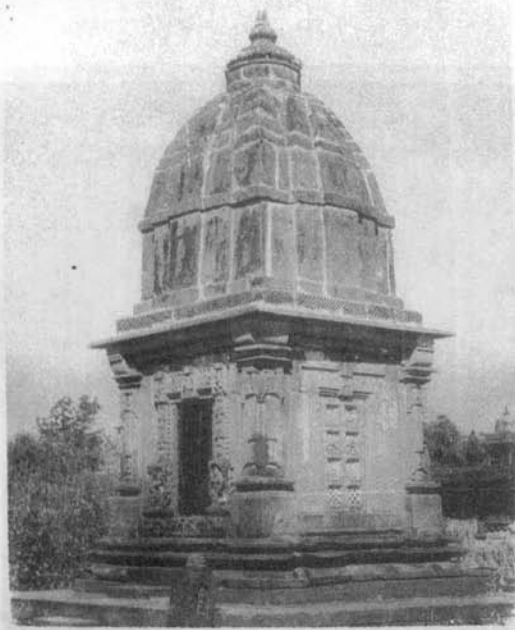


3. जैन मन्दिर संख्या तीन



4. जैन मन्दिर संख्या चार



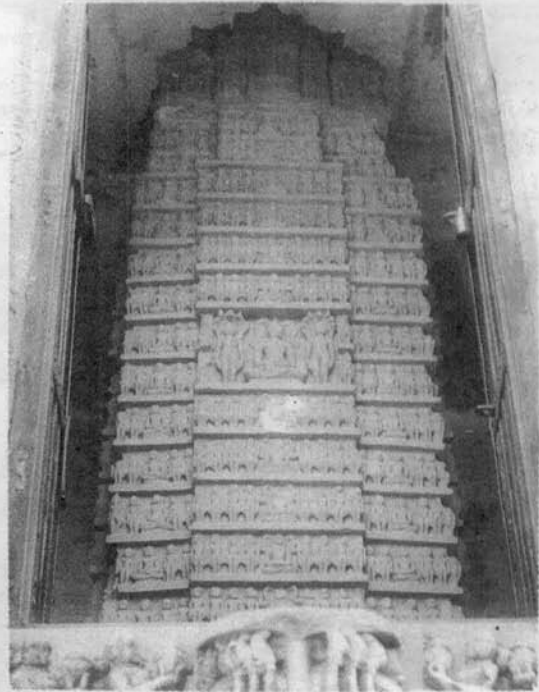


5. जैन मन्दिर संख्या पाँच : सहस्रकूट चैत्यालय





7. जैन मन्दिर संख्या पाँच का पश्चिमी द्वार



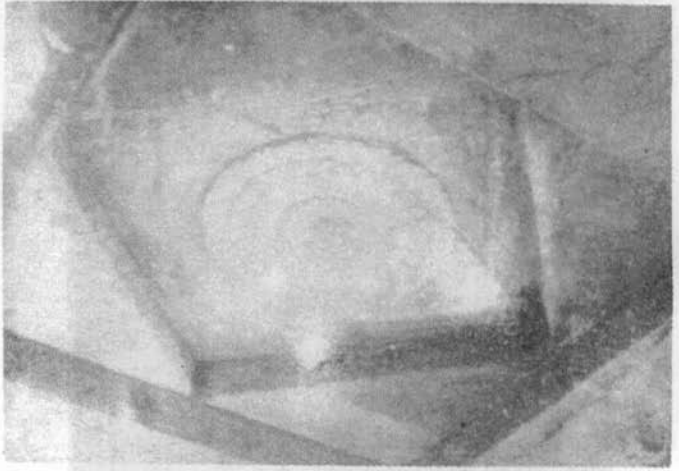
8. सहस्रकूट स्तम्भ (मन्दिर संख्या पाँच)



9. जैन मन्दिर संख्या छह



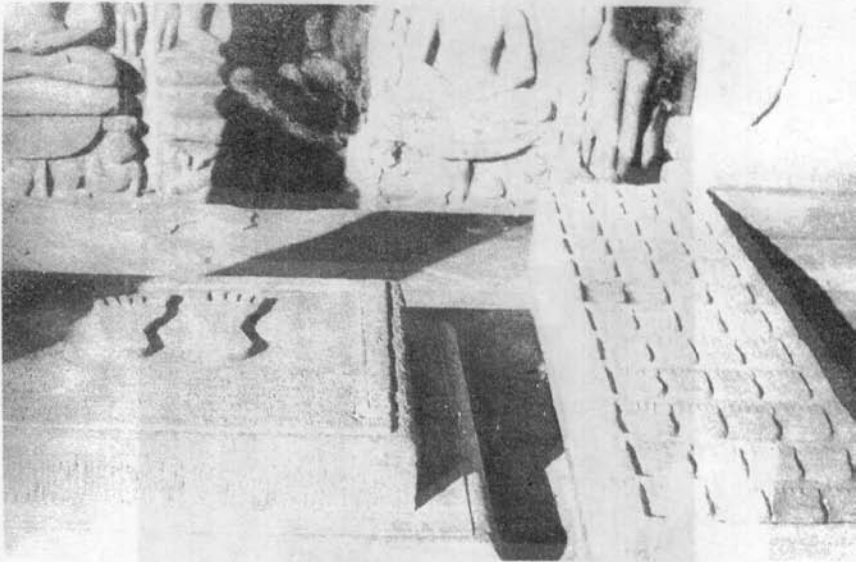
10. जैन मन्दिर संख्या सात



11. कमल (मन्दिर संख्या सात के भीतर छत के ऊपरी भाग में आलिखित)

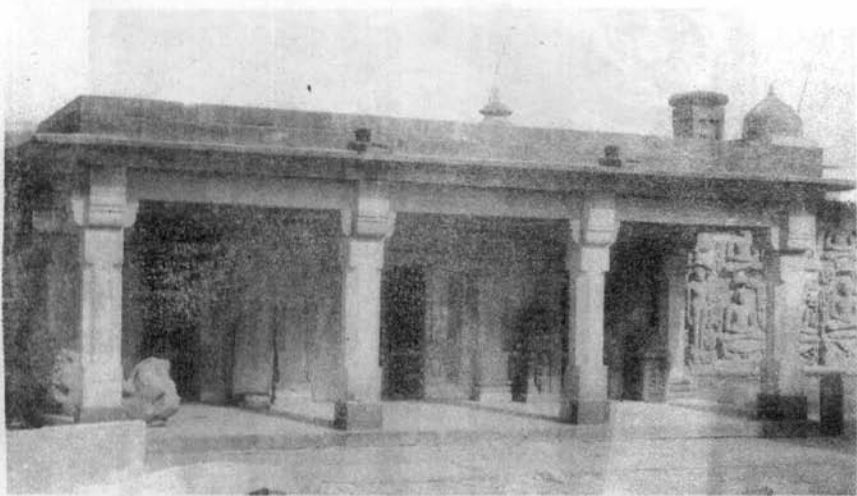
सप्तम मन्दिर संख्या सात के भीतर

छत के ऊपरी भाग में आलिखित



12. चरणपादुकाएँ (मन्दिर संख्या सात)

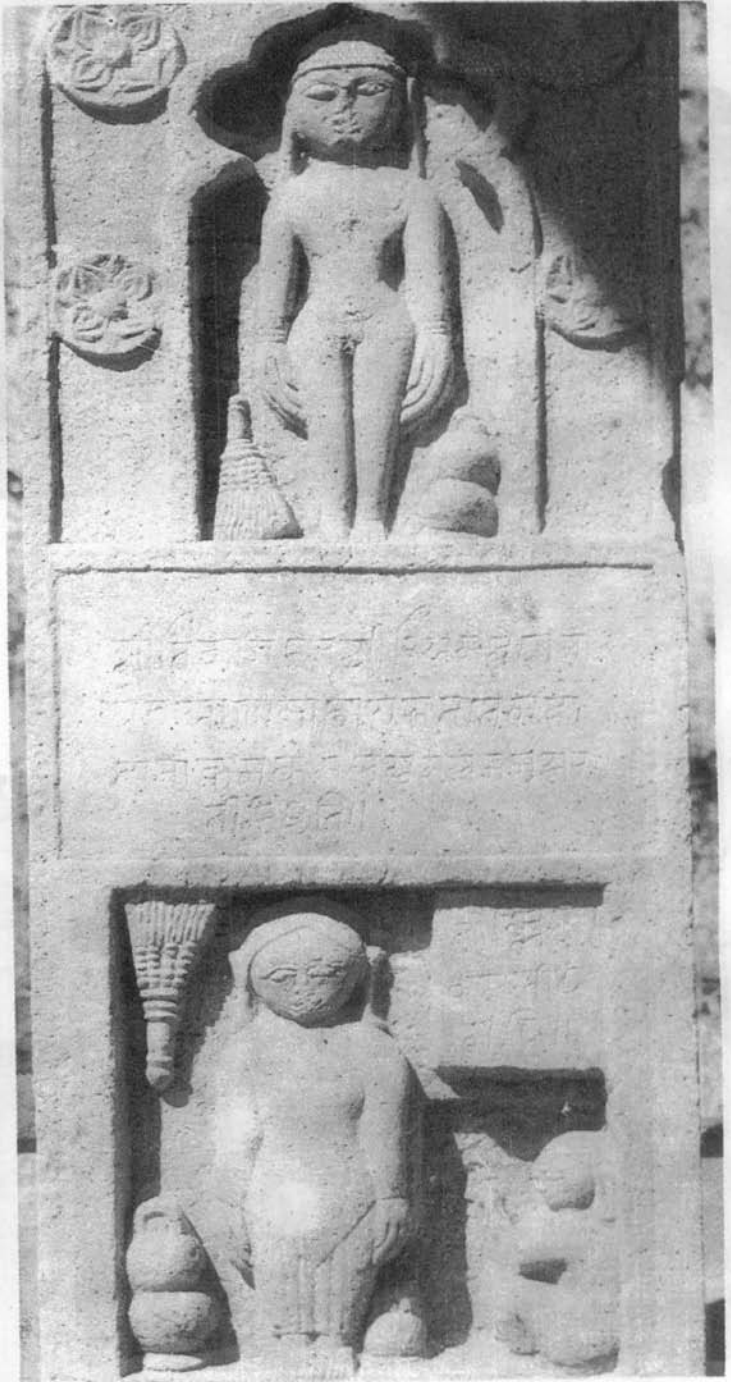
सप्तम मन्दिर संख्या सात



13. जैन मन्दिर संख्या आठ



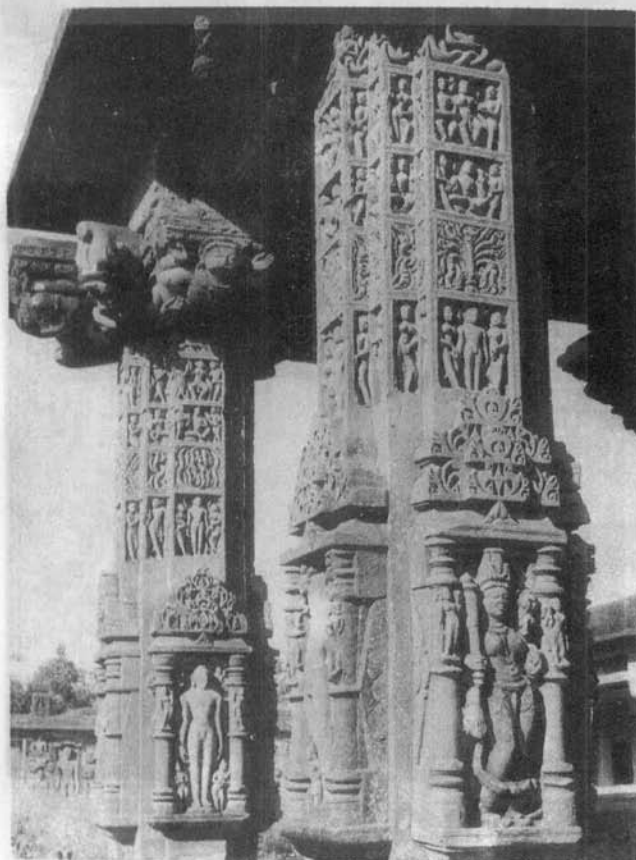
14. जैन मन्दिर संख्या दश



14. ब-जैन मन्दिर संख्या दश मे साधु और साध्वी

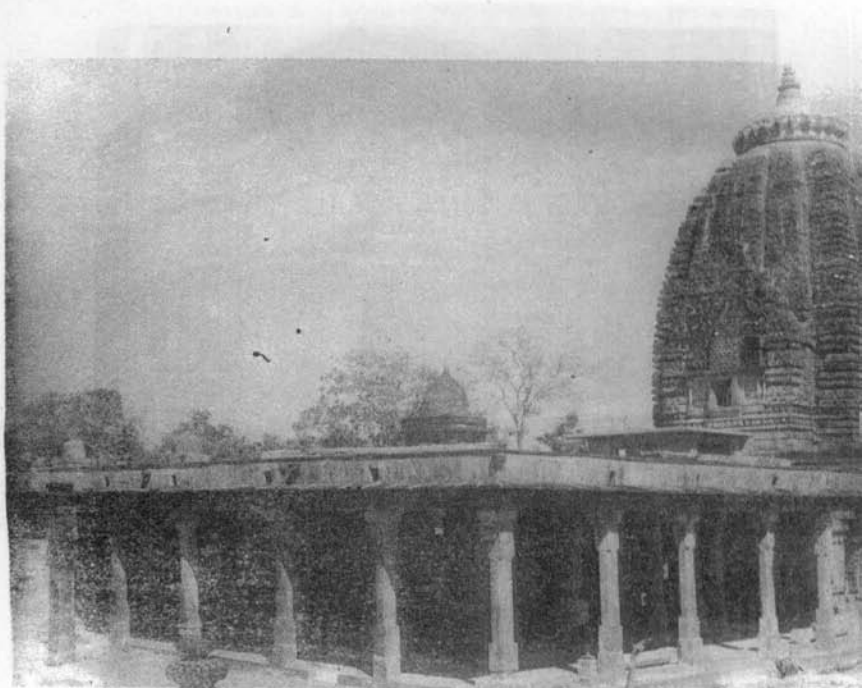


15. जैन मन्दिर संख्या ग्यारह

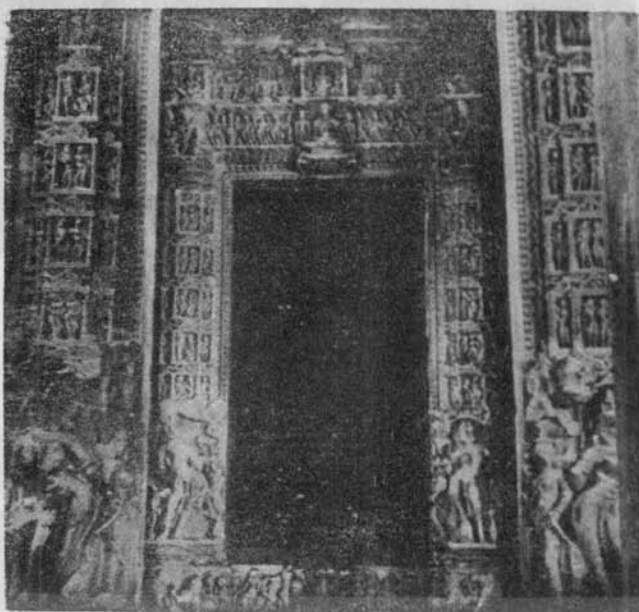


16. जैन मन्दिर संख्यां बारह का अर्धमण्डप





17. जैन मन्दिर संख्या बारह का महामण्डप



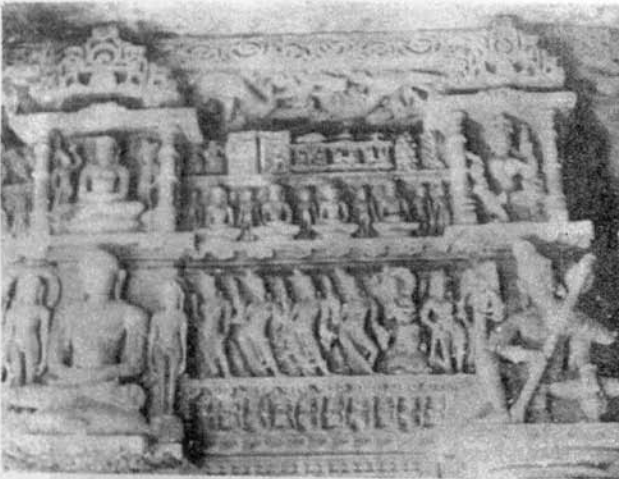
18. जैन मन्दिर संख्या बारह के गर्भगृह का प्रवेश-द्वार





19. लक्ष्मी, नवग्रह, सोलह स्वप्न, विद्याधर आदि  
(मन्दिर संख्या 12 के गर्भगृह के प्रवेश-द्वार के सिरदल पर)

के 24 अक्षर प्रमाण (अक्षरसंख्या) प्रमाण 15  
के 24 अक्षर प्रमाण के प्रमाण के प्रमाण

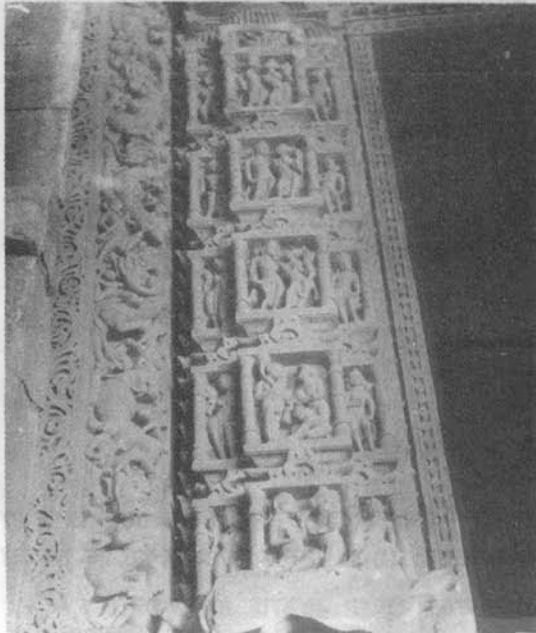


20. तीर्थंकर मूर्तियाँ, विद्याधर, सरस्वती, नवग्रह, सोलह स्वप्न आदि  
(मन्दिर संख्या 12 के गर्भगृह के प्रवेश-द्वार के सिरदल पर)

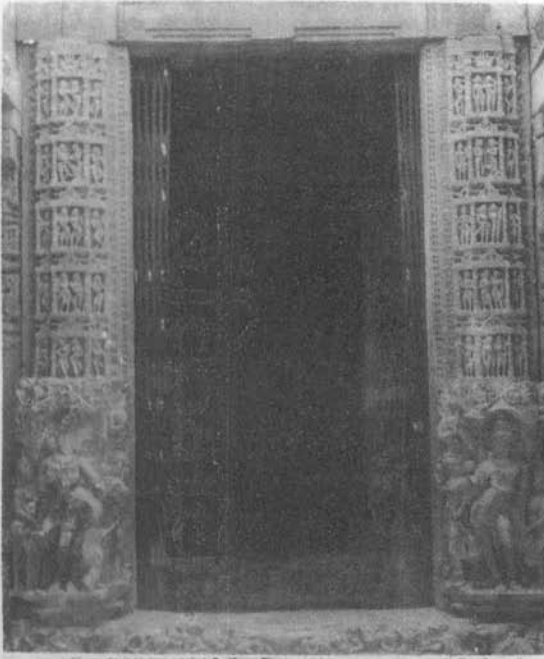
24 अक्षर प्रमाण (अक्षरसंख्या) प्रमाण 15  
के 24 अक्षर प्रमाण के प्रमाण के प्रमाण



21. यमुना (कच्छपारूढा) : मन्दिर संख्या 12 के गर्भगृह के प्रवेश-द्वार के दायें पक्ष पर



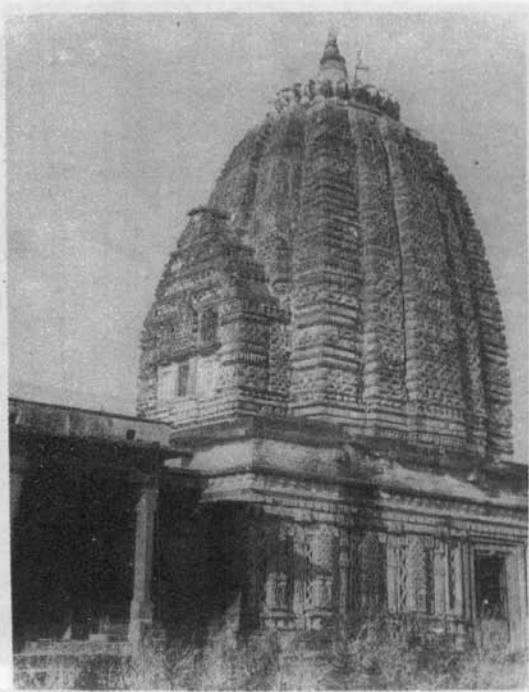
22. पौराणिक कथाएँ—मुनि द्वारा शूकर को सम्बोधन, नवधा भक्ति तथा युग्म : मन्दिर संख्या 12 के गर्भगृह के प्रवेश-द्वार के दायें पक्ष पर



23. प्रेमालिङ्गित युग्म तथा नवधा भक्ति (आहार ग्रहण करते हुए मुनि) :  
मन्दिर संख्या 12 के प्रदक्षिणापथ के प्रवेश-द्वार के दायें पक्ष पर



24. देवगढ़ का विशाल और श्रेष्ठ जैन मन्दिर (संख्या 12)



25. जैन मन्दिर संख्या 12 का कलापूर्ण शिखर



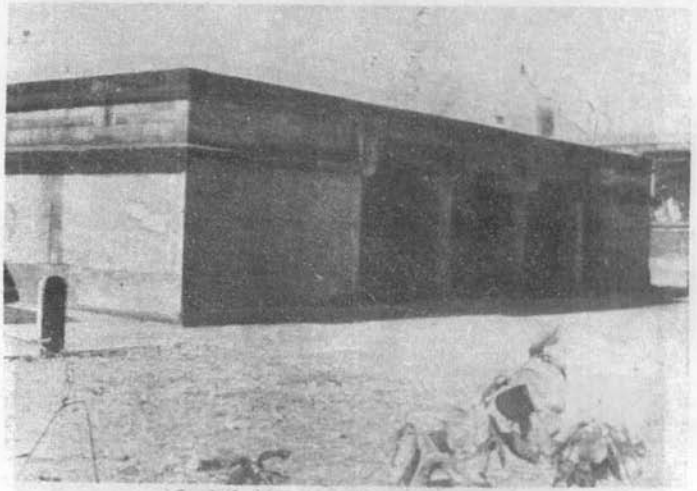
26. जैन मन्दिर संख्या 15



27. जैन मन्दिर संख्या 16



28. जैन मन्दिर संख्या 18



29. जैन मन्दिर संख्या 21



30. जैन मन्दिर संख्या 22

81 100K 1000 100 100

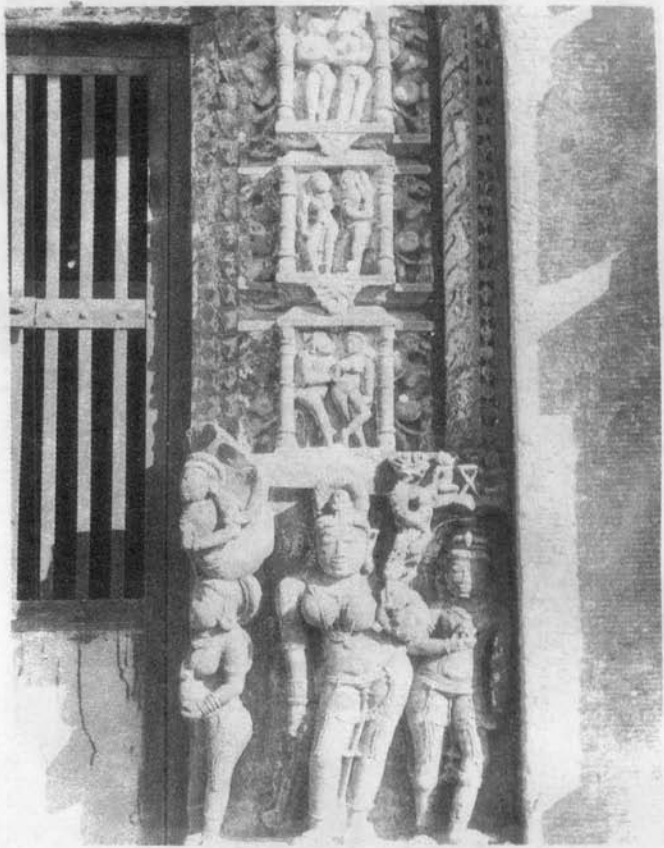


31. जैन मन्दिर संख्या 27



32. जैन मन्दिर संख्या 28





33. यमुना, नागी एव युग्म : मन्दिर संख्या 28 के प्रवेश-द्वार के दायें पक्ष पर



34. जैन मन्दिर संख्या 30

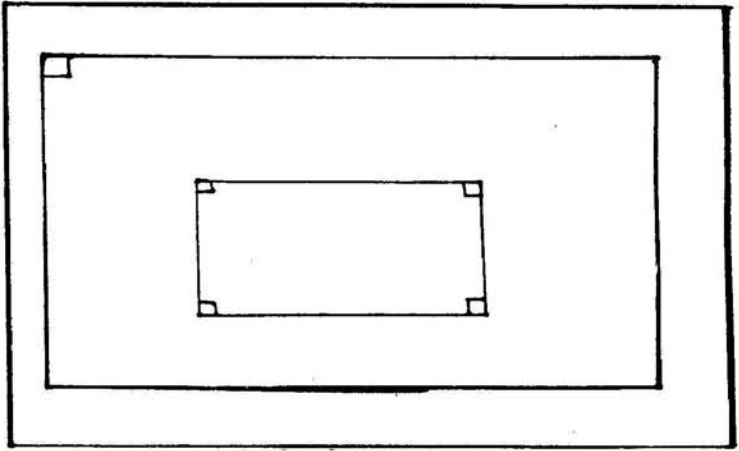




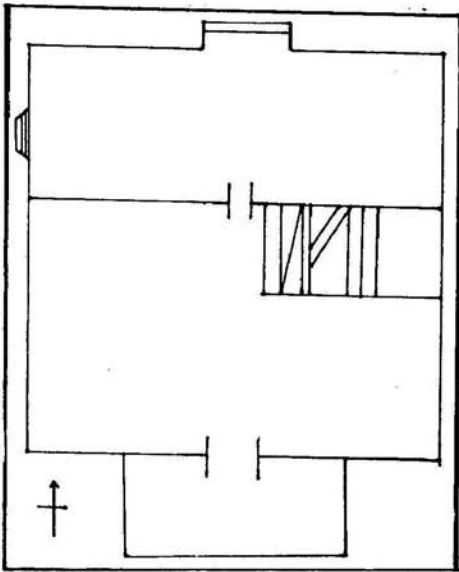
35. जैन मन्दिर संख्या 31 का प्रवेश-द्वार



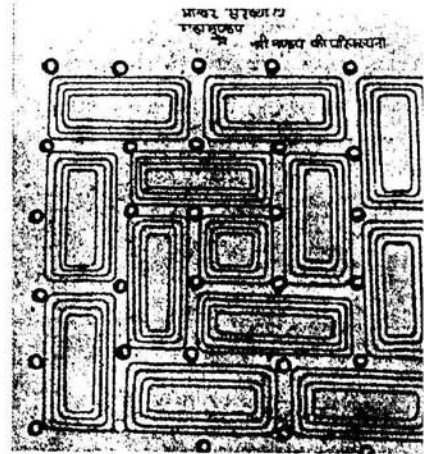
36. जैन मन्दिर संख्या 31



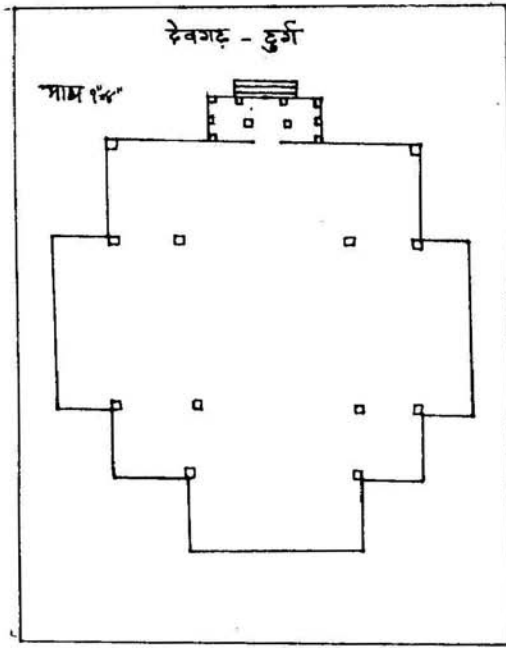
37. वर्तमान जैन मन्दिर संख्या एक के दक्षिण में स्थित ध्वस्त अधिष्ठान और स्तम्भों के आधार पर पूर्ववर्ती मन्दिर संख्या एक का कल्पित रेखाचित्र



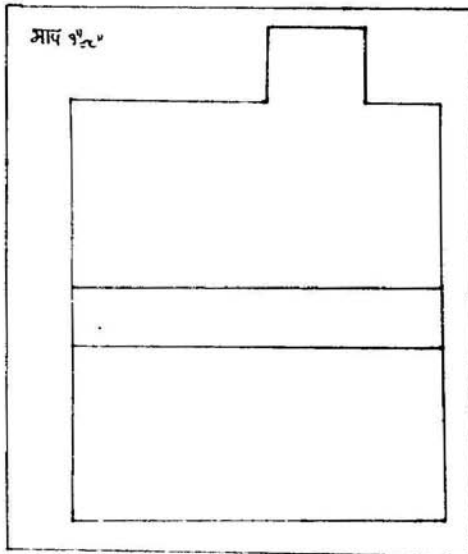
38. जैन मन्दिर संख्या ग्यारह की विन्यास रूपरेखा



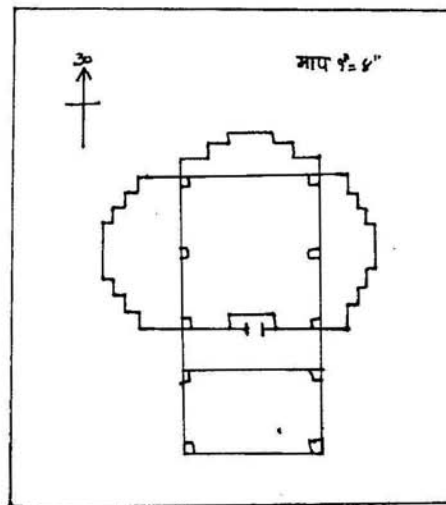
39. जैन मन्दिर संख्या बारह के महामण्डप में श्रीमण्डप की परिकल्पना



40. जैन मन्दिर संख्या 15 की विन्यास रूपरेखा



41. जैन मन्दिर संख्या 18 की विन्यास रूपरेखा



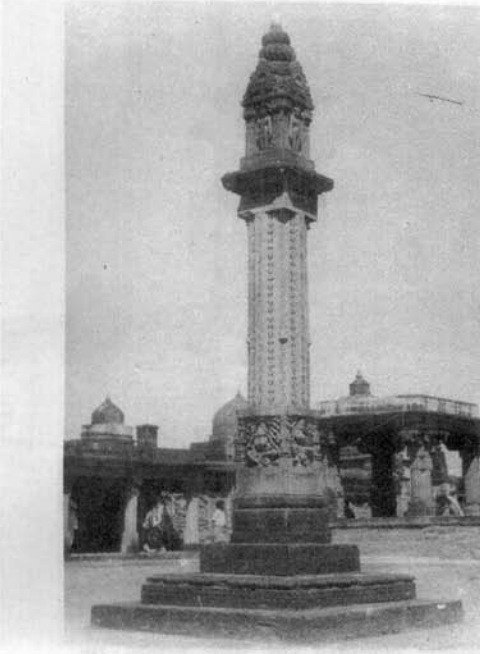
42. जैन मन्दिर संख्या 28 की विन्यास रूपरेखा



43. मानस्तम्भ क्रमांक चार, तीन, दो  
(मन्दिर संख्या एक के पीछे स्थित)



44. मानस्तम्भ क्रमांक पाँच



45. मानस्तम्भ क्रमांक ग्यारह



46. मानस्तम्भ क्रमांक बारह : 176 मूर्तियाँ उत्कीर्ण



47. मानस्तम्भ क्रमांक तेरह : 176 मूर्तियाँ उत्कीर्ण



48. मानस्तम्भ क्रमांक 17



49. अठारह भाषा और लिपिवाला अभिलेख

(इतिहास में अठारह भाषाओं में लिखा गया है) और अठारह भाषाओं में लिखा है । 12

12 भाषाओं में लिखा है



50. प्राचीनतम तीर्थंकर मूर्ति : मन्दिर संख्या 12



51. विशालतम तीर्थंकर मूर्ति (शान्तिनाथ के नाम से प्रसिद्ध)  
मन्दिर संख्या 12



52. पद्मासन तीर्थंकर (मन्दिर संख्या 15)





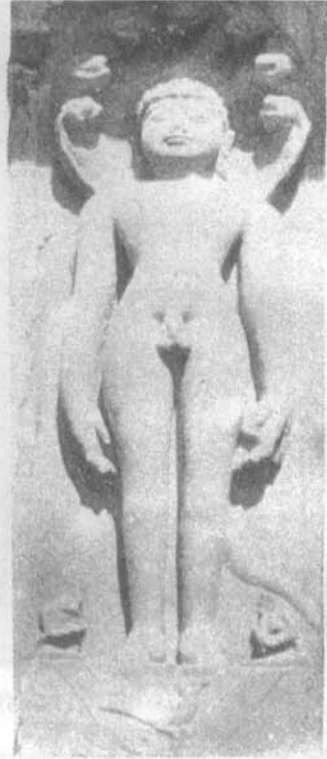
53. पद्मासन तीर्थंकर (मन्दिर संख्या छह)



54. नेमिनाथ (मन्दिर संख्या 15)



55. पार्श्वनाथ : दोनों बगलों में सर्प का अंकन  
(मन्दिर संख्या 6)



56. पार्श्वनाथ : चक्रवा के चिह्न सहित  
(जैन चहारदीवारी)



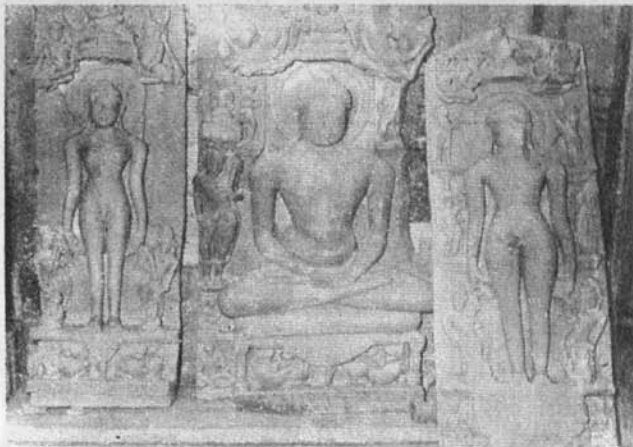
57. संगीतमण्डली, नृत्यमण्डली तथा पद्यासन तीर्थंकर  
(जैन चहारदीवारी)



58. अभिनन्दननाथ (मन्दिर संख्या 9)



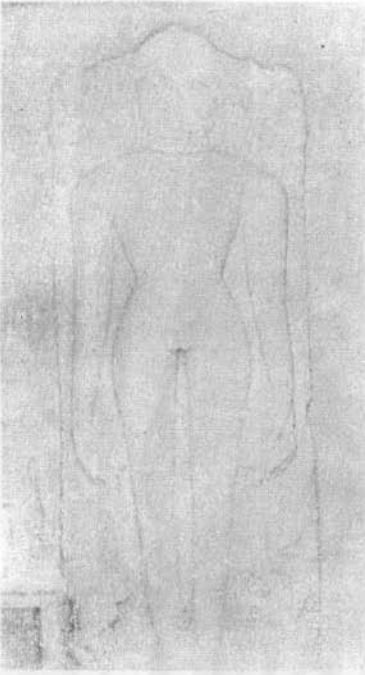
59. आदिनाथ (मन्दिर संख्या 3)



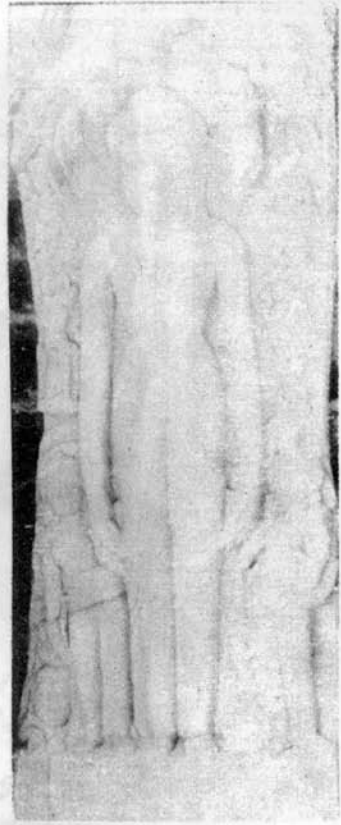
60. आदिनाथ तथा अन्य तीर्थंकर (मन्दिर संख्या 2)



61. कलापूर्ण किन्तु सम्प्रति शिरहीन तीर्थंकर  
(मन्दिर संख्या 21 के पश्चिमी कोष्ठ मे)



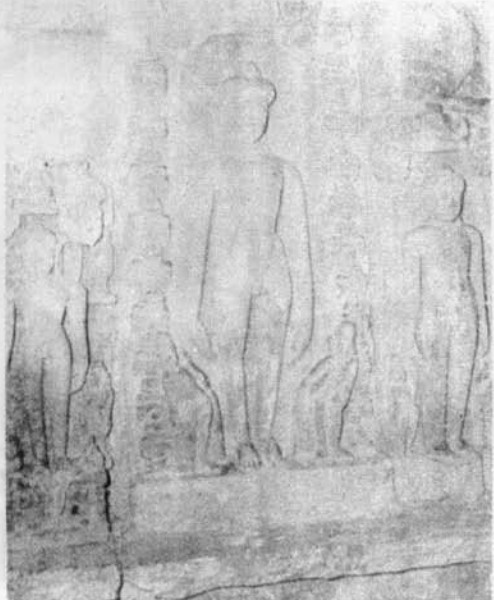
62. नमिनाथ : मन्दिर संख्या 28



63. तीर्थंकर : नवग्रह एवं अश्विका यक्षी अंकित होते हुए भी फणावलिधारी (मन्दिर संख्या 12)



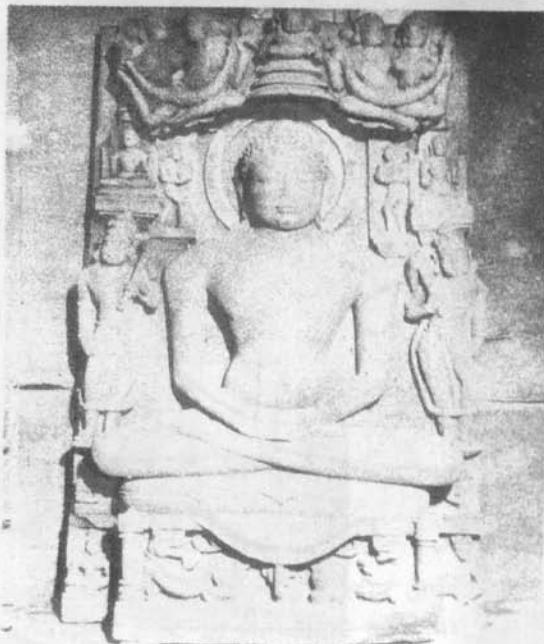
64. कलापूर्ण चतुर्विंशति पट्ट (मन्दिर संख्या 12)



65. चतुर्विंशति पट्ट : जिसमे केवल 23 मूर्तियाँ हैं (मन्दिर संख्या 4)

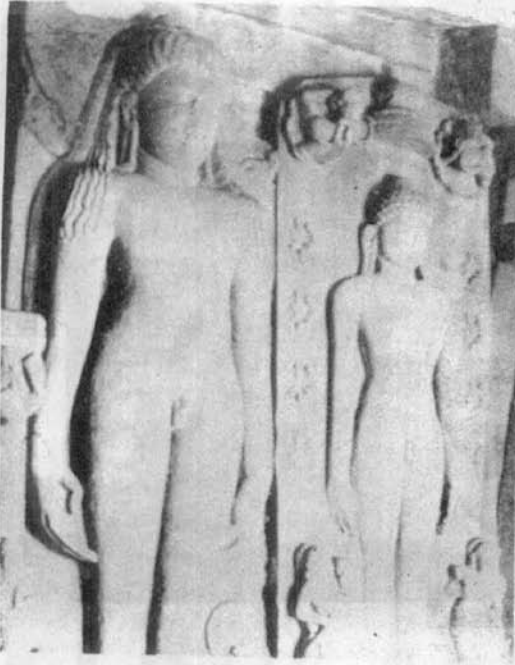


66. આદિનાથ : મન્દિર સંખ્યા 2



67. આદિનાથ : મન્દિર સંખ્યા 2

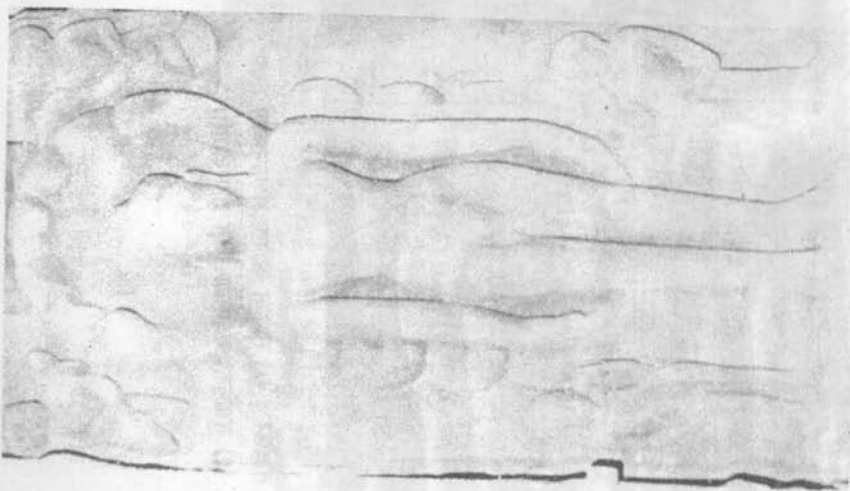




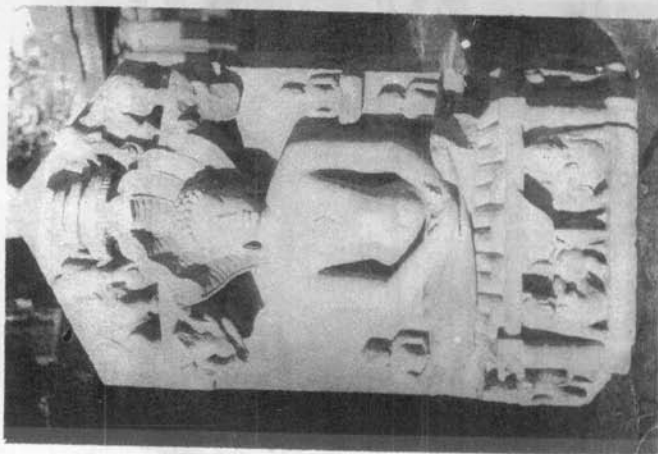
68. तीर्थंकर : (1) लम्बी और सुसज्जित केश राशियुक्त  
तथा (2) नवग्रह अंकित (मन्दिर संख्या 13)



69. तीर्थंकर : (1) तक्रिया के रूप में फणावलि तथा  
(2) सुसज्जित केशराशि (जैन चहारदीवारी)



70. पार्श्वनाथ : तक्रिया के रूप में फणावलि



71. पार्श्वनाथ : सर्प के आसन पर आसीन :  
मन्दिर संख्या 25





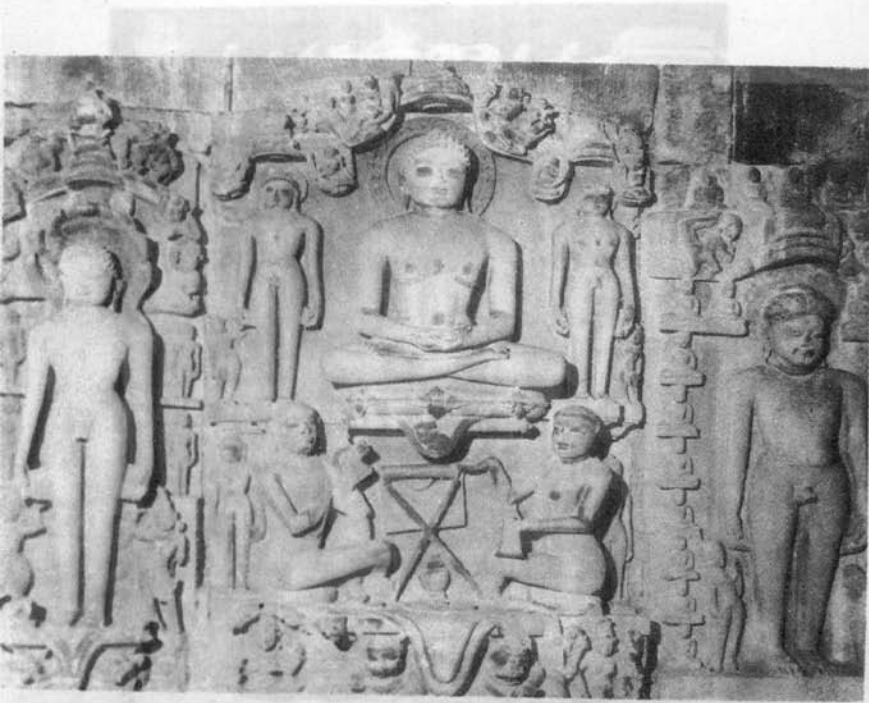
72. तीर्थंकर (जैन चहारदीवारी) तथा तीर्थसेवक बरयाजी



73. तीर्थंकर : चीनी मुखाकृति तथा केशराशि  
(मन्दिर संख्या 12)



74. ऋषभनाथ (जैन धर्मशाला)



75. तीर्थकर, पाठशाला दृश्य एवं चतुर्विंशति पङ्क : मन्दिर संख्या 4



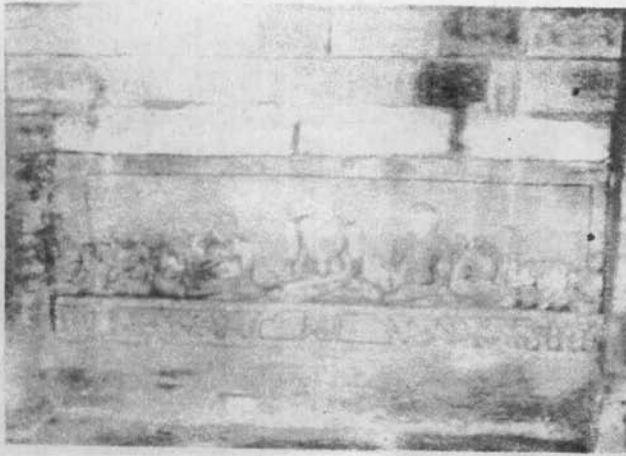
76. तीर्थकर तथा खड़ी सरस्वती : मन्दिर संख्या 1



77. तीर्थंकर तथा पाठशाला दृश्य : मन्दिर संख्या 1



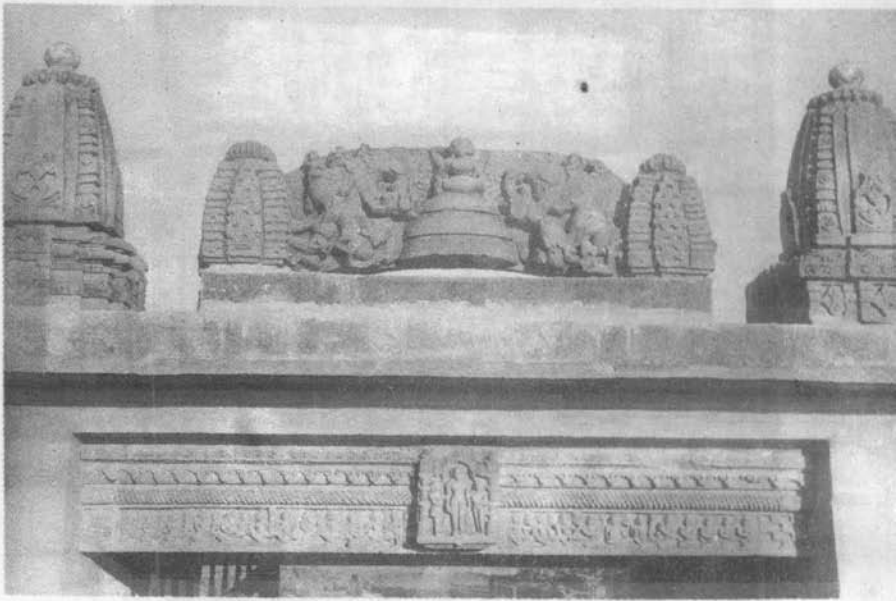
78. पाठशाला दृश्य : मन्दिर संख्या 1



79. पाठशाला दृश्य : मन्दिर संख्या 4



80. आचार्य, जिनके पीछे एक ओर श्राविका छत्र लिये खड़ी है  
तथा दूसरी ओर अंजलिबद्ध भक्त (झोली लटकाये हुए)  
अंकित हैं पाठशाला दृश्य : मन्दिर संख्या 1

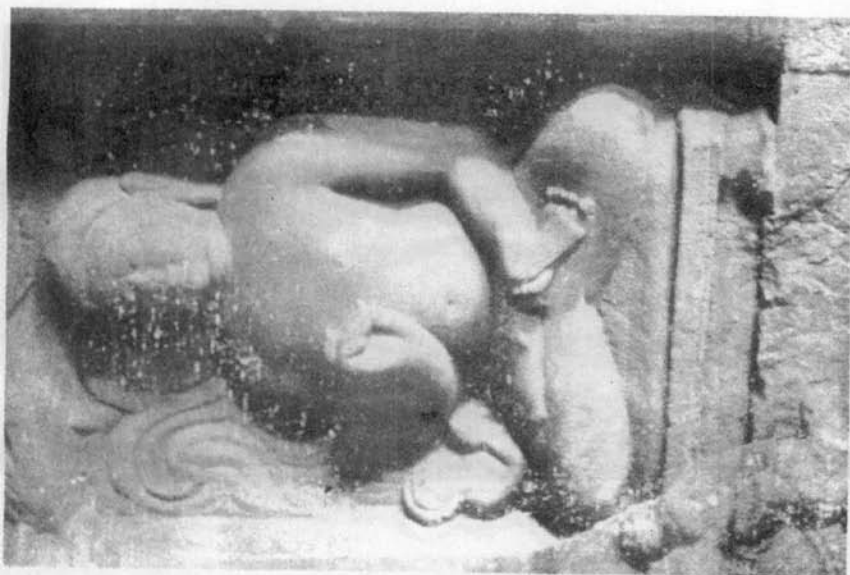


81. पाठशाला दृश्य : द्वितीय कोट का प्रवेश-द्वार



82. पाठशाला दृश्य तथा तीर्थंकर : मन्दिर संख्या 12 के सामने पड़ा हुआ, किसी द्वार का सिरदल





84. उपाध्याय (जैन धर्मशाला )



83. उपाध्याय (दिगम्बर जैन चैत्यालय)



86. बाहुवली (जैन धर्मशाला)

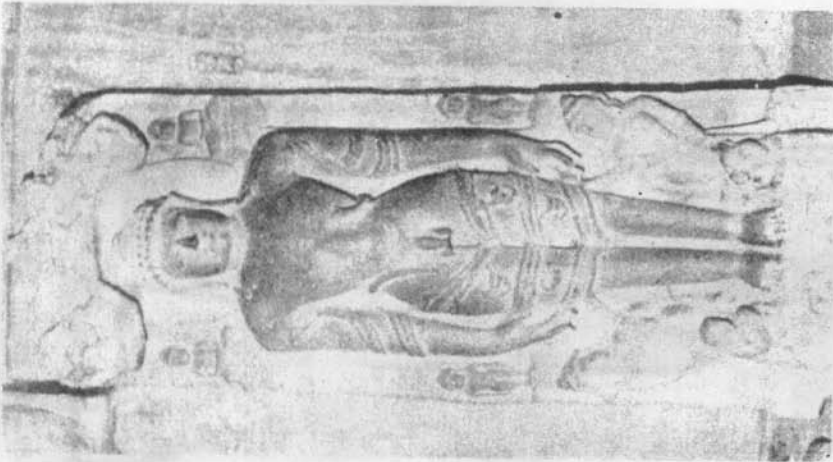


85. उपाध्याय : मन्दिर संख्या एक के निकट  
ध्वस्त अधिष्ठान पर

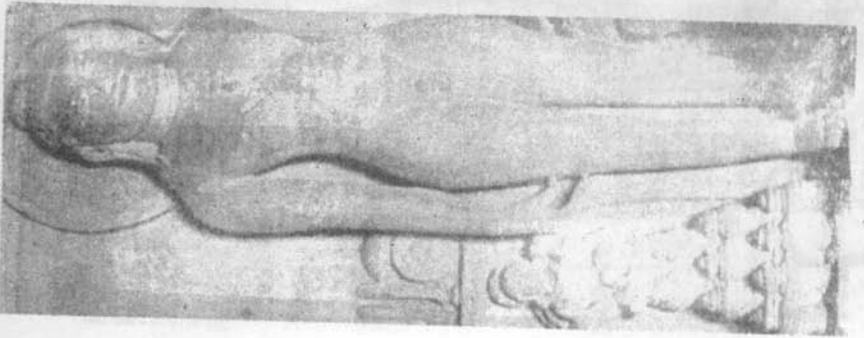




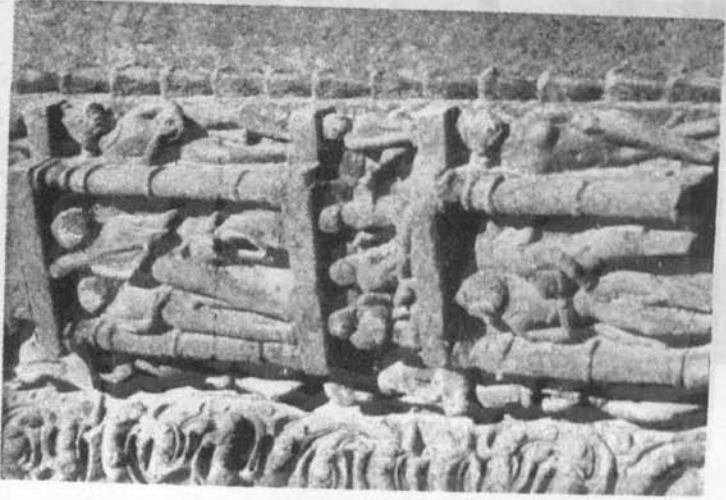
88. बाहुबली (मन्दिर संख्या 2)



87. बाहुबली (मन्दिर संख्या 11)



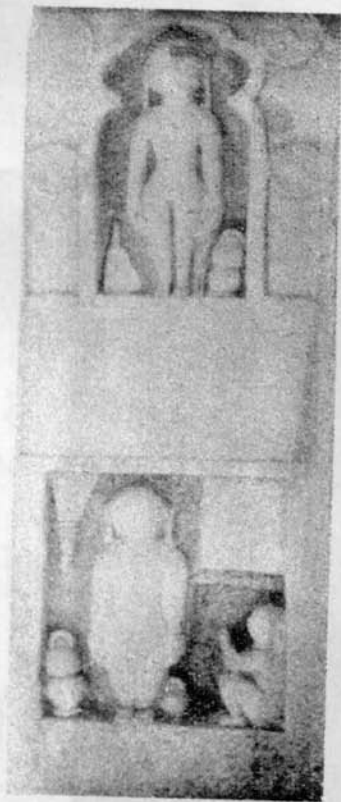
89. भारत चक्रवर्ती : जैन धर्मशाला



90. मुनिविहार, उपदेश एव प्रेमालिगित युग्म  
(मन्दिर संख्या 12 के सामने पड़े हुए ध्वंसावशेष)



91. लेटे हुए मुनि : कोई महिला जिसका संवाहन कर रही है  
(मन्दिर संख्या 18)



92. साधु और आर्यिका (मन्दिर संख्या 10)



93. तीर्थंकर की माता (मन्दिर संख्या 4)



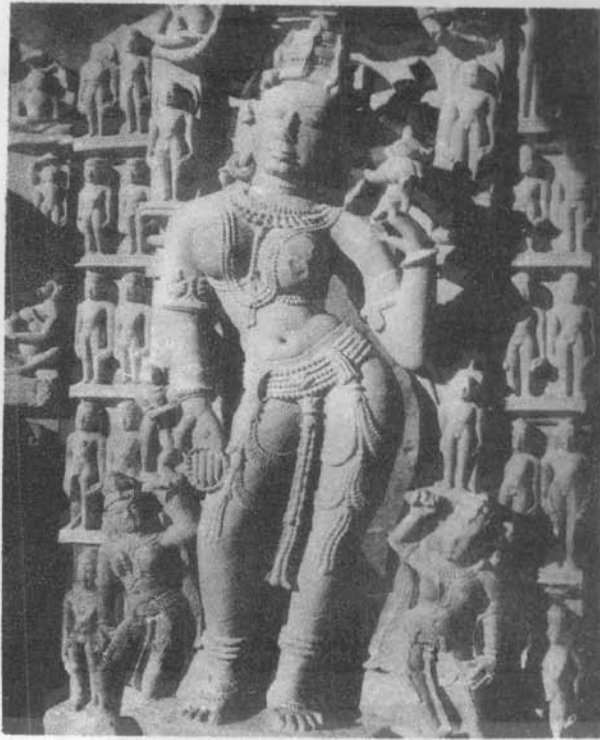
94. उदासीन श्रावक (मन्दिर संख्या 10)



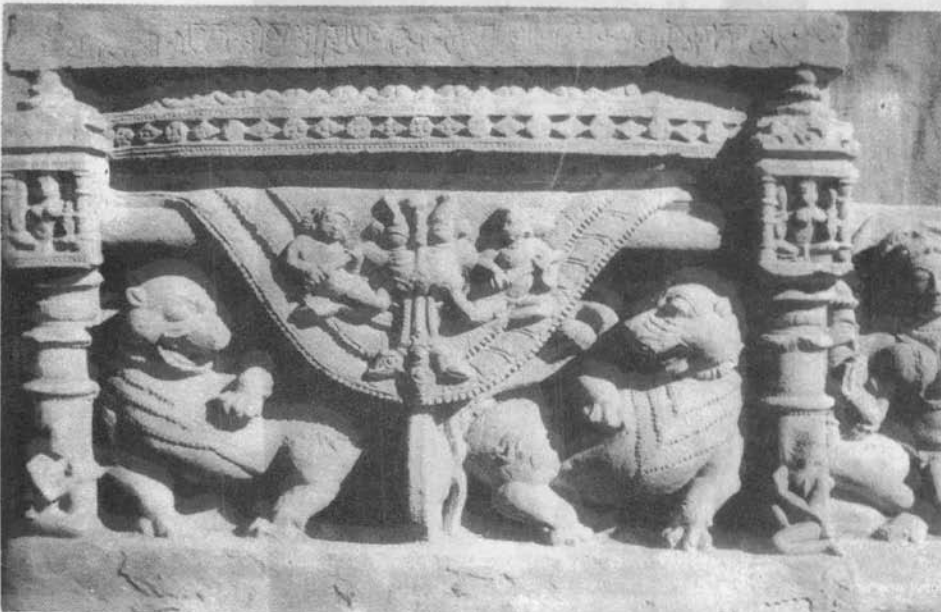
95. सरस्वती (मन्दिर संख्या 19)



96. सरस्वती-मन्दिर संख्या 19



97. मानसी देवी (मन्दिर संख्या 19)



98. गोमुखयक्ष (मन्दिर संख्या 12)



99. चक्रेश्वरी : विंशतिभुजी (जैन धर्मशाला)

(21 भुजा शक्ति) की 100 विंशतिभुजी

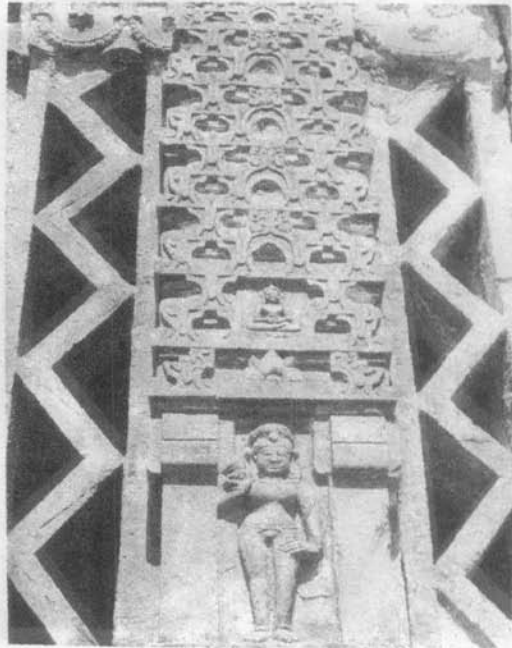


100. चक्रेश्वरी : विंशतिभुजी (जैन धर्मशाला)



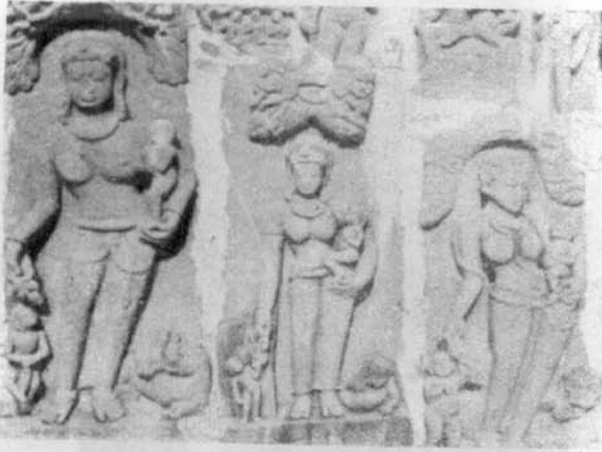


101. सुलोचना यक्षी (मन्दिर संख्या 12)



102. सुमालिनी यक्षी (मन्दिर संख्या 12)





103. अम्बिका : बड़ा पेट (जैन चहारदीवारी)

श्री गणेशाय नमः ॥ १०३ ॥



104. अम्बिका

श्री गणेशाय नमः ॥ १०४ ॥



105. अम्बिका : मन्दिर संख्या 12



106. पद्मावती : जैन धर्मशाला



107. धरणेन्द्र पञ्चावती (मन्दिर संख्या 24)

(मिथिलासंग्रहालय, मुम्बई)



108. धरणेन्द्र पञ्चावती (जैन चहारदीवारी)



109. संगीतमण्डली, नृत्यमण्डली, धरणेन्द्र पद्मावती  
एव अम्बिका (जैन चहारदीवारी)



110. धरणेन्द्र-पद्मावती



111. चक्रेश्वरी : दशभुजी (मानस्तम्भ क्रमांक 11)



112. देवी : द्वादशभुजी (मानस्तम्भ क्रमांक 11)



113. क्षेत्रपाल (मानस्तम्भ क्रमांक तीन)



114. स्नेही दम्पती (मन्दिर संख्या 4)

(11 क्रमांक मन्दिरेत) विस्तृततः विवेच्यते  
114. पत्नीयस्य



115. पिटा हुआ पुरुष और लजाती हुई नारी  
(मन्दिर संख्या चार)



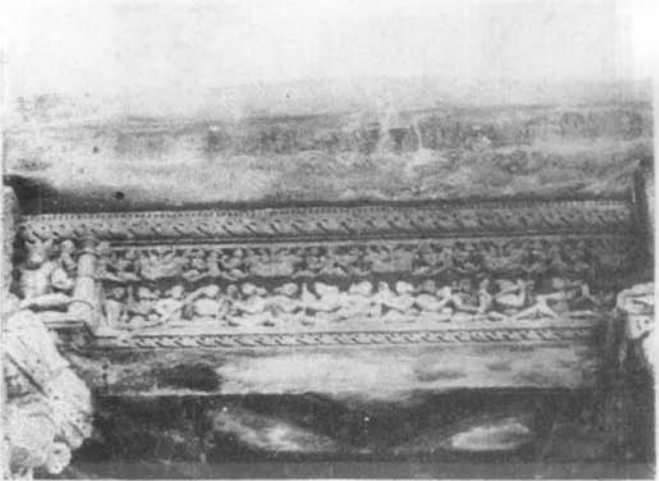
116. दर्पण के सहारे ललाटिका ठीक करती हुई सुन्दरी  
(मन्दिर संख्या 18)

(अक्षर संख्या 110)  
117. दर्पणधारणो शुचिस्मिता शिव मंदिर



117. दर्पणधारणो शुचिस्मिता : मन्दिर संख्या 11

(अक्षर संख्या 118)  
118. संगीत मण्डली और गोमुख यक्ष



118. संगीत मण्डली और गोमुख यक्ष : मन्दिर संख्या 12 का अर्धमण्डप





119. युग्म : स्नेहालिंगन (जैन धर्मशाला)



120. सम्भोगरत एवं स्नेहालिंगित युग्म (मन्दिर संख्या 11)



121. स्नेहालिंगन, दाढ़ी आदि (जैन चहारदीवारी)



122. वैभवसम्पन्न किन्तु विनम्र उपासक (जैन चहारदीवारी)

## डॉ. भागचन्द्र जैन 'भागेन्दु'

जन्म : 2 अप्रैल 1937, रीठी, जिला—जबलपुर, म.प्र.।

शिक्षा : सागर विश्वविद्यालय से एम.ए., पी-एच.डी.। साथ ही साहित्यशास्त्री, काव्यतीर्थ, साहित्यरत्न।

कार्यक्षेत्र : म.प्र. शासन के महाविद्यालयीन शिक्षा विभाग में संस्कृत तथा प्राकृत के प्रोफ़ेसर एवं विभागाध्यक्ष रहे। मध्यप्रदेश शासन संस्कृत अकादेमी, भोपाल के सचिव (1993-97) और राष्ट्रीय प्राकृत अध्ययन एवं अनुसन्धान संस्थान, श्रवणबेलगोल के निदेशक भी रहे हैं। अपने शैक्षणिक कार्यकाल में जैन विद्याओं पर शोधकार्यों का निर्देशन किया।

प्रकाशन : प्रमुख कृतियाँ हैं—'देवगढ़ की जैन कला', 'भारतीय संस्कृति में जैन तीर्थों का योगदान', 'जैन दर्शन का व्यावहारिक पक्ष : अनेकान्तवाद', 'अतीत के वातायन से...', 'संस्कृत का नाट्य साहित्य' आदि। प्राच्य वाङ्मय तथा जैन विद्याओं के अनेक मूर्धन्य विद्वानों के अभिनन्दन / स्मृतिग्रन्थों का संयोजन और सम्पादन।

अनेक पुरस्कारों व सम्मानों से अलंकृत।

सम्पर्क-सूत्र : सरोज सदन, सरस्वती कॉलोनी, दमोह (म.प्र.) - 470 661

**भारतीय ज्ञानपीठ**

स्थापना : सन् 1944

**उद्देश्य**

ज्ञान की विलुप्त, अनुपलब्ध और अप्रकाशित सामग्री का अनुसन्धान  
और प्रकाशन तथा लोकहितकारी मौलिक साहित्य का निर्माण

**संस्थापक**

**स्व. साहू शान्तिप्रसाद जैन**

**स्व. श्रीमती रमा जैन**

**अध्यक्ष**

**श्रीमती इन्दु जैन**

कार्यालय : 18, इन्स्टीट्यूशनल एरिया, लोदी रोड, नयी दिल्ली-110 003